कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 10 भाग : 8

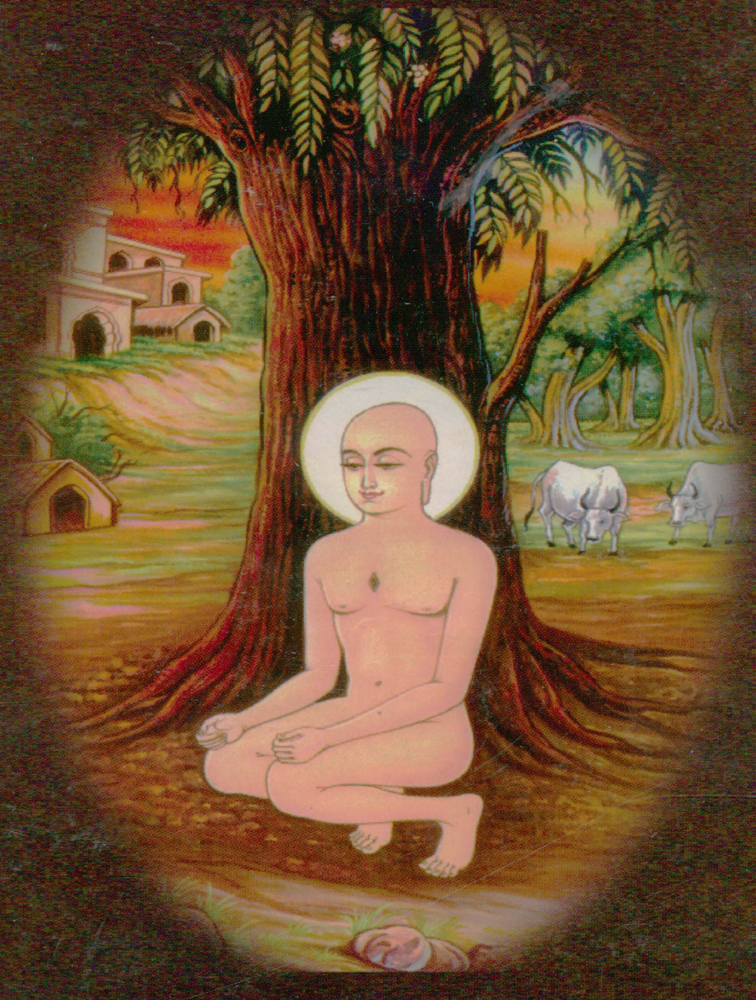

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्राकृत भारती पुष्प 343

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 10 भाग : 8

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
13-ए, गुरुनानक पथ,
मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com

अमृत लाल जैन
अध्यक्ष
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर-344025
स्टेशन - बालोतरा
जिला - बाड़मेर (राजस्थान)
E-mail : nakodatirth@yahoo.com

प्रथम संस्करण 2014

ISBN No. : 978-93-81571-47-7

मूल्य : 250/- रुपये

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रक :
दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर
फोन : 0141-2562929

Trishashtishalakapurushcharit
Sadhvi Dr. Surekha Shri/2014
Prakrit Bharati Academy, Jaipur
Shri Jain Sw. Nakoda Parshwanath Tirth, Mewanagar

प्रकाशकीय

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित ऐतिहासिक और पौराणिक ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित का 'दशम पर्व' (हिन्दी भाग-८); जिसमें तीर्थंकर भगवान महावीर, उनके पूर्व भवों में नयसार, मरीची, त्रिपृष्ठ का चरित्र जो पहले बलदेव व वासुदेव हैं का वर्णन किया गया है; प्राकृत भारती अकादमी की पुष्प संख्या ३४३ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ शलाका पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष। सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका-पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च ६३ पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी में ६३ महापुरुष हुए हैं, उनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन-चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे संस्कृत भाषा में १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त ६३ महापुरुषों के जीवनचरित संगृहीत हैं। प्रस्तुत पुस्तक में तीर्थंकर भगवान महावीर जिनसे जैन धर्म की पहचान व इतिहास में स्थान प्राप्त है ऐसे तीर्थंकर का चरित्र-चित्रण किया गया है।

भगवान वीर के विहार स्थल, उनके उपसर्ग, तपस्या, पारणे तथा ११ गणधरों व १० प्रमुख श्रावकों विशेष आनन्द श्रावक का वर्णन किया गया है। आर्य सुधर्मा से गणधर गौतम तक का मार्मिक चरित्र चित्रण किया गया है। भगवान महावीर के समय विभिन्न वादों व गच्छों को मानने वाले भी थे जिनमें आजीवक सम्प्रदाय के जनक गोशालक का विस्तृत वर्णन किया गया है।

भगवान महावीर के शासनकाल में साध्वी चंदना का चरित्र चित्रण उस समय की महिलाओं की स्थिति को स्पष्ट करता है। साथ ही महिलाओं के आदर व सम्मान को दर्शाता है। गणधर गौतम का अष्टापद आरोहण, श्रेणिक राजा का वर्णन तथा अंत में महावीर का निर्वाण तथा गौतम का केवलज्ञान का वर्णन किया गया है।

इन्हीं मानवीय मूल्यों से सुधी पाठकों में एक नये चिन्तन की वृद्धि होगी। प्रस्तुत पुस्तक के सरल, सटीक व प्रभावी हिन्दी भाषा में अनुवाद का कार्य साध्वी डॉ. सुरेखाश्री जी म.सा. द्वारा सम्पन्न किया गया है। आप द्वारा संयमकालीन जीवन में कई ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन कार्य किया गया है। आपने डी.लिट् की उपाधि राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से प्राप्त की है। आप जैसी विदुषी साध्वी द्वारा इस पुस्तक का अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ उसके लिए हम अत्यन्त आभारी हैं।

प्रकाशन से जुड़े सभी सहभागियों को धन्यवाद!

अमृत लाल जैन
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, बाड़मेर

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर

प्रस्तावना

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम पर्व में ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का जीवनचरित गुंफित है। द्वितीय पर्व में भी ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का सांगोपांग जीवनचरित है। इन दोनों पर्वों का हिन्दी अनुवाद दो भागों में प्राकृत भारती के पुष्प ६२ एवं ७७ के रूप में प्राकृत भारती द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

तृतीय भाग में पर्व ३ और ४ संयुक्त रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। तृतीय पर्व में ८ सर्ग हैं जिनमें क्रमशः भगवान् संभवनाथ से लेकर दसवें भगवान् शीतलनाथ के जीवनचरित हैं। चतुर्थ पर्व में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ से लेकर १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ तक, तीसरे-चौथे चक्रवर्ती, ५ वासुदेव, ५ बलदेव और ५ प्रतिवासुदेवों का विस्तृत जीवनचरित है। यह तीसरा भाग भी प्राकृत भारती की ओर से मार्च, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

चतुर्थ भाग में पर्व ५ और ६ संयुक्त रूप से प्रकाशित हो चुके हैं। पाँचवें पर्व में ५ सर्ग हैं जिनमें सोलहवें तीर्थंकर एवं पंचम चक्रवर्ती भगवान् शान्तिनाथ का विशद जीवन वर्णित है। छठे पर्व में ८ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में- सतरहवें तीर्थंकर एवं छठे चक्रवर्ती कुन्थुनाथ का, दूसरे सर्ग में- अठारहवें तीर्थंकर और सातवें चक्रतवीं प्रभु अरनाथ का, तीसरे सर्ग में- छठे बलदेव आनंद, वासुदेव पुरुषपुण्डरीक, प्रतिवासुदेव बलिराजा

का, चौथे सर्ग में आठवें चक्रवर्ती सुभूम का, पाँचवें सर्ग में-सातवें बलदेव नन्दन, वासुदेव दत्त, प्रतिवासुदेव प्रह्लाद का, छठे सर्ग में-उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का, सातवें सर्ग में-बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का और आठवें सर्ग में-नौवें चक्रवर्ती महापद्म के सविस्तार जीवन-चरित्र का अङ्कन हुआ है। यह चौथा भाग प्राकृत भारती के पुष्प ८४ के रूप में प्राकृत भारती की ओर से सितम्बर, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

पाँचवें भाग में पर्व सातवाँ प्रकाशित किया गया है जो जैन रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर्व में तेरह सर्ग हैं। प्रथम सर्ग से दसवें सर्ग तक जैन रामायण का कथानक विस्तार से गुंफित है। इन सर्गों में राक्षसवंश और वानरवंश की उत्पत्ति से लेकर आठवें बलदेव मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, वासुदेव लक्ष्मण, प्रतिवासुदेव रावण, महासती सीता, चरम शरीरी महाबली हनुमान, सती अंजना सुन्दरी, आदि के जीवन का विस्तार के साथ सरस चित्रण है। ग्यारहवें सर्ग में- इक्कीसवें तीर्थंकर विभु नमिनाथ, बारहवें सर्ग में- दसवें चक्रवर्ती हरिषेण का और तेरहवें सर्ग में- ग्यारहवें चक्रवर्ती जय का वर्णन है।

छठे भाग में पर्व आठवाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस पर्व में १२ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में नेमिनाथ के पूर्वभव का वर्णन द्वितीय सर्ग में मथुरा यदुवंश वसुदेव का चरित्र, तृतीय सर्ग में कनकवती का विवाह एवं नलदमयंती का चरित्र, चतुर्थ सर्ग में विद्याधर व वसुदेव वर्णन, पंचम सर्ग में बलराम, कृष्ण तथा अरिष्टनेमि के जन्म, कंस का वध और द्वारका नगरी की स्थापना, षष्ठम सर्ग में रुक्मिणी आदि स्त्रियों के विवाह, पाण्डव द्रोपदी का स्वयंवर और प्रद्युम्न चरित्र, सप्तम सर्ग में शांब और प्रद्युम्न के विवाह एवं जरासंध का वध, अष्टम सर्ग में सागरचन्द्र का उपाख्यान, उषाहरण और बाणासुर का वध, नवम सर्ग अरिष्टनेमि का कौमार क्रीड़ा-दीक्षा-केवलोत्तपत्ति वर्णन, दशम सर्ग में

द्रोपदी का प्रत्याहरण और गजसुकुमाल आदि का चरित्र, ग्यारहवें सर्ग में द्वारका दहन और कृष्ण का अवसान, बारहवें सर्ग में बलदेव का स्वर्गगमन और श्री नेमिनाथजी का निर्वाण आदि का वर्णन है। इस प्रकार भाग-६, पर्व-८ में एक तीर्थंकर, १ वासुदेव तथा तीन प्रतिवासुदेव, कृष्ण, बलभद्र तथा जरासंध आदि महापुरुषों के चरित्रों का कथाओं के माध्यम से समावेश हुआ है।

पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन-महापुरुष-चरियं' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवन गाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सरस्वती पुत्र, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द-शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार-प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राजऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने इस चरित-काव्य को साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ प्रशस्ति में लिखते हैं-

'चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा- 'हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त-कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से पंचांगीपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल 'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए द्व्याश्रय काव्य, छन्दोऽनुशासन, काव्यानुशासन और नाम-संग्रहकोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका-पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत्

१२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बन्धी पुराण कथाओं में इधर-उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा- शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, धनवान-विद्वान्, अहंकार रहित गुणवान, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।

प्रस्तुत आठवें भाग में पर्व दसवाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस पर्व में भगवान महावीर स्वामी और उनके समय के विविध राजाओं, मंत्रियों, श्रेष्ठियों, सामान्यजनों के विशिष्ट वृत्तान्त तथा प्रसंगों का वर्णन जैन इतिहास ग्रन्थ की तरह किया गया है। अभय कुमार की कथा, धन्ना शालिभद्र तथा बहिन सुभद्रा की कथा, श्रेणिक राजा, चन्दना आदि की कथाओं में नैतिकता आध्यात्मिकता के साथ-साथ उस समय की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक स्थिति भी दृष्टिगत होती है।

राजा कुमारपाल के आग्रह पर हेमचन्द्राचार्य ने जैन साहित्य में इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना ३९००० श्लोक में की लेकिन काल पर्यन्त आज ३१२८२ श्लोक ही शेष प्रस्थापित हुए। इस ग्रन्थ के अनेक ताड़पत्र अलग-अलग ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध है लेकिन सर्वप्रथम इसे संग्रहित व एकत्रित रूप में श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से वि.सं. १९९५ में प्रकाशित किया गया इसके पश्चात् इसका सम्पादन श्री चरणविजयजी ने किया किन्तु कार्य पूर्ण होने से पूर्व ही उनका कालधर्म (देवलोक) हो गया फिर मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस कार्य को पूर्ण किया।

जयपुर चातुर्मास के दौरान प्राकृत भारती अकादमी से प्रकाशित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम भाग पर साध्वीश्रीजी ने प्रश्नोत्तरी निकाली

थी। उसी समय उन्होंने आगे के भागों का स्वाध्याय भी किया और पूछा कि संस्था से आगे के भाग कब तक प्रकाशित होंगे किन्तु हमारी ओर से असमर्थता जाहिर की गई। श्री गणेश ललवानी सा., जिन्होंने अपने अथक प्रयासों से यहाँ तक का अनुवाद किया वे अब इस दुनिया में नहीं रहे। तत्पश्चात् आदरणीय श्री डी.आर.मेहता सा. ने सीकर के एक संस्कृत विद्वान् पं. मांगीलालजी मिश्र को इस ग्रन्थ की मूल संस्कृत प्रति दी किन्तु एक-दो वर्ष वे अन्य कार्यों में व्यस्त रहे तत्पश्चात् उनका भी निधन हो गया। इसलिए मैंने साध्वीजी से अनुरोध किया कि आप आठवें, नवें व दसवें पर्व का अनुवाद कार्य कर देवें ताकि यह ग्रंथ जन-मानस तक स्वाध्याय हेतु पहुँच सके। आपश्री ने इस अनुरोध को स्वीकारते हुए इस कार्य को सम्पन्न किया। एकाग्रता व शांतचित्त से किये गये इस अनुवाद के लिए प्राकृत भारती अकादमी एवं श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर आपके हृदय से आभारी हैं।

— डॉ० रीना जैन

ॐ नेमिनाथाय नमः

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

(दशम पर्व)

श्री महावीर स्वामिने नमः

प्रथम सर्ग

श्री महावीर स्वामी के पूर्व भव का विवरण

दुःख पूर्वक वरण किये जाने वाले ऐसे रागादि शत्रुओं को निवारण करने में वीर, पूजनीय और योगीनाथ श्री महावीर स्वामी को मेरा नमस्कार हो। सुर–असुरों से पूजित और पुण्यजल के सरोवर रूप इन देवाधिदेव प्रभु के चरित्र का अब वर्णन करूंगा।

(गा. 1 से 2)

इस जंबूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के आभूषणरूप महावप्र नाम के विजय में जयंती नाम की नगरी थी। उस नगरी में भुजा के वीर्य से मानो नवीन वासुदेव उत्पन्न हुआ हो, ऐसा महासमृद्धिवान् शत्रुमर्दन नामक राजा था। उसके पृथ्वी प्रतिष्ठान नाम के गाँव में नयसार नाम का एक स्वामिभक्त ग्रामीण था। यद्यपि वह साधुजनों की सत्संगति से दूर था, तथापि स्वभाव से ही अपकृत्य पराङ्‌मुख, दूसरों के दोषान्वेषण में विमुख और गुण ग्रहण करने में तत्पर था। एक बार वह नयसार राजा की आज्ञा से श्रेष्ठ काष्ठ (लकड़ी) लेने हेतु पाथेय लेकर अनेकों गाड़िया जुता कर एक महाअटवी में गया। वहाँ लकड़ियाँ काटते–काटते मध्याह्न का समय हो गया। जिस प्रकार सूर्य आकाश में अधिक प्रकाशित हो जाता है, उसी भांति उसके उदर में जठराग्नि प्रदीप्त हो गई, अर्थात् उसे भूख लगने लगी। उसके सेवक भोजन का समय जानकर मंडपाकार वृक्ष के नीचे उसके लिए उत्तम रसवती (भोजन) लाए। क्षुधा और तृषा से आतुर होने पर भी कोई अतिथि को भोजन कराकर खाना खाऊँ, ऐसा सोचकर नयसार अतिथि की में तलाश इधर उधर देखने लगा।

(गा. 3 से 10)

इतने में क्षुधातुर, तृषातुर, श्रांत, अपने सार्थ को शोधने में तत्पर, पसीने से सर्वांग लथपथ ऐसे अनेक मुनियों को उसी तरफ आते हुए देखा। 'ये साधुजन मेरा आतिथ्य करेगें, यह बहुत बढ़िया हुआ, ऐसा चिन्तन करते हुए नयसार ने उनको नमस्कार करके पूछा, कि 'हे भगवन्त! इस विशाल अटवी में आप कैसे आ पहुँचे? क्योंकि शस्त्रधारी भी एकाकी इस भयानक अटवी में नहीं घूम सकता। तब उन्होंने कहा–'हम पहले हमारे स्थान से एक सार्थ के साथ चले थे। परंतु मार्ग में किसी गाँव में भिक्षा लेने के लिए गये। इतने में वह सार्थ आगे चला गया और हमको भिक्षा भी कहीं नहीं मिली, हम उसी मार्ग में सार्थ के पीछे पीछे चलने लगे, किन्तु वह सार्थ तो हमें कहीं नहीं मिला, वरन् इस महाअटवी में हम आ चढ़े। नयसार कहने लगा– अहो! वह सार्थ कैसा निदर्य! पाप से अभीरु! कैसा – विश्वासघाती! कि उसकी आशा से साथ चले साधुजनों को साथ लिए बिना अपने स्वार्थ में ही निष्ठुर बनकर आगे चल दिया। ऐसा कहकर नयसार उन महामुनियों को जहाँ अपना भोजन स्थान था, वहाँ ले आया। अपने लिए लाये हुए उस आहार पानी से उसने उन मुनियों को प्रतिलाभित किया। वहाँ से अन्यत्र जाकर विधिपूर्वक उन साधुओं ने आहार किया। इधर नयसार भी भोजन से निवृत्त होकर उन मुनियों के पास आया। उसने प्रणाम करके विनयपूर्वक कहा, हे भगवंत! चलो अब मैं आपको नगर में जाने का मार्ग बताऊँ। मुनि नयसार के साथ चलकर नगर के मार्ग पर आए। एक वृक्ष के नीचे बैठाकर उन्होंने नयसार को धर्म–शिक्षा दी। धर्म श्रवण कर आपनी – आत्मा को धन्य मानते हुए नयसार ने उसी समय समकित प्राप्त किया। पश्चात् उनको वंदन कर वह वापि; लौटा। सारी लकड़ियाँ राजा को भेजकर स्वयं अपने गाँव में लौट आया।

(गा. 11 से 22)

विपुल मनस्वी नयसार सदैव धर्म का अभ्यास करता हुआ, सात तत्त्वों का चिन्तन करता हुआ और समकित का परिपालन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। इस प्रकार धर्म–आराधना करता हुआ नयसार अंत समय में पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करके मृत्यूपरान्त सौधर्म देवलोक में एक पल्योपम की आयुष्य वाला देव हुआ।

(गा. 23 से 24)

इसी भरतक्षेत्र में विनीता नामकी श्रेष्ठ नगरी थी। जिस नगरी को युगादि प्रभु के लिए देवताओं ने पहले बसाई थी। उसी में श्री ऋषभस्वामी के पुत्र भरत, नव निधि और चौदह रत्नों के अधिपति चक्रवर्ती हुए थे। उन्हींके गृहांगण में इस ग्रामचिंतक नयसार का जीव पुत्ररूप से अवतरित हुआ। उसके आसपास मरीचि(किरणों) का प्रकाश पुंज फैल रहा था, अतः उस पुत्र का नाम मरीचि रखा। एक बार श्री ऋषभदेव प्रभु के प्रथम समवसरण में पिता और भ्राता के साथ वह मरीचि भी गया। वहाँ देवताओं को प्रभु की महिमा करते देखकर और धर्म श्रवण कर समकित प्राप्त होने से तत्काल ही उसने चारित्र अंगीकार कर लिया। उत्तम रीति से यतिधर्म को जानकर, अपने शरीर से भी निस्पृह त्रिगुप्ति और पांच समिति को धारण कर और कषाय को वर्जित करते हुए महाव्रती मरीचि मुनि स्थविर साधुओं के समीप एकादश अंगों का अध्ययन करते हुए श्री ऋषभप्रभु के साथ विचरण करने लगे।

(गा. 25 से 31)

इस प्रकार बहुत काल पर्यन्त विहार करते हुए एक बार ग्रीष्मऋतु आई। उस समय अति दारुण सूर्य किरणों से तप्त पृथ्वी की रज राहगीरों के चरण-नखों को जलाने लगी। ऐसे समय में जिसके सर्व अंग स्वेद से आर्द्र हो गए और पहने हुए दोनों वस्त्र मल से लिप्त हो गये, ऐसे वे मरीचिमुनि तृषा से पीड़ित होने पर चारित्रावरणीय कर्म के उदय होने पर इस प्रकार विचार करने लगे 'मेरुपर्वत के भार को जिस प्रकार कोई वहन नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस श्रमण धर्म के गुणों को वहन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ। मैं तो निर्गुणी और भवाकांक्षी हूँ, परन्तु अब व्रतों का त्याग भी कैसे करूँ? क्योंकि व्रतत्यागी होने पर लोक में लज्जित होना पड़ेगा। परंतु ऐसा एक उपाय करूं, जिससे व्रत भी कुछ रहे और ऐसा श्रम भी नहीं करना पड़े। ये श्रमण भगवन्त त्रिदंड से विरक्त हैं और मैं तो उन दंड से जीता हुआ हूँ, इसलिए मैं त्रिदंड का ही लंछन धरुं। ये साधु महाराज केशों के लोच से मुंडित हैं और मैं शस्त्र द्वारा मुंडन करवा कर शिखाधारी बनूं। ये मुनि महाव्रतधारी हैं, तो मैं अणुव्रत धारण कर लूँ। ये मुनि निष्किंचन है तो मैं मुद्रिकादिक परिग्रहधारी हो जाऊँ। ये महर्षि उपानह रहित विचरण करते हैं, परन्तु मैं तो चरणों की रक्षा के लिए पादुका रखूंगा। ये मुनिवृंद शील रूपी सुंगध से सुवासित हैं, परंतु शीलसुगंध से रहित मैं श्रीखंड चंदन का तिलक करूंगा। ये महर्षि कषाय रहित होने से शुक्ल और जीर्णवस्त्रधारी

हैं, तो कषायवाला मैं तो कषायिक (रंगे हुए) वस्त्र रखूंगा। इन श्रमणों ने तो असंख्य जीवों की विराधना से युक्त सचित्त जल के आरंभ का त्याग किया है, परन्तु मैं तो परिमित जल से स्नान–पान करूंगा। इस प्रकार स्वबुद्धि से विचार करके क्लेश कातर ऐसे मरीचि ने लिंग का निर्वाह करने हेतु त्रिदंडी संन्यास ग्रहण कर लिया।

(गा. 32 से 43)

मरीचि का ऐसा नवीन विचित्र वेश देखकर सभी लोग उससे धर्म पूछते तो वह जिनेश्वर देव प्ररूपित साधुधर्म का ही कथन करता। जब लोग पुनः उससे पूछते कि ''तुम उस साधुधर्म का आचरण क्यों नहीं करते? तो वह कहता कि–''मेरु पर्वत के भार जैसे साधुधर्म को वहन करने में मैं असमर्थ हूँ। अपने धर्म के व्याख्यान से प्रतिबोध पाकर जो भी भव्यजन साधुजीवन अंगीकार करना चाहते उनको मरीचि श्री नाभिसुनु ऋषमदेव प्रभु के पास भेज देता। ऐसे आचारवाला वह मरीचि प्रभु के साथ ही विहार करने लगा।

(गा. 44 से 47)

एक वक्त प्रभु पुनः विनीता नगरी के समीप आकर समवसरे। भरत चक्री ने प्रभु को वंदन करके भावी अरिहंतादि के संबंध में पृच्छा की। अतः प्रभु ने भविष्य में होने वाले अर्हन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का कथन किया। पश्चात् भरत ने पुनः पूछा कि 'हे नाथ! इस सभा में आपकी भांति इस भरतक्षेत्र में इसी चौबीसी में होने वाले तीर्थंकर का कोई भव्य जीव है? उस समय प्रभु मरीचि को इंगित करने हुए बोले कि – ''यह तुम्हारा पुत्र मरीचि इस भरतक्षेत्र में वीर नामका अंतिम तीर्थंकर होगा।'' साथ ही पोतनपुर में त्रिपृष्ठ नाम से प्रथम वासुदेव और महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत मूकापुरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा।'' यह सुनकर प्रभु की आज्ञा लेकर भरत मरीचि के पास आए और तीन प्रदक्षिणा देकर उसे वंदन करके कहने लगे कि–श्री ऋषभदेव प्रभु के कथनानुसार आप इस भरतक्षेत्र में चरम तीर्थंकर होंगे। पोतनपुर में त्रिपृष्ठ नाम के पहले वासुदेव होंगे और महाविदेहक्षेत्र की मूकापुरी में प्रियमित्र नाम के चक्रवर्ती होंगे। आप परिव्राजक हो, इसलिए मैं आपको वंदन नहीं कर रहा, परंतु भावी तीर्थंकर हो, अतः मैं आपको वंदन करता हूँ। इस प्रकार कहकर विनयवान् भरत चक्रवर्ती प्रभु को पुनः वंदन करके हर्षित होकर विनीता नगरी में आ गये।

(गा. 48 से 55)

मरीचि भरत चक्रवर्ती कथित हकीकत सुनकर हर्ष से त्रिपदी (तीन बार पैरों को) बजाकर नाचने लगा और ऊँचे स्वर में कहने लगा कि ''पोतनपुर में मैं पहला वासुदेव होऊँगा, मूकापुरी में चक्रवर्ती बनूंगा और तत्पश्चात् चरम तीर्थंकर होऊंगा। अब मुझे दूसरे किसी अन्य की क्या आवश्यकता है? मैं वासुदेवों में पहला, मेरे पिता चक्रवर्तियों में पहले, और मेरे पितामह तीर्थंकरों में प्रथम। अहो! मेरा कुल कैसा उत्तम है? इस प्रकार बार–बार भुजास्फोट करके जातिमद करते हुए मरीचि ने नीच गौत्र कर्म उपार्जन किया।

(गा. 56 से 59)

श्री ऋषभदेव प्रभु के निर्वाण के पश्चात् भी साधुओं के साथ विहार करता हुआ मरीचि भव्य जनों को प्रतिबोध देकर साधुजनों के पास भेज देता। एक वक्त मरीचि व्याधिग्रस्त हुआ, उस समय 'यह संयमी नहीं है' ऐसा सोचकर साधुओं ने उसकी आश्वासना करी नहीं। उससे ग्लानि पाकर मरीचि ने मन में सोचा कि, 'अहो! ये साधुलोग दाक्षिण्यता बिना के, निर्दय, स्वार्थ में ही उद्यमवंत एवं, लोकव्यवहार से विमुख हैं। धिक्कार है इनको। मैं उनका परिचित हूं, स्नेहाभिभूत और एक ही गुरु से दीक्षित, साथ ही विनीत हूँ। उसका पालन करना तो दूर रहा परंतु मेरे सामने देखते भी नहीं हैं। किन्तु फिर भी मुझे ऐसा खराब नहीं सोचना चाहिए। कारण कि ये साधु लोग तो अपने शरीर की भी परिचर्या करते नहीं हैं, तो मुझ जैसे भ्रष्ट की परिचर्या क्यों करेंगे? इसलिए अब जब मैं इस व्याधि से मुक्त हो जाऊंगा, तब कोई मेरी सेवा करे ऐसा एक शिष्य बनाऊँगा, जो इस प्रकार का ही लिंग (वेश) धारण करे।'' इस प्रकार सोचता हुआ वह मरीचि दैवयोग से स्वस्थ हुआ। एक बार उसे कपिल नामक कोई कुलपुत्र मिला। वह धर्म का अर्थी था। अतः उसने उसे अर्हत धर्म कह सुनाया। उस समय कपिल ने उससे पूछा कि 'तुम स्वयं इस धर्म का आचरण क्यों नहीं करते? मरीचि ने जवाब दिया कि 'मैं उस धर्म को पालने में समर्थ नहीं हूँ।' तब कपिल ने कहा– ''क्या तुम्हारे मार्ग में धर्म नहीं है? ''उसके ऐसे प्रश्न से उसे जिनधर्म में आलसी जानकर, शिष्य की इच्छा वाला मरीचि बोला– कि, ''जैनमार्ग में भी धर्म है, और मेरे मार्ग में भी धर्म हैं।'' तत्पश्चात् कपिल उनका शिष्य बन गया। उस समय मिथ्याधर्म के उपदेश से मरिचि ने कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण संसार का उपार्जन किया। उस पाप की किसी भी प्रकार की आलोचना किए बिना अंत में अनशन ग्रहण कर मृत्यु प्राप्त कर, मरीचि ब्रह्म

देवलोक में दस सागरोपम आयुष्य वाला देवता हुआ। कपिल भी आसूर्य आदि अपने शिष्य बनाकर उनको अपने आचार का उपदेश देकर मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मदेवलोक में देव हुआ। वहाँ अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव ज्ञात कर वह पृथ्वी पर आया तथा उसने आसूर्य आदि को अपना सांख्यमत बताया। उसके आम्नाय से इस पृथ्वी पर सांख्य दर्शन का प्रवर्तन हुआ, क्योंकि लोग प्रायः सुखसाध्य अनुष्ठान में ही प्रवर्तते हैं।

(गा. 60 से 74)

मरीचि का जीव ब्रह्मदेवलोक से च्यवित हो, कोल्लाक नामक गाँव में अस्सी लाख पूर्व का आयुष्यवाला कौशिक नामक ब्राह्मण हुआ। विषयों में आसक्त, द्रव्य उपार्जन करने में तत्पर और हिंसादि कार्य में निर्दय, उस ब्राह्मण ने बहुत सा समय व्यर्थ किया। अंत में त्रिदंडी होकर मृत्यु वरण कर बहुत से भवों में भ्रमण कर स्थुणा नामक स्थल पर पुष्पमित्र नामक ब्राह्मण हुआ। वहाँ भी त्रिदंडी होकर बहत्तर लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म देवलोक में मध्यम स्थितिवाला–देवता हुआ। वहाँ से भी च्यवन कर चैत्यनामक स्थान में वह चौसठ लाख पूर्व की आयुष्य वाला अग्न्युद्योत नामक ब्राह्मण हुआ। उस भव में भी त्रिदंडी हुआ। बाद में मृत्यूपरान्त ईशान देवलोक में मध्यम आयुष्य वाला देव हुआ। वहाँ से च्यवन होने पर मंदिर नामके सन्निवेश में अग्निभूति नामका ब्राह्मण हुआ। उस भव में भी त्रिदंडी–होकर छप्पन लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर मृत्यु प्राप्त कर सनत्कुमार देवलोक में मध्यमायु वाला देवता हुआ। वहाँ से च्यवकर श्वेतांबी नगरी में भारद्वाज नामक विप्र हुआ। उस भव में भी त्रिदंडी हुआ और चंव्वालीस (४४) लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर माहेन्द्र कल्प में मध्यम स्थिति का देव बना। वहाँ से च्यवित हो भ्रवभ्रमण करके राजगृही नगरी में स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ। उस भव में भी त्रिदंडी होकर चौंतीस लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मदेवलोक में मध्यम आयुष्य वाला देव हुआ। वहाँ च्यवकर उसने अनेक भवों में भ्रमण किया, कारण कि अपने कर्म के परिणाम से प्राणी अनंतभव में भ्रमण करने वाला होता है।

(गा. 75 से 85)

राजगृही नगरी में विश्वनंदी राजा था। उसके प्रियंगु नाम की पत्नि थी। उसके विशाखनंदी नाम का पुत्र हुआ। उस राजा के विशाखभूति नाम का छोटा

भाई युवराज था। उस युवराज के धारिणी नाम की स्त्री थी। मरीचि का जीव पूर्व जन्म में उपार्जित शुभकर्म से विशाखभूति युवराज की धारिणी पत्नि से विश्वभूति नाम का पुत्र अवतरित हुआ। उस विश्वभूति ने अनुक्रम से यौवन वय प्राप्त की। एक वक्त नंदन वन में देवकुमार के समान वह विश्वभूति अंतःपुर सहित पुष्पकरंडक नामक उद्यान में क्रीड़ा करने गया। वहाँ वह क्रीड़ा कर ही रहा था कि उस समय राजा का पुत्र विशाखनंदी–क्रीड़ा करने की इच्छा से वहाँ आया। परंतु विश्वभूति अंदर होने से वह बाहर ही रहा। उस समय पुष्प लेने हेतु उसकी माता की दासियाँ वहाँ आई। उसने उस विश्वभूति को अंदर और विशाखनंदी बाहर रहा हुआ देखा। दासियों से समाचार सुनकर प्रियंगु रानी कुपित हो कोपभवन में जा बैठी। राजा ने रानी का इच्छा पूर्ण करने के लिए यात्रार्थ जाने हेतु भेरी बजवाई। और कपटपूर्वक सभा में बोले कि, ''अपना पुरुषसिंह नामका सामंत उद्धत हो गया है। इसलिए उस पर विजय प्राप्त करने लिए मैं जाऊंगा। यह हकीकत जानकर सरल स्वाभावी विश्वभूति वन में से राज्यसभा में आया और भक्तिपूर्वक राजा के स्थान पर स्वयं ने लश्कर के साथ प्रयाण किया। वह पुरुषसिंह सामंत के पास गया, परंतु वहाँ उसे आज्ञावंत देख लौट आया। मार्ग में पुष्पकरंडक वन के पास आया, तब द्वारपाल ने उसे अंदर जाने से रोका और कहा कि, ''अंदर विशाखनंदी कुमार हैं'' यह सुन विश्वभूमि सोचने लगा ''मुझे कपट से पुष्पकरंडक वन में से निकाल दिया। अतः क्रोधित होकर उसने कठुम्बर के वृक्ष पर मुष्टि से प्रकार किया। जिससे उस वृक्ष के सारे फल गिरने से पृथ्वी आच्छादित हो गई। विश्वभूति द्वारपाल को यह पराक्रम बताते हुए बोला कि ''यदि पिताश्री पर मेरी भक्ति नहीं होती तो मैं इन कठुम्बर के फलों की भांति तुम सभी के मस्तक भी भूमि पर गिरा देता। परंतु उन पर भक्ति होने से मैं ऐसा नहीं कर सकूंगा। परंतु इस वंचना युक्त भोगों की अब मुझे आवश्यकता भी नहीं हैं।'' ऐसा बोलता हुआ उस विश्वभूति ने संभूति मुनि के पास जाकर चारित्र ग्रहण कर लिया। उसे दीक्षित हुआ जान विश्वनंदी राजा अनुजबंधु सहित वहाँ आये और उसको नमस्कार करके, क्षमा करने एवं राज्य लेने के लिए प्रार्थना करने लगे। परंतु विश्वभूति को राज्येच्छा रहित जान राजा स्वस्थान लौट गये, तथा विश्वभूति मुनि ने गुरु के साथ अन्यत्र विहार कर दिया।

(गा. 86 से 100)

तपस्या से कृश हुए एवं गुर्वाज्ञा से एकाकी विचरण करते हुए अन्यदा विश्वभूति मुनि मथुरा पुरी में आए। उस समय वहाँ के राजा की राजपुत्री से विवाह करने हेतु विशाखनंदी राजपुत्र भी मथुरा में आया था। विश्वभूति मुनि मासक्षमण के पारणे हेतु नगरी में आए। जहाँ विशाखनंदी की छावनी थी, उसके समीप आने पर उसके व्यक्तियों ने उनको पहचान कर ''ये विश्वभूति कुमार जा रहे हैं' ऐसा—कहकर विशाखनंदी को भी बताया। शत्रु की भांति उसे देखते ही विशाखनंदी क्रोधित हो गया। इतने में विश्वभूति मुनि किसी गाय की टक्कर से पृथ्वी पर गिर पड़े। यह दृश्य देख ''कठुम्बर (कपित्थ) के फल गिराने वाला तेरा बल अब कहाँ गया? यह व्यंगकस कर विशाखनंदी हंसा। उसके वचनों को सुनकर विश्वभूति ने क्रोधित होकर उस गाय को सींगों से पकड़ कर आकाश में घुमाई। पश्चात् ऐसा नियाणा किया कि ''इस उग्र तपस्या के प्रभाव से भवांतर में अतिपराक्रमी होकर इस विशाखनंदी को मारने वाला होऊं? पश्चात् एक कोटि वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर पूर्वबद्ध नियाणा जन्य पाप की आलोचना किये बिना मृत्यु के पश्चात् वह विश्वभूति महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट आयुष्य वाला देव हुआ।

(गा. 101 से 107)

इसी भरतक्षेत्र में पोतनपुर नामक नगर में रिपुप्रतिशत्रु नामक एक पराक्रमी राजा था। उनकी भद्रा स्त्री से चार स्वप्नों से सूचित अचल नामका एक बलभद्र पुत्र और मृगलोचना मृगावती नाम की पुत्री हुई। एक बार यौवनवती और रूपवती बाला जब पिता को प्रणाम करने गई, तब पिता ने उसे उत्संग में बिठाया। उसके रूप पर आसक्त हो उसके साथ स्वयं ने पाणिग्रहण करने का उपाय विचार कर उसको विदा किया।

(गा. 108 से 111)

रिपुप्रति शत्रु राजा ने नगर के वृद्ध पुरूषों को बुलाकर पूछा कि ''अपने स्थान में जो भी रत्न उत्पन्न हो, वे किसके कहें जाय?'' उसका निर्णय करिए। उन्होंने कहा कि, वे रत्न आपके ही कहे जाये।'' इस प्रकार तीन बार उनसे कहलवाकर राजा ने मृगावती से विवाह के लिए उसको राज्यसभा में बुलवाया। यह देखकर नगर के लोग लज्जित हुए। राजा गान्धर्वविधि से मृगावती पुत्री को स्वयमेव ही परणा। यह देख लज्जा और क्रोध से आकुल हुई उसकी माता

भद्रादेवी राजा को छोड़कर पुत्र अचल कुमार को साथ में लेकर नगर से बाहर निकलकर दक्षिण दिशा की ओर चल पड़ी। अचलकुमार ने वहाँ माहेश्वरी नामक नई नगरी बसाई। उसमें अपनी माता को रखकर पिता के पास आया। उसका पिता (रिपुप्रतिशत्रु) स्वयं की ही पुत्री का पति हो गया अतः सब लोग उसे 'प्रजापति' के नाम से बुलाने लगे। 'कर्म की गति बलवान है।'

(गा. 112 से 117)

इधर विश्वभूति का जीव महाशुक्र देवलोक से च्यवकर सातस्वप्नों से जिनका वासुदेव होना सूचित है, ऐसा वह मृगावती के उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। समय पर मृगावती ने प्रथम वासुदेव को जन्म दिया। उसके पृष्ठभाग में तीन पसलियाँ थी, इसलिए उसका त्रिपृष्ठ अभिधान रखा। अस्सी धनुष्य की काया वाला वह अचल के साथ खेलने लगा। पीछे सर्व कलाओं का अध्ययन करके अनुक्रम से यौवन वय को प्राप्त किया।

(गा. 118 से 120)

इधर विशाखनंदी का जीव अनेक भवों में भ्रमण करके तुंगगिरि में केशरीसिंह हुआ। वह शंखपुर के प्रदेश में उपद्रव करने लगा। उस समय अश्वग्रीव नामक प्रतिवासुदेव ने एक नैमित्तिक को पूछा कि 'मेरी मृत्यु किससे होगी?' तब नैमित्तिक ने कहा कि 'जो तेरे चंडवेग नाम के दूत पर घर्षण करेगा और तुंगगिरि पर रहे केशरीसिंह को एक लीलामात्र में मार देगा, वही तुझे मारने वाला होगा। तत्पश्चात् अश्वग्रीव राजा ने शंखपुर में शाली के क्षेत्र उगवाये और उसकी रक्षा के लिए अपने अधीनस्थ राजओं को बारी–बारी से रहने की आज्ञा की। एक बार प्रतिवासुदेव को सुनने में आया कि "प्रजापति राजा के दो पराक्रमी पुत्र हैं।" इससे अपने किसी स्वार्थ के लिए उनके पास अपने चंडवेग दूत को भेजा। राजा प्रजापति अपनी सभा में संगीत करवा रहा था। वहाँ अपने स्वामी के बल से उन्मत्त हुआ चंडवेग दूत अकस्मात् ही वहाँ आ पहुँचा। जिस प्रकार आगमों का अध्ययन करते समय अकाल में बिजली हो जावे तो विघ्न रूप होती है, उसी प्रकार वह संगीत में विघ्न रूप हुआ और तत्काल ही राजा खड़े हो गए। दोनों कुमारों ने मंत्रियों को पूछा कि 'यह कौन है? अतः मंत्री बोले 'यह दूत महापराक्रमी अश्वग्रीव राजा का प्रधान है।' तब अचल और त्रिपृष्ट कुमारों ने अपने पुरुषों की आदेश दिया कि "जब यह दूत

यहाँ से विदा हो तब हमें इसकी जानकारी देना।'' प्रजापति राजा ने कितनेक दिन तक दूत को वहाँ रोककर सत्कार करके विदा किया। जब वह वहाँ से चला तो दोनों कुमार आधे रास्ते में आड़े आ गए और अपने व्यक्तियों द्वारा उसकी अच्छी तरह पिटाई कराई। उस समय जो उसके सहायक सुभट साथ में थे, वे सब काकपक्षी की तरह वहाँ से तत्काल ही पलायन हो गए। उसकी जानकारी प्रजापति राजा को मिलते ही उन्होंने चंडवेग को वापिस बुलाकर और भी अधिक सत्कार सन्मान करके कहा कि, हे चंडवेग! इन मेरे कुमारों का अविनय अपने स्वामी अश्वग्रीव को मत कहना। कारण कि अज्ञान से हुए दुर्विनय पर महाशय पुरुष कोप नहीं करते। तब दूत ठीक है 'ऐसा कहकर वहाँ से चल दिया। परंतु उसके साथ जो सुभट थे, उन्होंने आगे जाकर अश्वग्रीव राजा को सर्व वृत्तांत निवेदन कर दिया। अश्वग्रीव ने सब बात जान ली है, ऐसा समझ कर असत्य बोलने में भयभीत चंडवेग ने भी अपने पर जो उपद्रव हुआ था, उसे यथार्थ रूप से कह सुनाया।

(गा. 121 से 135)

तत्पश्चात् अश्वग्रीव राजा ने दूसरे व्यक्तियों को समझा बुझाकर प्रजापति राजा के पास भेजकर कहलाया कि 'तुम तुंगगिरि जाकर सिंह से शाली के क्षेत्र की रक्षा करो। ऐसी अश्वग्रीव राजा की आज्ञा है।' यह सुनकर प्रजापति राजा ने अपने कुमारों से कहा कि 'तुमने अपने स्वामी अश्वग्रीव को कुपित किया है, इससे उन्होंने बारी के बिना भी सिंह से शाली के क्षेत्र की रक्षा करने की मुझे आज्ञा दी है।' इस प्रकार कहकर प्रजापति राजा ने वहाँ जाने की तैयारी थी। तब दोनों कुमारों ने राजा को रोक कर सिंह से युद्ध में कौतुकी होकर स्वयं ही शंखपुर की ओर चल दिये। त्रिपृष्ठ ने वहाँ पहुँचने के पश्चात् किसी समय उस शालीक्षेत्र के रक्षक गोपालकों को पूछा– कि 'अन्य राजा जब यहाँ आते हैं, तब वे सिंह से रक्षा किस प्रकार करते हैं? और उस समय वे कहाँ रहते है? गोपालक बोले– अन्य राजा प्रत्येक वर्ष बारी–बारी से यहाँ आते हैं, जब तक शाली क्षेत्र की लावणी (कटाई) होती है, तब तक वे चतुरंगी सेना से शालीक्षेत्र के चारों ओर किला बनाकर उसकी रक्षा करते हैं। तब त्रिपृष्ठ ने कहा कि इतनी देर तक यहाँ व्यर्थ क्यों बैठा जाय? मुझे सिंह बताओ जिससे मैं अकेला ही उसे मार डालूँ। पश्चात् उन्होंने तुंगगिरि की गुफा में रहे हुए सिंह को बताया।

राम और वासुदेव अश्वरथ में बैठकर उस गुफा के समीप आए। वहाँ गुफा के पास लोगों ने कोलाहल किया। जिसे सुनकर उबासी से मुंह फाड़ता हुआ वह केशरीसिंह बाहर निकला। उसे देख 'यह सिंह पैदल है और मैं रथी हूँ' यह उचित नहीं। इसलिए हम दोनों का युद्ध समान नहीं कहा जा सकता। ऐसा सोच त्रिपृष्ठ हाथ में ढाल–तलवार लेकर रथ में से नीचे उतरा। पुनः उसने सोचा कि इस सिंह के दाढ़ और नख मात्र शस्त्र रूप हैं और मेरे पास तो ढाल और तलवार है, अतः ये भी उचित नहीं है। ऐसा सोच कर त्रिपृष्ठ कुमार ने ढाल और तलवार भी छोड़ दिये। यह देखकर उस केशरीसिंह को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इससे उसने सोचा कि 'प्रथम तो यह पुरुष अकेला मेरी गुफा के पास आया है, यह इसका धीठ पना है, दूसरा यह रथ में से नीचे उतरा यह इसका धीठपन, तीसरा इसने शस्त्र छोड़ दिया यह भी इसका धीठपन। इसलिए मदांध हाथी की तरह अति दुर्मद ऐसे त्रिपृष्ठ को मैं मार दूं। ऐसा सोचकर मुँह फाड़कर सिहों में श्रेष्ठ वह सिंह फाल भरकर त्रिपृष्ठ के उपर कूद पड़ा। तब त्रिपृष्ठ ने एक हाथ से ऊपर का और दूसरे हाथ से नीचे का होठ पकड़ कर जीर्ण वस्त्र की तरह उसे फाड़ डाला। तत्काल देवताओं ने वासुदेव पर पुष्प आभरण और वस्त्रों की वृष्टि की। लोग विस्मित होकर 'साधु–साधु' ऐसे शब्द कहते हुए स्तुति करने लगे। उस समय 'अहो! इस छोटे बालक जैसे कुमार ने मुझे आज कैसे मारा? ऐसे अमर्ष से वह सिंह दो भाग में चिर जाने पर भी कांपने लगा। अतः उन वासुदेव के सारथि जो कि गौतम गणधर का जीव था, उन्होंने स्फुरणायमान होते हुए उस सिंह को कहा– 'अरे सिंह! जिस प्रकार तू पशुओं में सिंह है, उसी प्रकार ये त्रिपृष्ठ मनुष्यों में सिंह हैं, उन्होंने तुझे मारा है। तूं वृथा ही इसे अपमान क्यों मान रहा है? कोई हीन पुरुष ने तुझे मारा नहीं है।'' इस प्रकार अमृत के समान उस सारथि की वाणी सुनकर प्रसन्न होकर वह सिंह मरण–शरण हो गया और चौथी नारकी में नारकी रूप उत्पन्न हुआ। उसका चर्म लेकर दोनों कुमार अपने नगर की ओर चल दिये और उन ग्रामीण लोगों को कहा को कहा कि– ''तुम यह समाचार अश्वग्रीव राजा को दे देना और कहना कि अब तूं इच्छा के अनुरूप शाली खा और विश्वास से यहाँ रह। कारण कि तेरे हृदय में शल्यरूप जो केशरी था, उसे मार डाला है।' इस प्रकार कहकर वे दोनों कुमार पोतनपुर चले गये। उन ग्रामीणों ने सर्व वृतांत अश्वग्रीव राजा को बताया।

(गा. 136 से 157)

अश्वग्रीव राजा को अब त्रिपृष्ठ पर शंका होने लगी। अतः कपट द्वारा उसको मार डालने की इच्छा से उसने एक दूत को समझा बुझाकर प्रजापति राजा के पास भेजा। वह दूत वहाँ जाकर बोला कि राजन्! आपके दोनों पुत्रों को अश्वग्रीव राजा के पास भोजो। हमारे स्वामी दोनों को भिन्न-भिन्न राज्य देंगे। प्रजापति बोले- "हे सुन्दर दूत! मेरे कुमारों की क्या आवश्यकता है? मैं स्वयं ही स्वामी के पास आता हूँ। दूत ने पुनः कहा कि "यदि तुम कुमारों को नहीं भेजोगे, तो युद्ध करने के लिए तैयार हो जाना, बाद में कहा नहीं था ऐसा मत कहना।" दूत के ऐसा करने पर उस दूत को क्रोधित दोनों कुमारों ने खींच कर क्षण भर में तो नगर के बाहर निकाल दिया। दूत ने सब बात अश्वग्रीव राजा को कह सुनाई तो कुपित हुआ अश्वग्रीव राजा अग्नि जैसे प्रज्वलित हो गया।

(गा. 158 से 163)

हयग्रीव राजा, त्रिपृष्ठ तथा अचल युद्धेच्छा से अपने अपने सैन्य के साथ सज्ज होकर रथावर्तगिरि के पास आए। संवर्त मेघ की भांति परस्पर टकराते हुए दोनों पक्ष के सैनिक अन्दर-अन्दर युद्ध करने लगे। जब सैनिकों का क्षय होने लगा, तब अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ दोनों सैन्य को रोक कर स्वयं रथी होकर युद्ध करने लगे। अश्वग्रीव के सभी अस्त्र निष्फल होने पर उसने शत्रु की ग्रीवा को छेदने के लिए लंपट ऐसा चक्र त्रिपृष्ठ के उपर फेंका। उस समय लोग हा-हाकार करने लगे। वह चक्र जिस प्रकार अष्टापद जानवर पर्वत के शिखर पर से गिरे वैसे तुंब भाग से त्रिपृष्ठ के उरः स्थल पर जा गिरा। किन्तु वीर श्रेष्ठ त्रिपृष्ठ ने उस चक्र को हाथ में लेकर उसी के द्वारा कमलनाल की भांति लीलामात्र में अश्वग्रीव के कंठ को छेद डाला।

(गा. 164 से 169)

उसी समय 'यह अचल और त्रिपृष्ठ पहले बलभद्र और वासुदेव हैं' ऐसी देवताओं ने पुष्पवृष्टि पूर्वक आघोषणा की। तत्काल सभी राजाओं ने आकर उनको प्रणाम किया। उन दोनों वीरों ने अपने पराक्रम से दक्षिण भरतार्द्ध को साध लिया। प्रथम वासुदेव ने अपनी भुजा के द्वारा-कोटिशिला को उठाकर छत्र की तरह लीलामात्र में मस्तक तक ऊँची की। सर्व भूचक्र को अपने पराक्रम से दबाकर वे पोतनपुर गये। वहाँ देवताओं और राजाओं ने अर्धचक्रीश्वर रूप

से अभिषेक किया। जो जो रत्नवस्तु उनसे दूर थी, वे सर्व त्रिपृष्ट के पास आकर उनके आश्रित हो गई। उनमें गायकों में रत्नरूप कितने मधुर स्वर वाले गायक भी त्रिपृष्ठ के पास आए।

(गा. 170 से 174)

एक वक्त वे गायक गा रहे थे और वासुदेव शयन कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपने शय्यापालक को आज्ञा दी कि "ये गायक गा रहे हैं, मुझे नींद आ जाने पर इनकों बंद करवा देना।" शय्या पालक ने 'ठीक है' ऐसा कहा। त्रिपृष्ठ को तो नींद आ गई, परंतु उन गायकों के मधुर गायन में लुब्ध शय्यापालक ने उन गायकों को विदा नहीं किया। ऐसा करते करते प्रातः काल होने आया। तब वासुदेव जागृत हुए। उन गायकों को गाते हुए देखकर शय्या पालक को कहा कि, 'तूने गायकों को विदा क्यों नहीं किया?" वह बोला, 'स्वामी! गायन के लोभ से'। ऐसा जवाब सुनकर वासुदेव को कोप चढ़ा। फलस्वरूप प्रातःकाल उसके कान में तप्त शीशा डलवाया जिससे उस शय्यापालक की उसी समय मृत्यु हो गई। इस कृत्य से त्रिपृष्ठ ने तीव्र निकाचित अशाता वेदनीय कर्म बाँधा। इसके अतिरिक्त उस भव में स्वामीत्व को पाकर अन्य भी बहुत कटु विपाक वाले उग्र कर्मों का बंध किया। प्रजापति राजा के उस त्रिपृष्ठ पुत्र ने हिंसादिक में अविरत रूप से महा आरंभ और परिग्रह में रचपच कर चौरासी लाख वर्ष निर्गमन किये। वहाँ से मृत्यूपरान्त वह सातवीं नरक में नारकी हुआ और उसके वियोग से अचल बलदेव दीक्षा लेकर उग्र तप साधना द्वारा कर्म खपाकर मोक्ष में गये।

(गा. 175 से 181)

त्रिपृष्ठ का जीव नरक में से निकलकर केशरीसिंह हुआ। वहाँ से चौथी नरक में गया। इसी प्रकार वह तिर्यञ्च और मनुष्यादि गति में बहुत से भवों में भ्रमण करके एकदा मनुष्य जन्म में शुभ कर्मो का उपार्जन किया। फलतः वह अपरविदेह में मूकानगरी में धनंजय राजा की धारिणी रानी की कुक्षि से पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। चौदह स्वप्नों से सूचित चक्रवर्तीपद की समृद्धि से ज्ञापित संपूर्ण लक्षण युक्त उस पुत्र को धारिणी देवी ने जन्म दिया। माता-पिता ने प्रियमित्र अभिधान रखा। माता-पिता के मनोरथ के साथ अनुक्रम से वह बड़ा होने लगा। संसार से निर्वेद प्राप्त धनंजन राजा ने प्रियमित्र का राज्याभिषेक कर

आर्हती दीक्षा अंगीकार की। प्रिया की भांति भूमि का पालन करते हुए प्रियमित्र राजा के अनुक्रम से चौदह महारत्न उत्पन्न हुए। चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए उन्होंने षट्खंड पर विजय हेतु प्रस्थान किया।

(गा. 182 से 189)

सर्वप्रथम पूर्वाभिमुख मागधतीर्थ में आए। वहाँ अष्टम तप करके चतुरंग सैन्य साहित पडाव डाला। अष्टम तप पूर्ण करके रथारूढ़ होकर थोड़ी दूर जाकर धनुष हाथ में लिया। पश्चात् इन महाभुज ने मागधतीर्थ कुमार देव को उद्देश कर स्वनाम अंकित गुरुड़ जैसा एक बाण प्रक्षेप किया। वह बाण आकाश में बारह योजन पर्यन्त जाकर मागधदेव के आगे उत्पात वज्र की भांति गिरा। उस समय मृत्यु को चाहने वाले किसने यह बाण फेंका? ऐसा सोचकर मागध देव ने कोप से उठकर वह बाण हाथ में लिया। तब उस पर चक्रवर्ती के नाम के अक्षरों की श्रेणी देखकर वह क्षणमात्र में ही शांत हो गया। फिर तो अनेकों उपहार लेकर वह प्रियमित्र चक्री के पास आया एवं मैं आपका आज्ञांकित हूँ'' ऐसा बोलता हुआ नभमंडल में ही खड़ा रहा। उपायों के ज्ञाता उसने विविध उपहारों से चक्रवर्ती की पूजा की। चक्रवर्ती ने उसका सत्कार करके उसको विदा किया एवं स्वयं ने वापिस लौट कर पारणा किया। साथ ही उस मागधदेव के निमित्त से वहाँ अट्ठाई महोत्सव किया। तब कर्क राशि के सूर्य की तरह चक्रवर्ती दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। वहाँ वरदाम नामक देव को भी पूर्व की भांति साध लिया। वहाँ से पश्चिम की ओर जाकर प्रभासपति को साधा। पश्चात सिंधु नदी के समीप गये। वहां पर जिन्होंने अष्टम तप किया, ऐसे चक्रवर्ती के समक्ष सिंधुदेवी ने प्रत्यक्ष होकर दो दिव्य रत्नमय भद्रासन और दिव्य आभूषण दिये। उस देवी को विदा करके चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए चक्रवर्ती वैताढ्य गिरि के पास आए। वहाँ भी अट्ठम तप करके वैताढ्याद्री नाम के देव को साथ लिया। पश्चात् तमिस्रा गुफा के समीप में जाकर अष्टम तप किया। तब वहाँ स्थित कृतमाल देव ने स्त्रीरत्न के योग्य अन्य आभूषण दिये। सेनापति ने चक्री की आज्ञा से चर्मरत्न द्वारा सिंधु नदी पार करके लीलामात्र में ही उसका प्रथम निष्कूट साध लिया। पुनः लौटकर चक्री की आज्ञा से अष्टम तप करके दंडरत्न के घात से उन्होंने तमिस्रा का द्वार उघाड़ा। तत्पश्चात् चक्रवर्ती गजरत्न पर आरुढ़ होकर उसके दक्षिण कुंभस्थल पर प्रकाश के लिए सूर्यमंडल जैसे मंडल बनाते हुए चक्रवर्ती चक्र का अनुसरण करके चल दिये। फिर उन्मग्ना

और निमग्ना नदी पर पुल बंधाया। उसके द्वारा वे नदी को पार करके स्वयमेव खुले हुए उस गुफा के उत्तर द्वार से चक्री बाहर निकले। वहाँ चक्रवर्ती ने आपात जाति के किरात लोगों को जीत लिया और सेनापति के पास से गंगा नदी के प्रथम निष्कूट को साधा। स्वयं ने अट्ठम करके गंगानदी को साधा। गुफा के अधिष्ठायक देव को साधकर सेनापति के पास से सिंधु के दूसरे निष्कूट को सधाकर चक्र का अनुसरण करके वहाँ से फिर लौट कर वैताढय गिरि के पास आए। वहाँ वैताढ्य के ऊपर की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों को वश में कर लिया। पश्चात् खंडप्रपाता गुफा के अधिष्ठायक देव को साधकर सेनापति से गुफा के द्वार खुलवा कर चक्री ससैन्य वैताढ्य गिरि से बाहर निकले। प्रियमित्र चक्री ने अट्ठम तप किया, जिससे नैसर्प आदि नवनिधि उनके वशीभूत हो गई। उसके पश्चात् सेनापति के पास से गंगा नदी का दूसरा निष्कूट सधा कर छः खंड पर विजय प्राप्त कर प्रियमित्र चक्रवर्ती मूका नगरी में आए। वहाँ देवताओं एवं नरेशों मिलकर बारह वर्ष के महोत्सव पूर्वक उनका चक्रवर्ती रूप में अभिषेक किया। ये राजाधिराज नीति से पृथ्वी का पालन करने लगे।

(गा. 190 से 213)

एक बार मूका नगरी के उद्यान में पोट्टिल नाम के आचार्य समवसरे। उनसे धर्म श्रवण कर पुत्र को राज्यासीन करके उन्होंने दीक्षा अंगीकार की एवं कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट तप किया। फिर चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु प्राप्त करके महाशुक्र देवलोक में सर्वार्थ नामक विमान में देव बने।

(गा. 214 से 216)

महाशुक्र देवलोक से च्यवकर भरतखंड में छत्रा नामक नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा रानी का नंदन नामका पुत्र हुआ। उसे युवावस्था में राज्य पर बिठाकर जितशत्रु राजा ने संसार से निर्वेद पाकर दीक्षा ले ली। लोगों को आनंददायक वह नंदनराजा समृद्धि से इंद्र सदृश होकर यथाविधि पृथ्वी पर राज्य करने लगा। अनुक्रम से जन्म से चौबीस लाख वर्ष व्यतीत हो जाने पर विरक्त होकर नंदन राजा ने पोट्टिलाचार्य के पास दीक्षा ली। निरन्तर मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करके अपने श्रामण्य का उत्कृष्टता से पालन करते हुए नंदनमुनि गुरु के साथ ग्राम, आकर और पुर आदि में विहार करते लगे। वे दोनों प्रकार के अपध्यान (आर्त्त, रौद्र) से और द्विविध बंधन (राग द्वेष) से

वर्जित थे। तीन प्रकार के दंड (मन, वचन, काया), तीन प्रकार के गारव, (ऋद्धि, रस, शाता) और तीन जाति के शल्य (माया, निदान, मिथ्यादर्शन) से रहित थे। चार कषायों को उन्होंने क्षीण कर दिया था। चारों संज्ञाओं से वे वर्जित थे। चारों विकथा से रहित थे। चतुर्विध धर्म में परायण थे। चार प्रकार के उपसर्गो में भी उनका उद्यम अस्खलित था। पंचविध महाव्रतों में सदा उद्योगी थे एवं पंचविध काम (पांच इंद्रियो के विषयों) के सदा द्वेषी थे। प्रतिदिन पांच प्रकार के स्वाध्याय में सदा आसक्त थे। पांच प्रकार की समिति को धारण करते थे एवं पांच इंद्रियों को जीतने वाले थे। षड् जीव निकाय के रक्षक थे। सात भय स्थानों से वर्जित थे। आठ मद के स्थान से विमुक्त थे, नवविध ब्रह्मचर्य की गुप्ति को पालते थे और दस प्रकार के यति धर्म को धारण करते थे। सम्यक् प्रकार से एकादश अंग का अध्ययन करते थे। दु:सह परीषह की परंपरा को सहन करते थे, और उनको किसी प्रकार की स्पृहा नहीं थी। ऐसे उन नंदनमुनि ने एक लाख वर्ष तक तप किया। इन तपस्वी महामुनि ने अर्हन्त भक्ति आदि वीस स्थानक की आराधना करके दु:ख से प्राप्त हो ऐसा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन किया। इस प्रकार मूल से ही निष्कलंक साधुत्व का आचरण करके आयुष्य के अंत में उन्होंने इस प्रकार से आराधना की–

(गा. 217 से 230)

''काल और विनय आदि से जो आठ प्रकार का ज्ञानाचार कथित है, उसमें मुझे जो कोई भी अतिचार लगा हो तो उसकी मन–वचन–काया से निंदा करता हूँ। निःशंकित आदि जो आठ प्रकार का दर्शनाचार है, उसमें जो कोई भी अतिचार लगा हो तो उसे मैं मन–वचन–काया से वोसिराता हूँ। लोभ से या मोह से मैंने प्राणियों की सूक्ष्म या बादर जो कोई भी हिंसा की हो तो उसे मन–वचन–काया से वोसिराता हूँ। हास्य, भय, क्रोध और लोभ आदि से जो मैंने मृषा भाषण किया हो, तो उन सर्व की मैं निंदा करता हूँ एवं उनका प्रायश्चित करता हूँ। हास्य, भय, क्रोध और लोभ आदि में जो मैंने मृषा भाषण किया हो, तो उन सर्व की मैं निंदा करता हूँ एवं उनका प्रायश्चित करता हूँ। राग द्वेष से अल्प या अधिक जो कुछ भी अदत्त परद्रव्य लिया हो तो उन सबको वोसिराता हूँ। पूर्व में मैंने तिर्यंच संबंधी, मनुष्य संबंधी या देवसंबंधी मैथुन मन से, वचन से या काया से सेवन किया हो तो उसको त्रिविध त्रिविध वोसिराता हूँ। लोभ के दोष से धन–धान्य और पशु आदि बहुत प्रकार का परिग्रह पूर्व में जो मैंने

धारण किया हो तो मन वचन काया से वोसिराता हूँ। पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, धान्य, गृह और अन्य किसी भी पदार्थ में मेरी ममता रही हो तो उन सर्व को वोसिराता हूँ। इंद्रियों से पराभव पाकर मैंने रात्रि में चतुर्विध आहार किया हो तो उनकी मन–वचन–काया से निंदा करता हूँ। क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, कलह, पिशुनता (चुगली), परनिंदा, अभ्याख्यान (कलंक) और अन्य जो कोई चारित्राचार विषयक दुष्ट आचरण किया हो, उसको मैं मन, वचन, काया से वोसिराता हूँ। बाह्य या अभ्यन्तर तप करते हुए मुझे मन–वचन–काया से जो कोई अतिचार लगा हो, उस की मैं मन, वचन, काया से निंदा करता हूँ। धर्मानुष्ठान में मैंने जो कुछ भी वीर्य को गोपन किया हो तो उस वीर्याचार की भी मैं मन–वचन–काया से निंदा करता हूँ। मैंने किसी को मारा हो, दुष्ट वचन कहे हो, किसी का कुछ हरण कर लिया हो अथवा कुछ अपकार किया हो, तो वे सब मुझे क्षमा करें। यदि कोई मेरे मित्र या शत्रु हों, स्वजन या परजन हो तो वे भी मुझे क्षमा करें। अब मैं सभी पर समत्व भाव रखता हूँ। तिर्यंचपने में तिर्यंच, नारकीपने में नारक, देवपने में देव, मनुष्यपने में जिन मनुष्यों को मैंने दुःखी किया हो तो वे सब भी मुझे क्षमा करें। मैं उनको खमाता हूँ। अब मुझे सभी के साथ मैत्री है। जीवन, यौवन, लक्ष्मी, रूप एवं प्रियसमागम ये सब वायु से प्रेरित समुद्र के तरंग सदृश है। व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु से ग्रसित प्राणियों को श्री जिनोदित धर्म के बिना अन्य कोई शरण नहीं है। सभी जीव स्वजन और परजन है, तो उसमें कौन किंचित् भी प्रतिबंध करे? प्राणी अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है। अकेला ही सुख और दुःख का अनुभव करता है। प्रथम तो इस आत्मा से यह शरीर अन्य है। देह, धन, धान्य तथा बंधुओं से यह जीव अन्य (भिन्न) है। फिर भी उसमें मूर्ख जन वृथा ही मोह रखते हैं। चर्बी, रुधिर, मांस, अस्थि, ग्रंथी, विष्टा और मूत्र से भरे इस अशुचि के स्थान रूप शरीर में कौन–बुद्धिमान पुरुष मोह रखे? यह शरीर किराये के घर की तरह अंत में अवश्य ही छोड़ देना है। अर्थात् उसका कितना ही लालन पालन किया हो, तो भी वह नाशवंत है। धीर हो या कायर हो सर्व प्राणियों को अवश्यमेव मरना तो है ही। परंतु बुद्धिमान् पुरुषों को इस प्रकार मरना चाहिये कि पुनः मरना ही न पड़े। मुझे अरिहंत प्रभु का शरण हो, सिद्ध प्रभु का शरण हो, साधुओं का शरण हो और केवली प्ररुपित धर्म का शरण होवे। मेरी माता श्री जिनधर्म, पिता गुरु, सहोदर साधु एवं साधर्मिक मेरे बंधु हैं। इसके अतिरिक्त

इस जगत में सर्व जालवत् है। श्री ऋषभदेव आदि इस चौवीसी में हुए तीर्थंकरों को एवं अन्य भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र के अर्हन्तों को मैं नमन करता हूँ। तीर्थंकरों को किया हुआ नमस्कार प्राणियों को संसार को छेदने के लिए एवं बोधि–लाभ के लिए होता है। मैं सिद्ध भगवन्तों को नमन करता हूँ, कि जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि से हजारों भवों के कर्म रूपी काष्ट को जला डाला है। पंचविध आचार का पालन करने वाले आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ। जिन्होनें सदा भावच्छेद में उद्यत होकर प्रवचन (जिन शासन) को धारण किया है। जिन्होंने सर्वश्रुत को धारण किया है और शिष्यों को अध्यापन कराते हैं, उन उपाध्याय महात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। जो लाखों भवों में बद्ध पाप का क्षणभर में नाश करते हैं, ऐसे शीलव्रतधारी साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ। सावद्य योग तथा बाह्य एवं अभ्यन्तर उपधि (बाह्य उपधि– वस्त्र, पात्र आदि उपकरण, अभ्यन्तर उपधि अर्थात् विषय कषायादि) को मैं मन–वचन–काया से वोसिराता हूँ। मैं यावज्जीवन पर्यन्त चतुर्विध आहार का त्याग करता हूँ। चरम उच्छवास के समय में इस देह को भी वोसिराता (त्याग करता) हूँ। दुष्कर्म की गर्हणा, प्राणियों की क्षामणा, शुभ भावना, चतुःशरण, नमस्कार स्मरण, और अनशन इस प्रकार छः प्रकार की आराधना करके वे नंदनमुनि अपने धर्माचार्य को, साधुओं को, और साध्वियों को खमाने लगे। अनुक्रम से इन महामुनि ने साठ दिन तक अनशन व्रत पालकर, पच्चीस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु पाकर प्राणत नामके दसवें देवलोक में पुष्पोत्तर नामक विस्तृत विमान में, उपपाद शय्या में उत्पन्न हुए। एक अन्तर्मुहूर्त में महर्द्धिक देव बन गये। अपने उपर रहे देव दूष्य वस्त्र को दूर करके शय्या में स्थित होकर अवलोकन किया तो अचानक प्राप्त हुआ विमान, देवसूमह और विपुल समृद्धि को देखकर वे विस्मित हो गए। विचारने लगे कि 'यह सब मुझे किस तप के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है ? तब अवधिज्ञान के उपयोग से उनको अपना पूर्व भव एवं तप की स्मृति हुई। तब उन्होंने चित्त में चिन्तक किया कि "अहो! अर्हद्धर्म का अचिंत्य प्रभाव है" उसी–समय उनके सेवकभूत सर्व देवगण एकत्रित होकर वहाँ आए और अंजलीबद्ध करके हर्षित होकर उनको इस प्रकार कहने लगे–"हे स्वामी! हे जगत् को आनंदकारी! हे जगत् के भद्रंकर! आपकी जय हो! चिरकाल तक सुख को प्राप्त करो! आप हमारे स्वामी हो, रक्षक हो, यशस्वी हो। आप विजय प्राप्त करो। यह आपका विमान है। हम आपके आज्ञाकारी देवता हैं। ये सुंदर

उपवन हैं। ये स्नान करने की सुंदर वापिकाएँ हैं। यह सिद्धायतन है, यह सुधर्मा नामक महासभा है। यह स्नान गृह है, अव आप स्नान गृह को अलंकृत करें कि जिससे हम आपका अभिषेक करें। इस प्रकार देवताओं के आग्रह से देव स्नानगृह में गए। वहाँ स्थित चरण पीठ वाले सिंहासन पर विराजमान हुए। देवताओं ने हाथों में कुंभ लेकर दिव्य जल द्वारा उनका अभिषेक किया। पश्चात् वे किंकर देवता उनको अलंकार गृह में ले गए। वहाँ उन्होंने दो देवदूष्य वस्त्र, अंगराग और मुकुट आदि दिव्य आभूषण धारण किये। वहाँ से वे व्यवसाय सभा में गए। वहाँ अपने कल्प के पुस्तक का वांचन किया। वहाँ स्थित एक सौ आठ जिन प्रतिमाओं का अर्चन, वंदन, स्तवना करके पश्चात् अपनी सुधर्मा सभा में आकर संगीत कराया। इस प्रकार अपने उस विमान में रहकर यथारुचि भोग भोगने लगे।

(गा. 231 से 282)

समकित गुण रूप आभूषण वाले वे देव अर्हन्त के कल्याणकों के समय महाविदेह आदि क्षेत्रों में गये और वहाँ जिनेश्वर भगवंतों को वंदना की। इस प्रकार अंत समय में तो प्रत्येक बात में विशेष रूप से शोभित होते हुए उस देव ने वहाँ बीस सागरोपम की आयुष्य पूर्ण की। अन्य देवतागण तो जब छः महिने की आयुष्य अवशेष रहने पर मोह ग्रसित होते हैं, जबकि तीर्थंकर होने वाले देवता तो पुण्योदय अत्यंत नजदीक आया होने से किंचित्मात्र भी मोहित नहीं होते।

(गा. 283 से 284)

श्री हेमचंद्रसरि विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र महाकाव्य में दशम पर्व के श्री महावीर चरित्र में पूर्वभव वर्णन नामक प्रथम सर्गः।

द्वितीय सर्ग

श्री महावीर जन्म और दीक्षा महोत्सव

इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में ब्राह्मणकुंड नामक ब्राह्मण लोगों का एक गांव था। वहाँ कोडालस नामक कुल में उत्पन्न हुआ ऋषभदत्त नामका एक ब्राह्मण रहता था, उसके देवानंदा नामकी जालंधर कुल की भार्या थी। आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी को चंद्र के हस्तोत्तर (उत्तराषाढ़ा) नक्षत्र में आने पर नंदन मुनि का जीव दसवें देवलोक से च्यवकर देवानंदा की कुक्षि में अवतरा। उस समय सुखपूर्वक सोती हुई देवानंदा ने चौदह महास्वप्नों का अवलोकन किया। प्रातः काल में उठकर उसने अपने स्वामी को ज्ञात कराया। ऋषभदत्त ने उस संबंध में विचार करके कहा कि 'इन स्वप्नों के दर्शन से तुम्हारे चारों वेदों में पारंगत एवं परम निष्ठावाला पुत्र होगा। इसमें जरा भी शंका नहीं है। मानों कल्पवृक्ष आया हो वैसे प्रभु जब से देवानंदा की कुक्षि में आए, तब से उस ब्राह्मण को विपुल समृद्धि प्राप्त हुई।

(गा. 1 से 6)

देवानंदा के गर्भ में प्रभु के आने के पश्चात् बियासी दिन व्यतीत हो जाने पर सौधर्म देवलोक के इंद्र का सिंहासन कंपायमान हुआ। अवधिज्ञान से प्रभु का देवानंदा की कुक्षि में अवतरण जानकर शक्रेन्द्र सिंहासन से उठकर नमस्कार करके इस प्रकार चिंतन करने लगे कि "तीन जगत् के गुरु अर्हत् परमात्मा कभी भी तुच्छ कुल में, दरिद्रकुल में या–भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं होते। परंतु पुरुष में सिंह के समान वे तो सीप में मोती की भांति इक्ष्वाकु आदि क्षत्रीय वंश में ही उत्पन्न होते हैं। ये प्रभु तो नीच कुल में उत्पन्न हुए, यह तो असंगत हुआ है। पूर्वबद्ध कर्म को अन्यथा करने में अर्हन्त प्रभु भी समर्थ नहीं है। इन प्रभु ने मरिची के भव में कुल का मद किया था, इससे जो नीच गोत्र कर्म का उपार्जन

किया वह अभी भी उपस्थित है। लेकिन कर्म के वश में हुए नीच कुल में उत्पन्न हुए अर्हन्तों को किसी महाकुल में ले जाने का सर्वदा हमारा अधिकार है। तो फिलहाल भरतक्षेत्र में उच्च वंश में उत्पन्न हुए राजा–रानी कौन है ? कि जिनको जैसे कुंद (डोलर) के पुष्प में से कमल पुष्प में भ्रमर ले जाए, वैसे मैं भी उनका संचार करूं। अहो! मुझे ज्ञात हुआ है कि– इस भरतक्षेत्र में महीमंडल के मंडन रूप क्षत्रियकुंड नामक नगर है। जो कि मेरी नगरी के जैसा सुंदर है। वह विविध चैत्यों का स्थल है। वह धर्म का एक कारण है, अन्याय से रहित है, और साधुओं से पवित्र है। वहाँ के निवासी मृगया और मद्यपान आदि व्यसनों से अस्पृष्ट हैं। इससे वह शहर तीर्थ की तरह भरतक्षेत्र में जीवों को पवित्र करने वाला है। उस नगर में ईक्ष्वाकु ज्ञात वंश में उत्पन्न सिद्धार्थ नाम का प्रख्यात राजा है। जो कि धर्म से ही अपनी आत्मा को सदैव सिद्धार्थ मान्य करता है। वह जीवाजीवादि तत्त्वों का मर्मज्ञ है, न्यायमार्ग का विशाल राहगीर है। प्रजा को सन्मार्ग में स्थापित करने वाला है, पिता के सदृश प्रजा का हितकामी है। दीन, अनाथ आदि लोगों का उद्धार करने में बंधुरूप है। शरणागत का शरण्य है और क्षत्रियों में शिरोमणि है। उसके सतियों में श्रेष्ठ और जिसके गुण और आकृति स्तुति करने योग्य है ऐसी पुण्य भूमि स्वरूपा त्रिशला नामकी मुख्य पटराणी है। स्वभाव से ही निर्मल और गुणरूप तरंगों वाली वह देवी सांप्रतकाल में गांगा नदी की भांति पृथ्वी को पवित्र करती है। स्त्रीजन्म की सहचरिणी माया से भी अकलंकित और स्वभाव से ही सरला ऐसी वह रामा पृथ्वी पर कृतार्थ नामवाली है। अभी वह देवी दैवयोग से गर्भिणी भी है, इसलिए मुझे उसके और देवानंदा के गर्भ का संक्रमण (परिवर्तन–अदल बदल) करना योग्य है।''

(गा. 7 से 24)

इस प्रकार विचार करके इंद्र अपनी पद सेना के सेनापति नैगमैषी देव को बुलाकर तथा प्रकार से करने की शीघ्र ही आज्ञा दी। नैगमेषी देव ने भी तुरंत ही स्वामी की आज्ञा के अनुसार देवानंदा और त्रिशला के गर्भ का संक्रमण किया। उस समय शय्या में सोई हुई देवानंदा ब्राह्मणी ने पूर्व में देखे चौदह महास्वप्नों को मुख में से बाहर निकलते देखा, इससे वह तुरंत ही बैठी हो गई, शरीर से अत्यन्त निर्बल और ज्वर से जर्जरित हो गई और छाती कूटती हुई 'किसी ने मेरे गर्भ का अपहरण कर लिया' ऐसा बारबार चिल्लाने लगी,

पुकारने लगी। आश्विन मास की कृष्ण त्रयोदशी को चंद्र के हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर देव ने प्रभु को त्रिशलादेवी के गर्भ में स्थापित किया। उस समय त्रिशला महारानी ने हाथी, वृषभ, सिंह अभिषेक करती लक्ष्मी, माला, चंद्र, सूर्य, महाध्वज, पूर्णकुंभ पद्म सरोवर, समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि इन चौदह महास्वप्नों को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। तब इंद्र ने सिद्धार्थ राजा को एवं स्वप्नफल पाठक नैमित्तिकों को उन स्वप्नों का फल तीर्थंकर का जन्मरूप सूचित किया। यह सुनकर देवी अत्यन्त हर्षित हुई। हर्ष प्राप्त कर देवी ने अद्भुत गर्भ धारण किया। तब वह क्रीड़ा–गृह की भूमियों में भी प्रमाद रहित होकर विहार करने लगी।

(गा. 25 से 33)

प्रभु के गर्भ में अवतरण होते ही शक्र इंद्र की आज्ञा से जंभृक देवताओं ने सिद्धार्थ राजा के गृह में बारबार धन का समूह ला–लाकर स्थापित किया। गर्भ में अवतरित प्रभु के प्रभाव से उनका सम्पूर्ण कुल धन, धान्य की समृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जो राजा पहले गर्व से सिद्धार्थ राजा को नमते नहीं थे, वे हाथ में भेंट लेकर स्वयमेव वहाँ आकर के नमने लगे।

(गा. 34 से 36)

एक बार मेरे फिरने, हलन चलन से मेरी माता को वेदना न हो' यह सोचकर प्रभु गर्भावास में भी योगी की तरह निश्चल रहे। उस समय प्रभु माता के उदर में सर्व अंग व्यापार को संकोच कर इस प्रकार रहे कि जिससे माता उदर में गर्भ है या नहीं यह समझ नहीं सकीं। इससे त्रिशला को चिंता हुई कि 'क्या मेरा गर्भ गल गया है ? या किसी ने हरण कर लिया ? या उसका नाश हो गया ? या थंभित हुआ है ? यदि इसमें से कुछ भी हुआ हो तो मुझे अब जीने का क्या काम ? क्यों कि मृत्यु का दुःख सहा जा सकता है, परंतु ऐसे गर्भ के वियोग का दुःख सहन करना शक्य नहीं हैं। इस प्रकार आर्तध्यान करते हुए देवी केश खुले रखकर, अंगराग छोड़ कर और करों परमुख कमल को रखकर रुदन करने लगी। साथ ही सर्व आभूषणों का त्याग कर दिया, निःश्वास से अधर को विधुर कर दिया, सखियों से भी मौन धारण कर लिया और सोना, खाना सब कुछ छोड़ दिया। ये समाचार सुनकर सिद्धर्य राजा को भी खेद हुआ। उनके ज्येष्ट पुत्र नंदीवर्धन और पुत्री सुदर्शना भी दुःखी हो गए।

(गा. 37 से 43)

उस समय तीन ज्ञान के धारक प्रभु ने ज्ञान द्वारा माता – पिता को दुःखी जानकर गर्भज्ञापन करने हेतु अपनी एक अंगुली चलायमान की। इससे तुरंत मेरा गर्भ अभी अक्षत ही है' ऐसा जानकर देवी हर्षित हुई और गर्भस्फुरण की बात सुनकर सिद्धार्थ राजा भी बहुत खुशी हुए। उस समय प्रभु ने चिंतन किया– 'अहो! अभी तो मैं अदृष्ट हूँ' फिर भी मेरे माता पिता को मुझ पर कितना स्नेह है? इससे लगता है यदि उनके जीवित काल में मैं दीक्षा लूंगा तो अवश्य ही स्नेह के मोह से आर्तध्यान द्वारा बहुत ही अशुभ कर्म उपार्जन कर लेंगे। इसलिए माता पिता के जीवित रहते मैं दीक्षा अंगीकार नहीं करूँगा।' इस प्रकार प्रभु ने सातवें महिने में अभिग्रह लिया।

(गा. 44 से 46)

अनुक्रम से गर्भस्थिति पूर्ण होने पर जिस समय सर्व दिशाएँ प्रसन्न हुई थी, सर्व ग्रह उच्च स्थान में आ गये थे। पवन पृथ्वी पर प्रसर कर प्रदक्षिण और अनुकूल प्रवाहित हो रहा था। सर्व जगत् हर्ष से परिपूर्ण था। जयकारी शुभ शकुन हो रहे थे, उस समय नव मास और साढे सात दिन व्यतीत हो जाने पर चैत्र मास की शुक्ल त्रयोदशी को चंद्र के हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर त्रिशला देवी ने सिंह के लंछन से युक्त, स्वर्णसम कांतिवाले अत्यन्त सुंदर पुत्र को जन्म दिया। इस अवसर पर भोगंकरा आदि छप्पन दिककुमारिकाओं ने आकर प्रभु और माता का सूतिका कर्म किया। (विस्तृत वर्णन प्रथम पर्व के अन्तर्गत ऋषभदेव चरित्र से ज्ञात करें)

(गा. 47 से 52)

सौधर्म इंद्र भी सिंहासनकंप से प्रभु का जन्मावसर जानकर तत्काल परिवार सहित सूतिका गृह में आए। अर्हंत और उनकी माता को दूर से प्रणाम करके नजदीक आकर उन्होंने देवी पर अस्वापिनी निद्रा छोड़ी। पार्श्व में देवी के भगवंत का प्रतिबिम्ब रखकर भक्तिकर्म में अतृप्त ऐसे इंद्र ने अपने शरीर के पांच रूप किये। एक रूप से प्रभु को अपने हाथों में ग्रहण किया। दूसरे रूप से प्रभु के सिर पर छत्र धारण किया। दो रूपों से प्रभु के दोनों ओर सुंदर चंवर धारण किये एवं एक रूप से वज्र उछालते एवं नृत्य करते हुए प्रभु के आगे आगे चलने लगे। इस प्रकार मेरुगिरि पर जाकर अतिपांडुकबला नामकी शिला पर प्रभु को उत्संग में लेकर सिंहासन पर बैठे। इसी समय अन्य त्रेसठ ईंद्र भी

प्रभु का स्नात्र महोत्सव करने वहाँ आ पहुँचे। आभियोगिक देव स्नात्र के लिए तीर्थजल ले आए। इस समय भक्ति से कोमल चित्तवाले शक्र इंद्र को 'इतना सारा जल का प्रवाह प्रभु किस प्रकार सहन कर सकेंगे ? ऐसी शंका उत्पन्न हुई। तब इंद्र की आशंका को दूर करने के लिए प्रभु ने सहजता से वाम (बांये) चरण के अंगुष्ठ से मेरुगिरि को दबाया। इससे शीघ्र ही मानो प्रभु को नमने के लिए ही हो, वैसे मेरु पर्वत के शिखर नम गये। कुलगिरि जैसे उनके नजदीक आ रहे हो, वैसे चलायमान हो गये। समुद्र मानो प्रभु का स्नात्र करता हो वैसे उछलने लगा और पृथ्वी जैसे प्रभु के पास नृत्य करना हो, इस प्रकार उन्मुख हो गई और कांपने लगी। इस प्रकार का उत्पात देखकर 'यह क्या हुआ ? ऐसी चिंता करते हुए इंद्र ने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा तो सर्व प्रभु के पराक्रम की लीला उसे ज्ञात हुई। तब इंद्र ने कहा–'हे नाथ! असामान्य ऐसा आपका माहात्म्य मेरे जैसा सामान्य प्राणी किस प्रकार जान सकता है ? इसलिए मैंने जो इस प्रकार विपरीत चिंतन किया, वह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होवे।'' ऐसा कहकर इंद्र ने प्रभु को प्रणाम किया। पश्चात् आनंद सहित अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र बजाते हुए इंद्रों ने सुगंधित और पवित्र तीर्थ जल से अभिषेक महोत्सव किया। उस अभिषेक के जल को सुर, असुर, मनुष्य और नागकुमार आदि वंदन करने लगे एवं बराम्बार सर्व प्राणियों के अगों पर छांटने लगे। प्रभु के स्नात्र जल के साथ मिली मृत्तिका (मिट्टी) भी वंदनीय हो गई। क्योंकि ''गुरु के संग से लघु की भी गौरवता होती है।'' तब सौधर्मेन्द्र ने प्रभु को ईशानेन्द्र के उत्संग में देकर स्नान, अर्चन और आरात्रिक (आरती) करके इस प्रकार स्तुति करने लगे।

(गा. 53 से 70)

''अर्हन्त, भगवन्त, स्वयंसंबुद्ध, विधाता और पुरुषों में उत्तम ऐसे आदिकर तीर्थंकर रूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ। लोक में प्रदीप रूप, लोक के उद्योतकर, लोक में उत्तम, लोक के अधीश, और लोकहितंकर ऐसे आपको मैं नमन करता हूँ। पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक कमल रूप, सुख को देने वाले, पुरूषों में सिंह के समान और पुरुषों में मदगंधी गजेन्द्र रूप ऐसे आपको नमस्कार हो। चक्षु को और अभय को देने वाले, बोधिदायक, मार्गदेशक, धर्मदायक, धर्मदेशक और शरणदायक ऐसे आपको नमन करता हूँ। धर्म के चक्रवर्ती, छद्मस्थपन को निवृत्त करने वाले, सम्यग्दर्शन धारी ऐसे आपको नमस्कार हो। जिन और जापक अर्थात् राग द्वेष की जीत लिया है एवं दूसरों को जिताने वाले, स्वयं

तिरे हुए और तिराने वाले, कर्म से मुक्त एवं मुक्त कराने वाले, तथा बुद्ध एवं बोध कराने वाले आपको मैं नमन करता हूँ। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्व अतिशय के पात्र, आठ कर्म का नाश करने वाले स्वामी आपको मैं नमस्कार करता हूँ। क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, परमात्मा, स्याद्‌वादवादी, वीतराग और मुनि ऐसे आपको नमस्कार हो। पूज्यों के भी पूज्य, महान् से भी महान्, आचार्यों के भी आचार्य एवं ज्येष्ठ से भी ज्येष्ठ ऐसे आपको नमस्कार हो। विश्व को उत्पन्न करने वाले, योगियों के भी नाथ और योगी, पवित्र करने वाले और पवित्र, अनुत्तर और उत्तर ऐसे आपको नमन करता हूँ। पाप का प्रक्षालन करके वाले, योगाचार्य, जिससे कोई विशेष नहीं ऐसे, अग्र, वाचस्पति, और मंगल रूप आपको नमस्कार हो। सर्व तरफ से उदित हुए एक वीर सूर्य रूप और 'ॐ भुर्भुवः स्वः' इस वाणी से स्तुति करने योग्य, ऐसे आपको नमस्कार हो। सर्व जन के हितकार सर्वार्थ साधक, अमृतरूप, ब्रह्मचर्य को उदित करने वाले, आप्त और पारंगत ऐसे आपको नमस्कार हो। दक्षिणीय, निर्विकार, दयालु और वज्रऋषभ नाराच शरीर के धारक, आपको नमस्कार हो। त्रिकालज्ञ, जिनेन्द्र, स्वयंभू, ज्ञान, बल, वीर्य, तेज, शक्ति और ऐश्वर्यमय आपको नमन करता हूँ। आदि पुरूष, परमेष्ठी, महेश और क्षीरसागर में चंद्र जैसे, महावीर, धीर और तीन जगत के स्वामी आपको नमस्कार हो।

(गा. 71 से 86)

इस प्रकार स्तुति करके प्रभु को माता के पास रखा और उनका प्रतिबिंब और अवस्वापनिका निद्रा का भी हरण कर लिया। पश्चात् पार्श्व में क्षौमवस्त्र एवं दो कुंडल और प्रभु की शय्या पर श्रीदाम गंडक रखकर इंद्र अपने स्थान पर गये। उस समय इंद्र की आज्ञा से कुबेर से प्रेरित जंभृक देवताओं ने सिद्धार्थ राजा के गृह में सुवर्ण, माणिक्य, और वसुधारा की वृष्टि करी।

(गा. 87 से 90)

प्रभात काल में राजा सिद्धार्थ ने प्रभु के जन्मोत्सव में सर्वप्रथम तो कारागृह से सर्व कैदियों को छोड़ दिये। "अर्हन्त का जन्म ही भव्य प्राणियों को भवों से भी छुड़ा देता है।" तीसरे दिन माता–पिता ने प्रसन्न होकर पुत्र को सूर्य चंद्र के बिम्ब के दर्शन कराये। छट्ठे दिन में मधुर स्वर में मंगल गीत गानेवाली, कुंकुम का अंगराग धारण करने वाली, बहुत से आभूषणों से शृंगार करने

वाली एवं कंठ में लटकती हुई मालाएं पहनने वाली, इस प्रकार अनेक कुलीन स्त्रियों के साथ राजा रानी ने रात्रि जागरण उत्सव किया। जब ग्यारहवाँ दिन आया तब सिद्धार्थ राजा ने और त्रिशला देवी ने पुत्र का जातक कर्म महोत्सव पूर्ण किया। जिनकी सर्व इच्छाएँ सिद्ध हो गई, ऐसे सिद्धार्थ राजा ने बारहवें दिन में अपने सर्व ज्ञाति जनों, संबंधियों एवं बंधुओं को बुलाया। वे सभी अपने हाथों में अनेक प्रकार की मांगल्य भेंट लेकर आए। योग्य प्रतिदान के व्यवहार में तत्पर राजा ने उनका सत्कार किया। तब सिद्धार्थ राजा ने उन सबके सामने उद्घोषणा की कि ''इस पुत्र के गर्भ में आने पर हमारे घर में, नगर में एवं मांगल्य में धनादिक की वृद्धि हुई है। इसलिए इसका वर्धमान नाम स्थापित किया जाता है।'' इस प्रकार सुनकर उन बंधुओं ने भी हर्षित होकर कहा कि, 'ऐसा ही हो'। पश्चात् 'प्रभु तो बड़े बड़े उपसर्गों से भी कंपित होंगे नहीं, ऐसा सोचकर इंद्र ने जगत्पति का महावीर नामकरण किया। भक्तिवंत सुर और असुरों से सेवित, अमृतवर्षिणी दृष्टि से पृथ्वी का सिंचन करते हुए और एक हजार आठ लक्षणों से उपलक्षित ऐसे प्रभु यद्यपि स्वभाव से ही गुणवृद्ध तो थे ही, अनुक्रम से वय के अनुसार बढ़ने लगे।

(गा. 91 से 102)

एक बार आठ वर्ष से कुछ कम वय में प्रभु राजपुत्रों के साथ उम्र के अनुसार क्रीड़ा करने गये। उस समय अवधिज्ञान के द्वारा यह जानकर इंद्र ने देवताओं की सभा में, धैर्यता में महावीर ऐसे वीर भगवंत की प्रशंसा की। यह सुनकर कोई ईर्ष्यालु (मत्सरी) देव 'मैं उन महावीर को क्षोभित करुं' ऐसा सोचकर जहाँ प्रभु क्रीड़ा कर रहे थे, वहाँ आया। उस समय प्रभु राजपुत्रों के साथ आमल– की क्रीड़ा कर रहे थे। वह देव वहाँ किसी वृक्षमूल के पास माया से विशाल सर्प बन गया। उसे देखकर सभी राजपुत्र भयभीत होकर दसों दिशाओं में भागने लगे। तब प्रभु ने हंसते हंसते उसे रस्सी की भांति ऊंचा करके दूर पृथ्वी पर फेंक दिया। यह देख सभी राजकुमार लज्जित होकर वापिस क्रीड़ा करने के लिए एकत्रित हो गये। वह देव राजकुमार का रूप धारण कर वहाँ आया। सर्व कुमार एक वृक्ष पर चढ़ गये। प्रभु सर्व कुमारो से पहले वृक्ष के अग्र भाग पर जा चढ़े। अथवा 'जो लोकाग्र पर जाने वाले हैं, उनको वृक्ष के अग्र पर पहुँचना तो क्या बात है, वहाँ रहे हुए प्रभु मेरु के शिखर पर सूर्य की भांति सुशोभित होने लगे और शाखाओं में लटकते अन्य कुमार वानरों की भांति

दिखने लगे। उस क्रीड़ा में भगवान की जीत हुई। इस क्रीड़ा में इस प्रकार था कि "जो हार जाय वो अन्यों को अपने पृष्ठ पर बिठाकर वहन करे।" तब राजपुत्र वीर प्रभु को अपनी पीठ पर बिठाकर वहन करने लगे। अनुक्रम से महा पराक्रमियों में श्रेष्ठ ऐसे प्रभु उस देव के पीठ पर भी आरुढ़ हुए। तत्काल ही वह दुष्ट बुद्धिवाला देव विकराल वेताल रूप करके पर्वतों को नीचे कर दे, उस प्रकार बढ़ने लगा। उसके पाताल जैसे मुख में रही जिह्वा तक्षक नाग जैसी दिखने लगी। उसकी भयंकर दाढ़े करवत जैसी हो गई, उसके लोचन अंगारे की सिगड़ी के जैसे जाज्वल्यमान दिखने लगे। उसके नाक के नथुने पर्वत की गुफा की तरह अति घोर दिखने लगे एवं भृकुटि भंगुर सी भौंहे मानो दो बड़ी सर्पिणी हो, ऐसी लगने लगी। इस प्रकार बढ़ता हुआ उसने विराम नहीं लिया। इतने में तो उसका स्वरूप जानकर महापराक्रमी प्रभु ने उसके पृष्ट भाग पर एक मुष्टि प्रहार करके उसे वामन कर दिया। तब वह देव इंद्र द्वारा वर्णित भगंवत के धैर्य को प्रत्यक्ष देखकर स्वस्वरूप प्रकट करके प्रभु को नमन करके स्वस्थान पर चला गया।

(गा. 103 से 118)

प्रभु जब आठ वर्ष से अधिक हुए तब पिता ने शिक्षा ग्रहण करने के लिए शाला में भेजने का निश्चय किया। उस समय इंद्र का सिंहासन कंपायमान हुआ। तब इंद्र ने अवधिज्ञान से प्रभु के माता-पिता की अद्‌भुत सरलता जानी और प्रभु को भी शिष्यत्व ग्रहण करना पड़ता है? यह विचार करके शीघ्र ही वहाँ आये। प्रभु को पाठशाला ले जा रहे थे, वहाँ इंद्र ने प्रभु को उपाध्याय के आसन पर विराजमान किया। पश्चात् प्रणाम करके प्रार्थना की, तब प्रभु ने शब्द पारायण (व्याकरण) कह सुनाया। यह शब्दानुशासन भगवंत ने इंद्र को कहा। यह सुनकर उपाध्याय ने लोक में 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से उसे प्रख्यात किया।

(गा. 119 से 122)

सात हाथ ऊंची काया वाले प्रभु ने अनुक्रम से यौवन प्राप्त किया। तब वन के हाथी की भांति लीला से गमन करने लगे। त्रैलोक्य में उत्कृष्ट ऐसा रूप, तीन जगत् का प्रभुत्व और नवीन यौवन प्राप्त होने पर भी प्रभु को किंचित् मात्र भी विकार पैदा नहीं हुआ। राजा समरवीर ने यशोदा नामकी अपनी कन्या को

वर्द्धमान को देने के लिए मंत्रियों के साथ वहाँ भेजी। मंत्रियों ने क्षत्रियकुंड नगर में आकर सिद्धार्थ राजा को नमन करके निवेदन किया कि 'हमारे स्वामी ने अपनी पुत्री को आपके पुत्र को लिए हमारे साथ भेजा है। हमारे स्वामी पहले से ही आपके सेवक हैं, इससे यह संबंध और भी विशेष होगा। हम पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करिये।' सिद्धार्थ राजा ने कहा कि–'मुझे एवं त्रिशला रानी को कुमार के विवाहोत्सव का खूब मनोरथ है, परंतु यह कुमार तो जन्म से ही संसार से विरक्त है, यद्यपि उसके समक्ष विवाहादिक प्रयोजन की बात भी हम कर नहीं सकते, तथापि तुम्हारे आग्रह से अनेक वचन की युक्तियों से उनके मित्र के द्वारा विवाह की वार्ता हम आज ही उसे कहलायेंगे। इस प्रकार कहकर राजा सिद्धार्थ ने त्रिशलादेवी को पूछकर प्रभु के बुद्धिमान मित्रों को विवाह की स्वीकृति हेतु प्रभु के पास भेजा। उन्होंने प्रभु के पास जाकर सविनय नमस्कार करके उनको सिद्धार्थ राजा की आज्ञा कह सुनाई। प्रभु ने फरमाया– 'तुम निरन्तर मेरे समीप रहते हो, गृहवास से पराङ्मुख ऐसे मेरे भावों को जानते हो।' वे बोले–"हे कुमार! हम आपको संसार से उद्विग्न हैं, ऐसा जानते हैं। तुमको माता–पिता की आज्ञा अलंघ्य है, ऐसा भी मानते हैं। फिर तुम हमारी प्रणय याचना की भी अवमानना करते नहीं हो, तो आज एक साथ सबकी अवमानना कैसे करते हो?" भगवन्त बोले– "अरे मोहग्रस्त मित्रों! तुम्हारा ऐसा आग्रह क्यों है? क्योंकि स्त्री आदि का परिग्रह तो भवभ्रमण का ही कारण है। फिर इस 'मेरे माता पिता के जीवित रहते उनको वियोग का दुःख न हो हेतु से ही मैं दीक्षा लेने में उत्सुक होने पर भी अभी दीक्षा नहीं लें रहा।" इस प्रकार प्रभु कह रहे थे, कि इतने में महाराज की आज्ञा से त्रिशला देवी स्वयं ही वहाँ आयीं। प्रभु तुरन्त ही खड़े हुए और गौरव से माता! आप पधारे वह तो अच्छा हुआ। परंतु आपका यहाँ आने का क्या कारण है, मुझे बुलाया होता तो मैं आपकी आज्ञा से तुरन्त ही आपके पास आ जाता। तब त्रिशला देवी बोले हे पुत्र! अनेक प्रकार के पुण्य उदय के कारणभूत तुम जो हमारे घर में आए हो, यह कोई हमारा अल्पपुण्य नहीं? तुम्हारा अवलोकन करने पर तीन जगत को भी तृप्ति नहीं होती, तो तुम्हारे दर्शन रूप महाद्रव्य के द्वारा धनिक ऐसे हमको कैसे तृप्ति हो? हे पुत्र! हम जानते हैं कि, तुम संसार वास से विरक्त हो, इसके उपरान्त भी हम पर अनुकम्पा करके रह रहे हो। हे विनय के स्थानरूप! यद्यपि तुमने अपनी मनोवृत्ति बाधित करके यह दुष्कर कार्य किया है, तथापि इतने

मात्र से हमको तृप्ति नहीं होती। इसलिए तुमको हम वधू सहित देखकर तृप्ति पाएँ–ऐसा करने के लिए सम्मुख आई यशोदा नामकी राजपुत्री के साथ विवाह करो। तुम्हारे पिता भी तुम्हारा विवाहोत्सव देखने को उत्कंठित है। इसलिए हम दोनों के आग्रह से यह दुष्कर कार्य करो।'' इस प्रकार माता के वचन सुनकर प्रभु का चिंतन चल पड़ा कि ''आज यह मुझ पर क्या आ पड़ा? एक तरफ माता का आग्रह है और दूसरी ओर संसार परिभ्रमण का भय है। माता को दुःख होता है ऐसी शंका से मैं गर्भ में भी अंग संकुचन करके रहा था। तो अब उनकी मनोवृत्ति दुखित न हो इस प्रकार गृहवास में ही मुझे रहना चाहिये। और फिर मेरे भोगावाली कर्म भी अभी शेष हैं और माता–पिता भी यही चाहते हैं।' इस प्रकार चिंतन करके प्रभु ने माता के शासन को मान्य किया।

(गा. 123 से 149)

पश्चात् त्रिशला देवी सिद्धार्थ राजा के पास आये और विवाह के संबंध में पुत्र द्वारा दी गई सम्मति ज्ञात कराई। पवित्र दिन में सिद्धार्थ राजा ने महावीर कुमार और यशोदा का विवाहोत्सव जन्मोत्सव के समान किया। त्रिशला रानी और सिद्धार्थ राजा वरवधू को देखकर अपनी आत्मा को धन्य मानते, मानो अमृत रस का पान किया हो वैसे हर्षित हुए। माता पिता के नेत्र को चंद्ररूप प्रभु यशोदादेवी के साथ विषयसुख को अनासक्ति से भोगने लगे। समय व्यतीत होने पर प्रभु से त्रिशला देवी को नाम और रूप से प्रियदर्शना नामकी दुहिता हुई। महाकुलवान और समृद्धिवान जमालि नामक राजपुत्र इस यौवनवती प्रियदर्शना के साथ परणा।

(गा. 150 से 155)

प्रभु के जन्म से अट्ठावीस वर्ष व्यतीत हुए तब उनके माता पिता अनशन से मृत्यु को प्राप्त करके अच्युत देवलोक में देव हुए। सिद्धार्थ राजा और त्रिशला देवी का जीव अच्युत देवलोक में से च्यव कर अपरविदेह क्षेत्र में मनुष्यभव प्राप्त करके अव्यय पद का वरण करेंगे। माता–पिता के अंगसंस्कार करने के बाद कुछ दिन बीत जाने पर शोकमय हुए अंतःपुर सहित नंदीवर्धन को प्रभु बोले–'हे बंधु! जीव के मृत्यु तो हमेशा पास ही रही है, और यह जीवन नाशवंत है, इसलिए मृत्यु प्राप्त हो जाने के पश्चात् शोक करना यह उसका प्रतिकार नहीं है। इसलिए हे भाई! इस समय तो धैर्य का अवलंबन करके धर्म

का आचरण करना चाहिये। शोक करना तो कायर पुरुष को योग्य है। इस प्रकार प्रभु ने बोध दिया। तब नंदीवर्धन स्वस्थ हुए। पश्चात् पिता के राज्य को अलंकृत करने के लिए उनको प्रार्थना की, परंतु संसार से उद्विग्न प्रभु वीर ने जब पिता के राज्य को स्वीकार नहीं किया, तब मंत्रियों ने मिलकर आग्रह पूर्वक नंदीवर्धन का राज्याभिषेक किया।

(गा. 156 से 158)

किसी समय चिरकाल से दीक्षा लेने के इच्छुक महावीर ने आदर सहित अपने भाई नंदीवर्धन से आज्ञा माँगी। तब नंदीवर्धन शोक युक्त गद्गद् वाणी से बोले– हे भ्राता अद्यापि मुझे माता पिता के वियोग का विस्मरण हुआ नहीं, अभी तो सर्व स्वजन भी शोक से विमुक्त हुए नहीं है, ऐसे में तुम वियोग देकर ''क्षत पर क्षार ''(अर्थात् जले पर नमक) छिड़कने का कार्य क्यों कर रहे हो? इस प्रकार ज्येष्ठ बंधु के आग्रह से प्रभु ने भाव यति के अलंकारों से अलंकृत होकर, नित्य कायोत्सर्ग ध्यान में रहकर, ब्रह्मचर्य का पालन करके, स्नान और अंगराग से रहित होकर, विशुद्ध ध्यान में स्थिर होकर एषणीय और प्रासुक अन्न से प्राणवृत्ति करके बड़ी मुश्किल से गृहवास में एक वर्ष व्यतीत किया। तत्पश्चात् लोकांतिक देवताओं ने आकर तीर्थ का प्रवर्तन करने का निवेदन किया। तब प्रभु ने याचकों को इच्छानुसार वार्षिक दान देना प्रारंभ किया। इंद्रादिक देवों ने और नंदीवर्धन आदि राजाओं ने श्री वीरप्रभु का यथाविधि दीक्षाभिषेक किया। राहू के द्वारा चंद्र की भांति भ्राता के विरह दुःख से आकुलित, नंदीवर्धन ने असह्य दुःख से अपने सेवक पुरुषों को आज्ञा दी कि 'देवसभा की तरह सुवर्ण की वेदिका और सुवर्ण के स्तंभवाली, सूर्य सहित मेरुगिरि के तट की तरह सुवर्ण सिंहासन से मंडित, पालक विमान की मानो छोटी बहन हो वैसी घुघरियों की माला की नादवाली, विशाल उर्मियुक्त गंगा नदी की तरह उड़ती ध्वजाओं वाली पचास धनुष लंबी, छत्तीस धनुष ऊंची और पच्चीस धनुष चौड़ी वीर प्रभु के बैठने योग्य चंद्रप्रभा नामक एक शिबिका तैयार करो। तत्काल ही उन्होने वैसी शिबिका तैयार कराई। जैसे देवताओं को मन से कार्य सिद्ध होता है, वैसे राजाओं को वचन से सिद्ध होता है। पश्चात् शक्रेन्द्र ने भी वैसी ही शिबिका तैयार कराई। दोनों ही शोभा में तुल्य शोभावाली होने से मानो जोड़ी उत्पन्न हुई हो, वैसी शोभने लगी। तब देवशक्ति से नदी में नदी की तरह

दूसरी शिबिका पहली शिबिका में अंतर्हित हो गई। जगत् प्रभु ने प्रदक्षिणा देकर शिबिका पर चढ़कर उसमें रहे चरणपीठ युक्त सिंहासन को अलंकृत किया। मांगलिक श्वेत वस्त्रों से चंद्रिका सहित चंद्र की भांति और सर्व अंग पर धारण किये आभूषणों से दूसरे कल्पवृक्ष की तरह प्रभु शोभा देने लगे। प्रभु पूर्वाभिमुख बैठे, तब कुलमहत्तरा स्त्री पवित्र होकर शुद्ध वस्त्रों को पहन कर, विचित्र रत्नालंकारों को धारण करके, शाखा द्वारा वृक्ष की तरह, हाथ में वस्त्र से युक्त शोभा देती हुई प्रभु के दक्षिण की ओर मन स्थिर करके बैठी। मोती के अलंकारों और निर्मल वस्त्रों को पहन कर एक स्त्री प्रभु के मस्तक पर चांदनी की जैसे चंद्र को धारण करती है, वैसे छत्र धारण करके खड़ी रही। दो स्त्रियाँ सर्व अंग में सुवर्णाभरण पहन कर मेरु पर्वत के तट में दो चंद्र के समान प्रभु के दोनों ओर सुंदर चंवर लेकर खड़ी रही। एक बाला रजत की झारी हाथ में लेकर वायव्य दिशा में खड़ी हुई। एक स्त्री तालवृंत हाथ में लेकर अग्नि दिशा में खड़ी हुई। शिबिका के पृष्ट भाग में वैडूर्य रत्न के दंडवाले और एक हजार आठ सुवर्ण की शलाका वाले पांडु छत्र को लेकर राजा खड़े रहे। शिबिका के दोनों ओर सुधर्म एवं ईशान इंद्र तोरण के स्तंभ की तरह चंवर लेकर खड़े रहे। एक हजार पुरुषों से उठाई जाने वाली वह शिबिका प्रथम सेवक पुरुषों ने उठाई। पश्चात् शुक्र, ईशान, बलि और चमर प्रमुख इंद्रों ने तथा देवताओं ने उठाई। उसमें दक्षिण के ऊपर के भाग से शक्र इंद्र ने उठाई। उत्तर के भाग से ईशानपति ने उठाई और दक्षिण तथा उत्तर के बाजु के अधो भाग से चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने धारण की। इसी प्रकार अन्य भुवन पति देवताओं ने अपनी अपनी योग्यता के अनुसार वहन की। उस समय अत्यन्त त्वरित गति से जाते आते अनेक देवताओं से वह स्थान सायंकाल में पक्षियों से आकाश के समान संकीर्ण हो गया। देवताओं से वहन करी हुई उस शिबिका द्वारा अनुक्रम से प्रभु ज्ञातखंड नामक उत्तम उपवन के समीप में पधारे। वह उपवन, प्रिय के समान हिमऋतु के आगमन से मानो रोमांचित हुई हो, वैसी चारोली की लताओं से मनोहर लग रहा था। मानो वनलक्ष्मी ने कसुंबा के रक्तवर्णीय वस्त्र पहने हो वैसे पक्क नारंगी के वनद्वारा अंकित था। कृष्ण इक्षुखंड में परस्पर पात्ररूप से आश्लेष करते भंवरों की आवाज से मुसाफिरों को बुला रहा हो वैसा लगता था। उस उद्यान में प्रवेश करने के बाद प्रभु ने शिबिका से उतर कर सर्व आभूषणों को त्याग दिया। उस समय इंद्र ने प्रभु के स्कंध पर एक देवदूष्य वस्त्र डाला। पश्चात्

त्रिजगत्पति ने पंचमुष्ठि के द्वारा सर्व केशों का लोच किया। शक्र इंद्र ने वे केश दूष्य वस्त्र में लेकर क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। तब प्रभु ने सिद्ध भगवन्त को नमस्कार करके चारित्र ग्रहण किया। जन्म से तीस वर्ष निर्गमन होने पर मार्गशीर्ष मास की कृष्ण दशमी को चंद्र के हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर दिवस के अंतिम प्रहर में छठ (बेला–२ उपवास) किया है, जिन्होंने ऐसे प्रभु को चारित्र के साथ ही मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ।

(गा. 159 से 199)

आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य के दशम पर्व में श्री महवीर जन्म, प्रवज्या वर्णन नामक द्वितीय सर्ग।।

तृतीय सर्ग

श्री महावीर प्रभु का प्रथम के ६ वर्ष का विहार

दीक्षा लेने के पश्चात् तीन जगत् के नाथ महावीर प्रभु ने वहाँ से अन्यत्र विहार करने के लिए अपने सहोदर बंधु नंदीवर्धन की और अन्य भी ज्ञातवंश के पुरुषों की आज्ञा ली। प्रभु जब चारित्र रूपी रथ पर आरूढ़ होकर चले, तब उनके पिता का मित्र सोम नामक एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आकर प्रभु को नमन करके बोला कि 'हे स्वामी! आपने स्वयं की और परकी अपेक्षा बिना सांवत्सरिक दान दिया, इससे सर्व जगत् दारिद्रय रहित हो गया। परंतु मैं एक मंदभाग्य दरिद्री रह गया हूँ। हे नाथ! मैं जन्म से ही महादरिद्री हूँ और अन्यों से प्रार्थना करने के लिए अहर्निश ग्रामोग्राम भटकता रहता हूँ। किसी स्थान पर निर्भर्त्सना होती है, तो कहीं जवाब भी नहीं मिलता और कहीं कोई मुंह मरोड़ता है। यह सब मैं सहन करता हूँ। आपने दान दिया, तब मैं धन की आशा से बाहर घूम रहा था। इससे मुझे आपके वार्षिक दान का पता ही नहीं चला। आपका दान मेरे लिए निष्फल गया। इसलिए हे प्रभु! अभी भी मुझकर कृपा करके दान दीजिए। क्योंकि मेरी पत्नि ने मुझे तिरस्कार करके आपके पास भेजा है। प्रभु करूणा लाकर बोले– हे विप्र! अब तो मैं निस्संग हो गया हूँ। तथापि मेरे स्कंध पर जो वस्त्र है, उसका अर्धभाग तू ले ले। वह विप्र अर्ध वस्त्र लेकर हर्षित होता हुआ अपने घर गया। उसने वस्त्र पल्ले बंधवाने के लिए बुनकर के यहाँ जाकर उसे बताया। उस वस्त्र को देखकर बुनकर ने पूछा कि 'यह वस्त्र तुमको कहाँ मिला ? ब्राह्मण ने कहा कि–'श्री महावीर प्रभु के पास से।' बुनकर बोला कि 'हे विप्र! तू वापिस जा और इसका अर्धभाग भी मुनि के पास से ले आने के लिए उनके पीछे पीछे ही फिरता रह। उन मुनि के अटन करते समय किसी स्थान पर काँटे आदि फंसकर वह अर्धभाग भी कहीं गिर जाएगा। वे निस्पृह मुनि पुनः उसको ग्रहण करेंगे नहीं। तब तू उसे लेकर यहाँ आ जाना। उसके दोनों भागों

का योजन करके मैं उस वस्त्र को शुक्ल पक्ष के चंद्र के समान एक संपूर्ण कर दूंगा। उसका मूल्य एक लाख दीनार होगी। वह अपने सहोदर बंधु की तरह आधा आधा बांट लेंगे। 'बहुत अच्छा' यह कहकर वह ब्राह्मण वापस प्रभु के पास आया।

(गा. 1 से 14)

ईर्यासमिति का शोधन करते हुए चलते चलते प्रभु कूर्मार ग्राम में आ पहुँचे। वहाँ नासिका के अग्र भाग पर नेत्र का आरोपण करके दोनों भुजा लंबी करके प्रभु स्थाणु की भांति प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय कोई ग्वाला संपूर्ण दिन वृषभ को हांककर, गाँव की सीमा के पास जहाँ प्रभु कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे, वहाँ आया। उसने विचार किया कि 'ये मेरे वृषभ यहाँ पर ही चरते रहें। मैं गांव में जाकर गायें दुहकर वापिस आ जाऊँगा।' ऐसा सोचकर वह गांव में गया। बैल चरते चरते किसी अटवी में घुस गए। कारण कि गोप के बिना वे एक स्थान पर रह नहीं सकते। फिर वह गोपाल गांव से वहाँ आया, और उसने प्रभु को पूछा कि 'मेरे बैल कहाँ है'? प्रतिमाधारी प्रभु कुछ बोले नहीं। जब प्रभु कुछ बोले नहीं, तब गोप ने सोचा कि 'यह कुछ जानते नहीं है।' तब वह अपने बैलों को शोधने लगा। ढूंढ़ते २ सारी रात व्यतीत हो गई। वे बैल घूमते घूमते वापिस जहाँ प्रभु थे, वहाँ आ गये और स्वस्थ चित्त से वहाँ जुगाली करते हुए बैठे देखकर सोचने लगा कि 'इन मुनि ने मेरे बैलों को प्रभात में ले जाने की इच्छा से छिपा दिये होंगे।' ऐसा विचार करके वह अधम गोप जल्दी से बैलों की रस्सी उठा कर प्रभु को मारने के लिए दौड़ा। उस समय शक्र इन्द्र को विचार आया कि प्रभु आज प्रथम दिन में क्या कर रहे है? देखूं। ऐसा विचार करके ज्ञान के द्वारा उपयोग लगाया। वहाँ तो उस गोप को प्रभु को मारने को उद्यत देखा। तब शीघ्र उसे स्थंभित करके, प्रभु के समीप आकर तिरस्कार पूर्वक उस गोप को कहा कि– 'अरे पापी! इन सिद्धार्थ राजा के पुत्र को क्या तू नहीं जानता? तब इंद्र ने तीन प्रदक्षिणा पूर्वक मस्तक द्वारा प्रणाम करके प्रभु को विज्ञप्ति की, कि 'हे स्वामी! आपको बारह वर्ष तक उपसर्गों की परंपरा होगी। इसलिए उसका निषेध करने के लिए मैं आपका परिपार्श्वक होना चाहता हूँ। प्रभु ने समाधि पार कर इंद्र से कहा– ''अर्हन्त कभी भी पर सहाय की अपेक्षा नहीं रखते हैं। साथ ही अर्हत् प्रभु अन्य की सहायता से केवलज्ञान उपार्जन करे ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं। जिनेन्द्र तो

स्ववीर्य से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं एवं अपने वीर्य से ही परम पद को प्राप्त करते है। प्रभु के ऐसे वचन सुनकर इंद्र बालतप से व्यंतर देव में उत्पन्न हुए प्रभु की मौसी के पुत्र सिद्धार्थ को आज्ञा दी कि तुझे प्रभु के पास ही रहना है और जो भी प्रभु को मारने आदि का उपसर्ग करे उसको रोकना है। ऐसा कहकर इंद्र स्वस्थान पर गये और सिद्धार्थ उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके प्रभु के पास ही रहा।

(गा. 15 से 33)

वीर प्रभु छट्ठ का पारणा करने के लिए कोल्लाक गांव में गये। वहाँ बहुल नाम के ब्राह्मण के घर परमान्न (खीर) का पारणा किया। उस ब्राह्मण के घर देवताओं ने वसुधारा आदि पाँच दिव्य प्रकट किये।

(गा. 34 से 35)

पश्चात् चंद्र जैसी शीतल लेश्या वाले सूर्य के समान तप के तेज से दुःख से देखे जा सके वैसे गजेन्द्र के सदृश बलवान, सुमेरु की भांति निश्चल, पृथ्वी की तरह सर्व स्पर्श को सहन करने वाले, समुद्र जैसे गंभीर, सिंह के समान निर्भय, घृतादि का हवन करे हुए अग्नि के सदृश मिथ्यादृष्टियों को अदृश्य, गेंडे के शृंग के समान एकाकी, बड़े सांढ के समान महाबलवान्, कूर्म की भांति इंद्रियों का गोपन करने वाले, सर्प के सदृश एकांत दृष्टि स्थापक, शंख की तरह निरंजन, सुवर्ण की तरह जातरूप (निर्लेप), पक्षी की भांति मुक्त, जीव की तरह अस्खलित गति वाले, भारंड पक्षी की भांति अप्रमत्त, आकाश की तरह निराश्रय, कमल दल के सदृश लेप रहित, तथा शत्रु व मित्र, तृण और स्त्री, सुवर्ण तथा पाषाण, मणि और मृत्तिका, आलोक व परलोक, सुख और दुःख तथा संसार और मोक्ष में समान हृदय वाले, निष्कारण करुणालु मन के कारण भवसागर में डूबे हुए मुग्ध जगत् का उद्धार करने की इच्छावाले प्रभु, सागर मेखलावाली और विविध ग्राम पुर तथा अरण्यवाली इस पृथ्वी पर पवन की तरह अप्रतिबद्ध रूप से विहार करने लगे।

(गा. 37 से 45)

दीक्षा के साथ देवताओं ने प्रभु के शरीर पर जो सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया था, उसकी सुगंध से आकर्षित होकर भ्रमरगण प्रभु को उपद्रव करने लगे। गाँव के तरुण पुरुष प्रभु से उस सुगंध की युक्ति मांगने लगे। तरुण

स्त्रियाँ काम ज्वर के औषध रूप उनके अंग के संग की याचना करने लगीं। दीक्षा के दिन से लेकर चार माह तक प्रभु ने पर्वत की तरह स्थिर रहकर संबंधित उपसर्गों को सहन किया।

(गा. 46 से 48)

किसी समय प्रभु विहार करते करते मोराक सन्निवेश में आए। वहाँ दुइज्ञंतक जाति के तापस रहते थे। उन तापसों का कुलपति प्रभु के पिताश्री का मित्र था। वह प्रभु के पास आया। पूर्व के अभ्यास से प्रभु ने उससे मिलने के लिए उसके सामने हाथ फैलाया। कुलपति ने वहाँ रहने की प्रार्थना की। तब सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर एकरात्रि की प्रतिमा धारण करके वहाँ रहे। प्रातः काल में विहार करने की इच्छा करते हुए प्रभु को कुलपति ने विज्ञप्ति की, कि 'इस एकांत स्थान में आप वर्षाकाल निर्गमन करना।' यद्यपि प्रभु वीतरागी थे, परंतु उनके आग्रह से उनके वचनों को स्वीकार करके शंख की भांति निरंजन रूप से वहाँ से अन्यत्र विहार करने चल दिये। वायु की तरह प्रतिबंध रहित और कमलपत्र के सदृश निर्लिप्त प्रभु ने सर्वत्र विहार करते हुए ग्रीष्म काल व्यतीत किया। पश्चात् अपने पिता के मित्र उस कुलपति को दिये वचन का स्मरण करके चातुर्मास करने के लिए मोराक सन्निवेश में पुनः पधारे। वर्षाऋतु में मेघ गर्जना करके धारागृह की तरह अखंड धारा से बहने लगा एवं हंस के समान मुसाफिर अपने अपने स्थान में जाने लगे। इस समय पूर्वोक्त कुलपति ने प्रभु के साथ भतीजेपने सा स्नेह संबंध हृदय में चिंतन करके तृण से आच्छदित करा एक घर प्रभु को रहने के लिए अर्पित किया। उसमें बड़वाई वाले वृक्ष के समान आजानु प्रलंब भुजा वाले प्रभु मन को नियंत्रित करके रहे। उस समय ग्रीष्म ऋतु के महात्म्य से जिसके सर्व तृण शुष्क हो गये हैं ऐसे एवं जिसमें नवीन वर्षाऋतु के कारण अभी नए तृण अंकुरित नहीं हुए थे, इस कारण ग्राम की गायें तापसों के झोंपड़ियों के तृण को खाने के लिए दौड़ने लगी। तब निर्दय तापस यष्टियाँ (लकड़ियों) से गायों को मार कर भगाने लगे। जब उन्होंने उन गायों को मार भगा दी, तब वे गायें जिसमें प्रभु रहते थे, उस झोंपड़ी को खाने लगी। "प्रभु तो वहाँ स्तंभ की तरह स्थिर रहते थे, अतः उनको वहाँ किसका भय लगे ?" यह देख तापस लोग प्रभु के ऊपर क्रुद्धित होकर अंदर अंदर बोलने लगे कि 'जिस प्रकार हम हमारी झोपड़ियों का रक्षण करते है, वैसे यह मुनि तो उसकी झोंपड़ी

का रक्षण करता नहीं है। अहो! यह इन कुलपति का अतिथि कौन है? कि जिसके देखते हुए गायें जिसकी झोंपड़ी को खा जाती है। अहो! कैसा स्वार्थ निष्ठपन है? क्या करें? यह अतिथिकुलपति को आत्मा के जैसे प्रिय है। उसके भय के कारण हम कुछ भी कठोर वचन बोल नहीं सकते हैं।' ऐसा सोच कर एक बार वे तापस प्रभु पर मन में बहुत मत्सर भाव लाकर कुलपति के पास गए और उपालंभ देते हुए इस प्रकार बोले कि, 'हे कुलपति! आप अपने आश्रम में कैसे ममता रहित मुनि को अतिथि रूप में लाए हो कि उसके अंदर रहने पर भी उसकी झोंपड़ी नष्ट हो गई। वह अतिथि ऐसा अकृतज्ञ, उदासीन, दाक्षिण्यता रहित और आलसी है कि गायों के खाने पर भी उसका रक्षण करता नहीं है। अपनी आत्मा को मुनि मानने वाला कदाच यह अतिथि समता धारण करके गायों को निकालता नहीं, तो क्या गुरुदेव को अर्चन वाले हम मुनि नहीं हैं?' तापसों के ऐसे वचन सुनकर कुलपति प्रभु के पास आए तो देखा पंख आए पक्षी की भांति वह आश्रम आच्छादन रहित दिखाई दिया। तब सोचा कि ये तापस ईर्ष्या रहित और सत्य बोलने वाले हैं। तब प्रभु को कहा कि हे तात! आपने झोंपड़ी की रक्षा क्यों नहीं की? आपके पिताश्री ने तो यावज्जीवन सर्व आश्रमों की रक्षा की हैं। दुष्टों को शिक्षा करना यह तुम्हारा योग्य व्रत है। पक्षिगण भी अपने घोंसलों का आत्मा की तरह रक्षण करते हैं, तो आप विवेकी होकर भी आश्रम की उपेक्षा क्यों करते हो? इस प्रकार अपने विवेक योग्य शिक्षा देकर यह वृद्ध तापस सिद्धार्थ की मित्रता का स्मरण करते हुए पुनः अपने आश्रम में गया।

(गा. 49 से 73)

प्रभु ने सोचा कि "मेरे निमित्त से इन सबको अप्रीति होगी। इसलिए सर्व के हितंकर प्रभु ने सोचा कि मेरा यहाँ रहना योग्य नहीं है। इस प्रकार चिंतन करके और अधिक वैराग्य को धारण करके प्रभु ने उस समय पाँच अभिग्रह धारण किये। कभी भी जहाँ अप्रीति हो उसके घर रहना नहीं। २. जहाँ रहे, वहाँ कायोत्सर्ग में ही रहे। ३ प्रायः मौन धारण करके रहे। ४. करपात्र में ही भोजन करे ५. गृहस्थ का विनय न करना। इस प्रकार पांच अभिग्रह लेकर वर्षाऋतु का अर्धमास व्यतीत हो जाने पर भी वहाँ से विहार करके प्रभु अस्थिक नामक गांव में आए।

(गा. 74 से 78)

प्रभु ने वहाँ रहने के लिए ग्राम वासियों को विज्ञप्ति की। तब वे ग्रामीण बोले कि ''यहां एक यक्ष है, वह किसी को भी रहने नहीं देता है। उस यक्ष की भी लंबी कथा है। वह सुनो–यहाँ पहले वर्द्धमान नामक शहर था। यहाँ दोनों ही तट पर पंकिल वेगवती नामक नदी है। एक बार धनदेव नाम का कोई वणिक् किराने के गाडे भरकर यहाँ आया था। उसके पास एक बड़ा वृषभ था। उस बड़े वृषभ को आगे करके उसने सब गाडे नदी से पार कर दिये। अति भार को खींचने की वजह से उस वृषभ के मुंह से रूधिर का वमन हुआ और वह जीर्ण हुए सात्विक अश्व की भांति पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर उस वणिक् ने उस गांव के सब लोगों को एकत्रित करके उस वृषभ की साक्षी से कहा कि ''मैं अपने जीवन जैसे इस वृषभ को यहाँ धरोहर की तरह छोड़ कर जा रहा हूँ। इसका तुम सबको भलीभांति पालन पोषण करना हैं। वणिक ने घासचारे के लिए उन ग्राम्यलोकों को बहुत सा धन दिया। 'स्वामी का यही धर्म है।' ऐसा करके वृषभ का प्रिय करके, आंखों में अश्रु लाकर अन्यत्र चला गया। उन पापी ग्रामीणों ने घासचारे के लिए धन लिया। परंतु जिस प्रकार कुवैद्य धन लेने पर भी रोगी की सार संभाल नहीं करता वैसे उस वृषभ की भी सार संभाल नहीं की। जिसका हृदय ही टूट गया है ऐसा और क्षुधा व तृषा से पीड़ित उस वृषभ के अंग पर मात्र अस्थि और चर्म ही अवशेष रहे अर्थात् वह सूख कर कांटा हो गया। वह सोचने लगा कि 'यह गांव बहुत ही निर्दय, पापी निष्ठुर, चांडाल के जैसा और बहुत ही ठग है। इन्होंने करुणा लाकर मेरा पालन करना तो दूर रहा, परंतु मेरे स्वामी ने जो मेरे दाना–पानी, घास चारे के लिए धन दिया था, वह भी खा गये। इस प्रकार उस गांव के लोगों पर क्रुद्धित वह वृषभ अकाम निर्जरा करके मरकर शूलपाणि नामक व्यंतर हुआ है।

(गा. 79 से 92)

उसने विभंग ज्ञान से अपने पूर्वजन्म की कथा जानी और अपना वृषभ रूप शरीर भी देखा। इससे उसे गांव के लोगों पर बहुत क्रोध आया। तब मानो महामारी का अधिकारी देव हो वैसे उसने उस गांव में महामारी के रोग की विकुर्वणा की। इससे वहाँ मरे हुए लोगों की हड्डियों का ढेर हो गया। गांव के आतुर लोग इस विषय में ज्योतिष आदि से मरकी की शांति के लिए उपाय पूछने लगे और जिस प्रकार वैद्य की आज्ञा का पालन रोगी करता है उसी प्रकार उनकी आज्ञा के अनुसार महामारी की शांति के लिए अनेक प्रकार के

उपाय करने लगे। वे सभी गृहदेवियों की भी स्नान पूजा करने लगे तथापि महामारी की शांति किंचित् मात्र भी नहीं हुई। तब इस गांव के लोग यह गांव छोड़ कर अन्य गांवों में चले गये। परंतु यमराज का युवराज जैसा वह क्रोधी व्यंतर उनको वहाँ भी मारने लगा। तब सर्व गाँव के लोगों ने विचारणा की कि 'अपन ने किसी देव, दैत्य, यक्ष या क्षेत्रपाल को कुपित किया है। इसलिए वापिस उसी गांव में जावें और उसे प्रसन्न करने का उपाय करें। तब वे इस प्रकार की विचारधारा के अनुसार एकत्रित होकर वापिस यहाँ आगए। यहाँ आकर उन्होंने स्नानादि करके श्वेत वस्त्र धारण करके, उत्तरासंग धरकर केशों को खुला करके चत्वर व त्रिकों (चौराहें–तिराहे) आदि में, उद्यान की भूमि में, तथा भूतगृहों में, इसी प्रकार अन्य सर्व स्थानकों में बलि उड़ाते, दीन वदन से मुख ऊंचा करके अंजलीबद्ध होकर इस प्रकार कहने लगे कि–''हे देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों और किन्नरों! हमने प्रमाद से जो कोई आपका अपराध किया हो तो उसे क्षमा करो। महान पुरुषों को कोप यदि बड़ा हो तो भी वह प्रणाम तक ही सीमित रहता है। इसलिए यदि किसी की हमसे विराधना हुई हो तो प्रसन्न होंवे।'' इस प्रकार गांव के लोगों की दीन वाणी को सुनकर वह व्यंतर आकाश में स्थित होकर बोला– 'अरे! लुब्धक के जैसे दुराशय वाले लोगों! तुम सब अब मुझे खमाने आए हो? परंतु उस समय क्षुधा–तृषा से पीड़ित ऐसे वृषभ के लिए उस वणिक् ने घास चारे के लिए धन भी दिया था, तो उससे तुम लोगों ने घास या पानी कुछ भी दिया नहीं था। वह वृषभ मरकर मैं शूलपाणि नामक यक्ष हुआ हूँ। उस वैर से मैं तुम सबको मार डालूंगा। वह बात याद करो।' ऐसे वचन सुनकर पुनः धूपादिक करके पृथ्वी पर लोटकर दीन होकर इस प्रकार बोलने लगे– ''हे देव! हमने तुम्हारा अपराध अवश्य किया है, तथापि अब हमें क्षमा करो। अन्य किसी की शरण के बिना अब हम तुम्हारी ही शरण में आए हैं। उनके इस प्रकार के वचन सुनकर वह व्यंतर कुछ शांत होकर बोला–ये जो मनुष्य की अस्थियाँ पड़ी हैं, इन सबको संचित करके, इसके ऊपर मेरा एक देवालय बनाओ। उसमें वृषभरूप की मेरी मूर्ति स्थापित कराओ। ऐसा करने पर ही मैं तुमको जीवन दूंगा, अन्यथा नहीं। तब सभी गांव के लोगों के मिलकर वैसा ही किया। इंद्रशर्मा नामक एक ब्रह्मण को वेतन देकर उस शूलपाणि का पुजारी बनाया। यहाँ हड्डियों का संचय है, इससे इस गांव का नाम वर्द्धमान होने पर भी तब से लोक में अस्थिक नाम से प्रख्यात् हुआ। जो

कोई कार्पटिक विश्रांत होकर इस यक्ष के मंदिर में रात्रिनिवास करता है, उसे वह शूलपाणि कृतान्त की तरह मार डालता है। यहाँ के लोग और इँद्रशर्मा पुजारी भी दिन में यहाँ रहकर सायंकाल में अपने अपने घरों में चले जाते हैं। इसलिए आपका भी यहाँ रहना योग्य नहीं हैं।'

(गा. 93 से 116)

इस प्रकार कहकर उस गांव के लोगों ने वीरप्रभु को अन्य स्थान रहने के लिए बताया। परंतु प्रभु ने वह स्वीकार न करके उस यक्ष के स्थान की ही मांग की। तब गांव के लोगों ने आज्ञा दी। बोध के लिए योग्य ऐसे उस व्यंतर को जानते हुए प्रभु यक्ष के उस स्थान में एक कोने में प्रतिमा धारण करके खड़े रहे। इंद्रशर्मा पुजारी ने सायंकाल धूप करके अन्य मुसाफिरों को वहाँ से निकाल कर भगवंत को भी कहा– 'हे देव! आप भी इस स्थान से बाहर निकल जाएँ, क्योंकि यह व्यंतर क्रूर होने से आपको मरणांत कष्ट देगा। तथापि प्रभु तो मौन धारण करके वहाँ ही स्थित रहे। उस व्यंतर ने विचार किया कि अहो! यह कोई मरने का इच्छुक मेरे स्थान में आया लगता है, क्योंकि गांव के लोग और मेरे पुजारी ने बारम्बार निषेध किया, तो भी यह गर्विष्ट मुनि यहाँ पर ही रात्रिवास करके रहा है, तो अब मैं उसके गर्व को खंडित करूँ। पुजारी तो समय होने पर वहाँ से चला गया एवं सूर्य अस्त हो गया। तब जहाँ प्रभु कायोत्सर्ग में स्थित थे, वहाँ उस व्यंतर ने अट्टहास्य किया। चतुर्दिक् प्रसरते अतिरौद्र अट्टहास्य के शब्दों से मानो आकाश ही फूट गया हो और नक्षत्रमंडल टूट पड़ा हो ऐसा लगने लगा।' यह सुनकर गांव के लोग परस्पर कहने लगे कि–

(गा. 117 से 124)

अवश्य ही उन मुनि को अभी वह व्यंतर मार डालेगा। उस समय पार्श्व नाथ जी के साधुओं में घूमने वाला उत्पल नामक परिव्राजक जो कि निमित्तक ज्ञान में पंडित था, वह वहाँ आया उसने लोगों से उन महावीर देवार्य का वृत्तांत सुना। इससे 'चाहे वो अंतिम तीर्थंकर हो! ऐसा सोचकर उसके हृदय में धीरज रही नहीं अर्थात् उसे बहुत ही चिंता होने लगी। इधर उस व्यंतर ने महाभयंकर अट्टहास्य किया। किन्तु उससे प्रभु को जरा भी क्षोभ नहीं हुआ, तो उस व्यंतर ने विकराल हाथी के रूप की विकुर्वणा की। प्रभु ने उस हाथी के रूप की भी अवगणना की। तब उसने भूमि और आकाश के मानदंड जैसा पिशाच का रूप

बनाया। उससे भी प्रभु क्षुभित नहीं हुए। तब उस दुष्ट ने यमराज के पाश जैसा भयंकर सर्प का रूप धारण किया। अमोघ विष के झरने जैसे उस सर्प ने प्रभु के शरीर को दृढ़ रीति से जकड़ लिया और उग्र दाढ़ों से प्रभु को डसने लगा। परंतु सर्प उसमें भी निष्फल गया। इस निष्फलता से उस दुष्ट यक्ष ने तब प्रभु के सिर, नेत्र, मूत्राशय, नासिका, दांत, पृष्ठ और नख इन सात स्थानों पर असह्य वेदना प्रकट की। इनमें से एक वेदना भी सामान्य मनुष्य को तो मृत्यु का वरण ही करा दे, तथापि प्रभु ने वह सब सहन किया। इस प्रकार अनेकों उपसर्ग कर करके जब वह व्यंतर थक गया, तब वह विस्मित हो अंजलीबद्ध होकर कहने लगा– हे दयानिधि! आपकी शक्ति से अज्ञात मुझ दुरात्मा ने आपका अत्यन्त अपराध किया है। वह क्षमा करें। उस समय वह सिद्धार्थ देव कि इतने समय तक जिसका मन कार्य में व्यग्र था, उसे अब प्रभु के पास रहने की इंद्र की आज्ञा याद आई। वह तत्काल ही वहाँ आकर बड़े आक्रोश से बोला कि – देवाधम शूलपाणि! अप्रार्थित मृत्यु की प्रार्थना करने के समान तूने यह क्या किया ? हे दुर्मति! ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र तीर्थंकर भगवंत वीरप्रभु हैं, जो कि त्रिजगत्पूज्य हैं। क्या तू इनको नहीं जानता ? यदि तेरा यह चरित्र प्रभु के भक्त शक्रेन्द्र जानेंगे तो तू उनके वज्र की धारा का भोग हो जाएगा। सिद्धार्थ देव के इन वचनों को सुनकर शूलपाणि भय और पश्चात्ताप से आकुल व्याकुल हो गया। इससे उसने प्रभु को पुनः खमाया। क्योंकि उस समय अन्य कोई भी उपाय था नहीं। उसे प्रशांत हुआ देखकर दयालु सिद्धार्थ देव ने कहा कि "अरे! तू अभी तत्त्व को जानता नहीं है, इसलिए जो यथार्थ तत्त्व है, वह सुन–वीतराग में देवबुद्धि, साधुओं में गुरुबुद्धि एवं जिनेश्वर भगवंत कथित धर्म में धर्मबुद्धि इसे आत्मसात कर। अब से अपनी आत्मा की भाँति किसी भी प्राणी को पीड़ा करना नहीं। पूर्वकृत सभी दुष्कृत्यों की निंदा कर। प्राणी एकबार भी आचरित तीव्र कर्म का फल कोटाकोटि गुण प्राप्त करता है।" इस प्रकार तत्त्व सुनकर शूलपाणि यक्ष पूर्वकृत अनेक प्राणियों के घात का स्मरण करके बार बार अपनी आत्मा की निंदा करने लगा एवं अत्यंत पश्चात्ताप करके लगा। पश्चात् समकित धारण करके संसार से उद्विग्न उस यक्ष ने प्रभु के चरणों की पूजा की तथा अपने अपराध रूप मल को धोने में जल के सदृश संगीत प्रभु के समक्ष करने लगा। उस संगीत के शब्दों को श्रवण कर गांव के लोग सोचने लगे कि 'उन मुनि को मारकर अब वह यक्ष क्रीड़ा कर रहा होगा।'

(गा. 125 से 146)

प्रभु को कुछ कम चार प्रहर तक शूलपाणि ने कदर्थना की, इससे श्रमित प्रभु को कुछ निद्रा आई। जिसमें उन्होंने इस प्रकार १० स्वप्न देखे–

१. प्रथम स्वप्न में वृद्धिंगत होते तालपिशाच का स्वयं ने हनन किया, ऐसा देखा।

२. दूसरे स्वप्न में श्वेत कोकिल ३. तीसरे स्वप्न में विचित्र कोकिल को स्वयं की सेवा करते देखी ४. चौथे स्वप्न में दो सुगन्धित मालाएं देखी। ५ पांचवें स्वप्न में पद्म से परिपूर्ण पद्मसरोवर देखा ७. सातवें में स्वयं को दो भुजाओं से सागर को तिरता हुआ देखा। ८. आठवें में किरणों को प्रसारित करता सूर्यबिम्ब देखा। ९. नवें स्वप्न में अपनी आंतों से लिपटा हुआ मेरु पर्वत देखा। १०. दसवें स्वप्न में स्वयं को मेरुगिरि के शिखर पर आरुढ़ हुआ देखा। इस प्रकार दस स्वप्न देखकर प्रभु जागृत हुए। इतने में मानों उनको वंदन करने को इच्छुक हो ऐसे सूर्योदय हुआ। उस समय गांव के सभी लोग, इंद्रशर्मा पुजारी एवं उत्पल नैमितिक वहाँ आया। प्रभु को अक्षत अंगवाले एवं पूजा की हुई देखकर सभी हर्षित हुए। पश्चात् आश्चर्य चकित होकर पुष्पादिक द्वारा प्रभु की पूजा करके रण में विजय प्राप्त की हो उस भांति उन्होंने जोर से सिंहनाद किया। तब वे परस्पर कहने लगे 'अपन ने भाग्ययोग से ही इन देवार्य प्रभु को दुष्ट व्यंतर के उपद्रव से कुशलतापूर्वक देखा है।'

(गा. 147 से 154)

उत्पल नैमित्तिक ने प्रभु को पहचान कर वंदना की और लघुशिष्य की तरह वह प्रभु के चरणकमल के पास बैठा। भगवंत के कायोत्सर्ग पारने के पश्चात् उत्पल ने प्रभु को पुनः वंदना की एवं अपने ज्ञान के सामर्थ्य से प्रभु को आए दसों स्वप्नों को ज्ञातकर वह बोला कि 'हे स्वामी! आपने रात्रि के अंत में जो दस स्वप्न देखें हैं, उनका फल आप स्वयं तो जानते ही हो, तथापि मैं भक्तिवशात् होकर कहता हूँ– हे नाथ! प्रथम स्वप्न में जो तालपिशाच का हनन किया, इससे आप मोह को हनन करोगे। दूसरे स्वप्न में शुक्ल कोकिल देखी इससे आप शुक्ल ध्यान पर आरुढ़ होंगे। तीसरे स्वप्न में जो विचित्र कोकिल देखा इससे आप आर्य द्वादशांगी को प्रकट करेंगे। पांचवें स्वप्न में जो गोवर्ग देखा, इससे आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे। छट्ठे स्वप्न में जो पद्म सरोवर देखा, इससे देवों का समूह आपका सेवकभूत होगा। सातवें स्वप्न में जो आप

समुद्र तिर गये इससे आप इस भव समुद्र को तिर जावेंगे। आठवें स्वप्न में जो सूर्य देखा इससे आपको केवलज्ञान उत्पन्न होगा। नवें स्वप्न में जो आंतों से लिपटा हुआ मानुषोत्तर पर्वत देखा इससे आपका प्रतापयुक्त यश का विस्तार होगा एवं दसवें स्वप्न में जो मेरुगिरि के शिखर ऊपर चढ़े तो आप सिंहासन पर बैठकर धर्मोपदेश देंगे। इस प्रकार नौ स्वप्नों का फल तो मैं जानता हूँ, परंतु चौथे स्वप्न में जो दो मालाएँ देखी उसका फल मैं नहीं जानता हूँ। उस समय भगवंत ने फरमाया इन दो मालाओं का फल इस प्रकार है कि मैं गृहस्थ का और यति का दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन करूँगा।' पश्चात् उत्पल प्रभु को नमन करके अपने स्थान पर चला गया और अन्य जन भी मन में विस्मय प्राप्त करके अपने-अपने स्थान में चले गये।

(गा. 155 से 164)

इधर आठ अर्धमासक्षमण रूप चातुर्मास व्यतीत करके प्रभु ने उस अस्थिक गाँव से अन्यत्र विहार किया। उस समय शूलपाणि यक्ष प्रभु के पीछे पीछे आकर नमस्कार करके कहने लगा कि 'हे नाथ! आप अपने सुख की अपेक्षा किये बिना मात्र मुझ पर अनुकंपा करने के लिये ही यहाँ पधारे थे। परन्तु मेरे जैसा कोई पापी नहीं कि जिसने आप पर यह अपकार किया और आपके जैसा कोई स्वामी नहीं कि जो इतना होने पर भी मेरे लिए उपकारी हुए। हे विश्व के उपकारी! यदि आपने यहाँ आकर मुझे बोध न दिया होता तो अवश्य ही आज मैंने नरकभूमि प्राप्त कर ली होती। इस प्रकार कहकर वह यक्ष भक्तिपूर्वक भगवंत को प्रणाम करके मदरहित हस्ति की भाँति शांत होकर वापिस लौट गया। दीक्षा के दिन से एक वर्ष बीत जाने पर प्रभु वापिस उसी मोराक गांव में आकर बाहर के उद्यान में प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय उस गाँव में अच्छंदक नामक एक पाखंडी रहता था। वह मंत्र तंत्रादि से अपनी आजीविका चलाता था। उसके माहात्म्य को सिद्धार्थ व्यंतर सहन नहीं कर सका। इसलिए उसने वीर प्रभु की पूजा की अभिलाषा से उस सिद्धार्थ ने प्रभु के शरीर में प्रवेश किया। उस समय वहाँ से एक गोपाल जा रहा था, उसने उसे बुलाकर कहा 'तूने सौवीर (एक प्रकार की काँजी) सहित कंमकूर (काग जाति का धान्य) का भोजन किया है और तू बैलों का रक्षण करने के लिए जा रहा है। यहाँ आते समय तूने एक सर्प देखा था, और आज तू स्वप्न में खूब रोया था। अरे गोप! सच कह मैंने जो कहा वह ठीक है ना? गोपाल ने कहा – 'सब ठीक

है।' पश्चात् सिद्धार्थ देव ने उसको विशेष रूप से प्रतीति कराने के लिए बहुत कुछ कहा। यह सुनकर गोपाल को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने गांव में जाकर कहा कि 'अहो! अपने गांव के बाहर वन में एक त्रिकालवेत्ता देवार्य आए हुए हैं। उन्होंने मुझ से प्रतिति हो ऐसा बहुत कुछ बताया है। यह सुनकर गांव के सभी लोग कौतुक से पुष्प अक्षत आदि पूजा का सामान लेकर प्रभु के पास आए। सिद्धार्थ प्रभु के शरीर में संक्रमण करके बोला कि 'तुम सब क्या मेरा अतिशय देखने के लिए आए हो? गांव के लोगों ने 'हाँ' कहा। तब सिद्धार्थ ने पूर्व में उन्होंने जो जो देखा था, किया था, सुना था, कहा था, वह सब यथातथ्य कह सुनाया। सिद्धार्थ ने उनको भविष्य के विषय में भी कहा, यह सुनकर लोगों ने बहुत महिमा से प्रभु की पूजा एवं वंदना की। इस प्रकार प्रतिदिन लोग आ आकर पड़ने लगे। इससे सिद्धार्थ के मन में बहुत ही प्रीति उत्पन्न हो गई।

(गा. 165 से 180)

एक बार गांव के लोगों ने वहाँ आकर कहा, स्वामी! हमारे गांव में एक अच्छंदक नामका ज्योतिष निवास करता है। वह भी आपकी तरह सब जानता है। सिद्धार्थ बोला कि 'वह पाखंडी तो कुछ भी जानता नहीं है। वह तो तुम जैसे भोले प्राणियों का ठग कर अपनी उदरपूर्ति करता है। उन लोगों ने आकर अच्छंदक को कहा– ''अरे! तू तो कुछ भी जानता नहीं है। सर्वभूत, भविष्य और वर्तमान तो नगर के बाहर स्थित रहे हुए देवार्य जानते है। यह सुनकर अपनी प्रतिष्ठा का नाश होने के भय से वह अच्छंदक बोला–अरे लोगों! वास्तव में परमार्थ को नहीं जानने वाले ऐसे व्यक्ति तुम्हारे समक्ष उस जानकारी में रहते हैं। परंतु यदि वह मेरे समक्ष आवे तब मैं जानूं कि वह वास्तव में ज्ञाता है। चलो, आज अभी ही तुम सबके देखते हुए मैं उसकी अज्ञता को खुली कर दूंगा। ऐसा कहकर वह अच्छंदक क्रोधित होकर गांव के कौतुकी लोगों के साथ जहां प्रभु कायोत्सर्ग करके रहे हुए थे, वहाँ शीघ्र ही आया। तब हाथ की अंगुलियों में एक घास का तिनका दोनों छोर से पकड़ कर प्रभु के प्रति बोला कि, कहो यह तिनका मुझसे टूटेगा या नहीं? उसके मन में ऐसा था कि 'ये देवार्य जो कहेंगे इससे मैं विपरीत करूंगा। इससे इनकी वाणी अनृत (झूंठी) हो जावेगी। सिद्धार्थ ने प्रभु के शरीर में संक्रमित होकर कहा कि, 'यह तृण टूटेगा नहीं।' तब अच्छंदक अंगुली सज्ज करके उस तिनके को तोड़ने में तत्पर हुआ। उस समय

इंद्र ने अपनी सभा में बैठे–बैठे विचार किया कि 'अभी वीरप्रभु कहाँ विचरण कर रहे होंगे? उपयोग देकर देखा' तो प्रभु के साथ उस अच्छंदक की चेष्टा उनको दिखाई दी।' तत्काल उन्होंने निश्चय किया कि प्रभु के मुख से निसृत वाणी असत्य नहीं हो।' ऐसा सोचकर उन्होंने अच्छंदक की दसों अंगुलियाँ वज्र से छेद डाली। तृण को तोड़ते हुए उसे इस स्थिति में दुःखी देखकर सब लोग हंसने लगे। वह मूढ़ बुद्धि वाला अच्छंदक उन्मत्त की भांति वहां से अन्यत्र चला गया। तब सिद्धार्थ ने ग्राम्यजनों को कहा कि 'यह अच्छंदक चोर है।' तब लोगों ने पूछा 'स्वामी उसने किसका, क्या चोरा है? सिद्धार्थ बोला– इस गांव में 'एक वीर घोष नाम का सेवक है।' यह सुनते ही वीर घोष ने खड़े होकर प्रणाम करके कहा कि क्या आज्ञा है? तब पुनः सिद्धार्थ ने कहा– 'पूर्व में दशपल प्रमाण का एक पात्र तेरे घर में से खोया है? वीरघोष ने कहा, हाँ। पुनः सिद्धार्थ बोला– वह पात्र इस पाखंडी ने हरण किया है। उसका विश्वास करने के लिए तेरे घर के पीछे पूर्व दिशा में एक सुहांजना (सरगवा–सहजना) का वृक्ष है उसके नीचे एक हाथ जितना खोदकर गाड़ा हुआ है। इसलिए तू जा और वह ले ले। वीरघोष उत्कंठित होकर उसे लेने के लिए घर गया और जिस स्थान पर बताया था, उस इंगित स्थान से वह लेकर वापिस आया। यह देखकर कोलाहल कर रहे ग्रामीणों को पुनः सिद्धार्थ ने कहा– सुनो यहाँ कोई इंद्रशर्मा नामका गृहस्थ है? लोगों ने 'हां' कहा– इतने में तो इन्द्रशर्मा वहाँ आकर हाजिर हो गया और अंजली जोड़ कर इस प्रकार बोला 'मैं इंद्रशर्मा हूँ, क्या आज्ञा है? सिद्धार्थ ने कहा, भद्र! पहले तेरा मेंढ़ा (नर भेड़) खोया है? आश्चर्यचकित होकर उसने कहा– हां! सिद्धार्थ बोला उस मेढ़े को यह अच्छंदक भिक्षुक मार कर खा गया है और उसकी अस्थियाँ इसने बोरड़ी के वृक्ष की दक्षिण की ओर गाड़ दी है। लोगों ने कौतुक से वहाँ जाकर उसकी अस्थियाँ देखी और 'वहाँ है' यह आकर उनको कहा। सिद्धार्थ ने कहा – उस पाखंडी का अन्य भी एक दुश्चारित्र है। परंतु अब मैं वह नहीं 'कहूँगा'। गाँव के लोग आग्रह से बार बार बोले कि 'भगवन! प्रसन्न हो और हमको थोड़ा भी कहो। आपकी कथित अर्ध कथा भी हमको अति रमणीक लगेगी।' सिद्धार्थ बोला कि वह तो मैं कहूँगा ही नहीं। परंतु यदि तुमको कुतूहल हो तो उस अच्छंदक के घर जाकर उसकी स्त्री को पूछो। तब लोग उसके घर गए। इधर उस दिन उसने अपनी स्त्री को मारा था। इससे वह रोषवती होकर नेत्र में अश्रु लाकर इस प्रकार सोच रही थी कि

'इस दुराशय पति अच्छंदक की अंगुलियाँ का छेदन किया और सभी लोगों ने उसका तिरस्कार किया, वह बहुत अच्छा किया। अभी जो यदि लोग मेरे पास आवें तो मैं उसका दुश्चरित्र खुल्ला कर दूं कि जिससे इस पापी को मुझे मारने का फल पूरा ही मिल जाय।' इतने में तो सब गांव के लोग वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने उस स्त्री को अच्छंदक के दुश्चरित्र के विषय में पूछा। तब वह बोली कि, इस पापी का नाम भी कौन ले, यह दुष्ट चंडाल अपनी बहन के साथ विषयसुख का भोग करता है, और कभी भी मेरी इच्छा नहीं करता। यह बात सुनकर सभी कलकलाहट करते हुए गाँव के लोग अच्छंदक की निंदा करते करते अपने अपने घर चले गए। बाद में वह भिक्षुक सर्व स्थानों पर 'पापी–पापी' ऐसा कहा जाता हुआ तिरस्कृत हुआ। उसे किसी भी स्थान पर भिक्षा भी नहीं मिली। ''प्रतिष्ठा रहित पुरुष को धिक्कार है।''

(गा. 181 से 214)

अच्छंदक एकान्त में वीर प्रभु के पास जाकर दीनता से नमन करके बोला कि ''हे भगवान्! आप यहाँ से अन्यत्र पधारो क्योंकि जो पूज्य होते हैं, वे तो सर्वत्र ही पूजाते हैं। मैं तो यहाँ पर ही जानी मानी हूँ। अन्यत्र तो मेरा नाम भी कोई नहीं जानता। ''शृगाल का शौर्य तो उसकी गुफा में ही होता है। बाहर होता नहीं है। ''हे नाथ! अनजान में भी मैने आपका जो अविनय किया हैं, उसका फल मुझे अभी ही प्राप्त हो गया है, इसलिए अब मुझ पर कृपा करो।'' उसके ऐसे वचन सुनकर अप्रीतिवाले स्थान का परिहार करने का अभिग्रह धारण करने वाले प्रभु ने वहाँ से उत्तर चावाल नामक के सन्निवेश की ओर प्रस्थान किया।

(गा. 215 से 218)

दक्षिण और उत्तर में इस प्रकार चावाल नामक दो गांव थे और उनके बीच में सुवर्ण बालुका और रुप्यबालुका नामकी दो नदियों थी। प्रभु दक्षिण की ओर के चावाल गाँव से उत्तर की ओर चावाल गाँव की ओर जा रहे थे, वहाँ सुवर्णबालुका के तट पर उसका अर्धदेवदूष्य वस्त्र कांटे में फंस गया। वहां से थोड़ा चलने पर प्रभु ने विचार किया कि, 'यह वस्त्र अयोग्य स्थंडिल भूमि में गिरा है।' ऐसा विचार करके थोड़ा पीछे देखकर प्रभु आगे चल दिये।

(गा. 219 से 222)

इधर वह ब्राह्मण जो प्रभु के पीछे पीछे फिर रहा था, वह तेरह महिनों बाद प्रभु को वंदन करके अपने गांव की तरफ चल दिया। हर्षित चित्त से अपने गांव पहुँचकर वह अर्धवस्त्र को लेकर उस बुनकर के पास गया और वह वस्त्र दिया। बुनकर ने उसके दोनों भागों को कोई न जान सके इस प्रकार जोड़ दिया। उसे बेचने पर उसे एक लाख दीनार प्राप्त हुए। वह उन दोनों जनों ने बंधु के समान आधा आधा बांट लिया।

(गा. 223 से 224)

पवन की भांति अस्खलित गति से विहार करते हुए वीर प्रभु भगवान श्वेतांबी नगरी की ओर चल दिये। मार्ग में गोपाल पुत्रों ने कहा कि 'हे देवार्य! यह मार्ग श्वेताम्बी नगरी की ओर तो जाता है, उसके बीच में कनकखल नामक तापसों का आश्रम आता है। वहाँ अभी एक भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता है। इससे वहाँ पक्षियों का भी संचरण नहीं है। मात्र वायु का ही वहाँ संचार है। इसलिए इस सरल मार्ग को छोड़कर अन्य इस वक्र मार्ग पर आप गमन करें। क्योंकि जिससे कान ही टूट जाय ऐसा सुवर्ण का आभूषण किस काम का ? प्रभु ने ज्ञान द्वारा उस सर्प को पहचाना।

(गा. 225 से 228)

यह सर्प पूर्वजन्म में तपस्वी साधु था। एक बार वह पारणे के लिए उपाश्रय से बाहर गया। मार्ग में उसके पाँव के नीचे एक मेंढ़की कुचल गई। यह देखकर उसकी आलोचना करने के लिए एक क्षुल्लक ने वह मेढ़की बताई, तो वह देखकर उल्टा वह लोगों के द्वारा मारी हुई अन्य मेंढकियाँ बताने लगा। और बोला–अरे क्षुल्लक! क्या इन सभी मेंढकियों को भी मैनें मार डाला। यह सुनकर क्षुल्लक ने मौन धारण का लिया। शुद्ध बुद्धि से उसने विचार किया कि 'ये महानुभाव है, इससे सायंकाल में इसकी आलोचना करेंगे। बाद में आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते भी जब आलोचना किये बिना वे साधु बैठ गये, तब क्षुल्लक के सोचा कि 'ये मेढ़की की विराधना भूल गये होंगे। अतः उसने उनको याद कराया कि 'आर्य! आप उस मेढ़की की आलोचना क्यों नहीं कर रहे हैं ? यह सुनकर वे क्षपक कुपित होकर खड़े होकर उस क्षुल्लक को मारने के लिए दौड़े। क्रोधांध होकर चलते हुए बीच में एक स्तंभ के साथ सिर टकराने से वे साधु वहीं पर मरण शरण हो गए। साधु जीवन की विराधना करने से वे ज्योतिष

देवता में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यव कर कनकखल नाम के स्थान में पांचसौ तपस्वियों के कुलपति की पत्नि से कौशिक नाम का पुत्र हुआ। वहाँ कौशिक गौत्र के कारण अन्य भी कौशिक तापस ही थे। उनमें वह तापस विशेष रूप से क्रोधित होने के कारण वह चंडकौशिक के नाम से प्रख्यात हुआ। पूर्व कुलपति यमराज के अतिथि होने पर यह चंडकौशिक कुलपति हुआ। उसे अपने वनखंड पर अत्यन्त मूर्च्छा थी। इससे वह रात दिन घूमा करता और किसी को भी उस वनखंड से पुष्प, फल, मूल या पत्र लेने नहीं देता। कभी भी कोई यदि उस वन में से सड़ा हुआ भी फल या पत्रादिक ग्रहण करता तो वह कुल्हाडी, यष्टि या ढेला लेकर मारने को दौड़ता। वहाँ के रहवासी तापसों को भी फलादिक लेने न देने से दुःखी ऐसे सब तापस जैसे लकड़ी पड़ते ही काक पक्षी भाग जाते वैसे ही दसों दिशाओं में भाग जाते। एक दिन वह चंडकौशिक वाटिका संबंधी कार्य के लिए बाहर गया था, इतने में कितनेक राजकुमार श्वेतांबी नगरी से शीघ्र ही वहाँ आकर उस वन को नष्ट भ्रष्ट करने लगे। जब कौशिक वापिस आया। तब गोपालकों ने उसे बताया कि देखो, यह कोई तुम्हारे वन को नष्ट कर रहा है। यह सुनकर हुतद्रव्य से अग्नि की भांति कौशिक क्रोध से प्रज्वलित हो गया। तत्काल वह अकुंठ धारवाली कुल्हाडी लेकर दौड़ा। उसे आता हुआ देखकर बाज पक्षी से दूसरे पक्षियों की तरह सभी राजकुमार तो भाग गये और वह कौशिक पैरों की स्खलना (फिसलने) के कारण यमराज के मुंह जैसे किसी गड्ढे में गिर पड़ा। गिरते ही उसकी फेंकी हुई ही वह तीक्ष्ण कुल्हाडी उस पर गिरी, फलस्वरूप उसके मस्तक के दो भाग हो गये। ''कुकर्म का विपाक ऐसा ही होता है।'' उससे मृत्यु होकर वह चंडकौशिक इसी वन में दृष्टिविष सर्प हुआ है।'' तीव्रानुबंधी क्रोध भवांतर में भी साथ ही जाता है।''

(गा. 229 से 247)

इस प्रकार उसके पूर्वभव का विचार करके 'यह दृष्टिविष सर्प अवश्य ही प्रतिबोध देने योग्य है।' ऐसा सोचकर जगत्प्रभु वीर अपनी स्वयं की पीड़ा की अवगणना करके उस सरल मार्ग पर ही चल दिये। प्रभु ने जब जीर्ण अरण्य में प्रवेश किया, तब उसमें चरण संचार न होने से बालुका जैसी थी वैसी ही रही हुई थी। जलाशय में से बहती हुई नालियाँ पानी रहित थी। जीर्ण हुए वृक्ष सूख गए थे। जीर्ण पत्तों के समूह से समग्र भाग बिछ गया था। बिलों से बहुत सा भाग

व्याप्त हो गया था एवं झोंपड़िया पृथ्वी से मिल गई थी। इतने में अरण्य में आकर प्रभु यक्षमंडप में नासिका पर नेत्र को स्थिर करके कायोत्सर्ग में स्थिर रहे। कुछ देर बाद वह दृष्टिविष सर्प मुख में से कालरात्रि जैसी जिह्वा को बाहर निकालता हुआ अभिमान युक्त होकर घूमने निकाला। वन में आज्ञारेखा की भांति अपनी शरीर की रेखाएँ डालता चलता जा रहा था। इतने में उसने वीर प्रभु को देखा। तब 'अरे! मेरी अवज्ञा करने के लिये यह कौन मेरी जानकारी के बिना यहाँ निःशंक होकर घुस गया है? और शंकु के जैसे स्थिर होकर खड़ा रहा है। इसलिए मैं इसे भस्म कर दूँ।' इस प्रकार विचार करके क्रोध में धमधमाता वह सर्प अपनी फणाओं का विस्तार करने लगा। ज्वालामाला का वमन करती, लता वृक्षों को दहन करती, साथ ही स्फुरित फुंकारों से भयंकर दृष्टि से प्रभु को देखने लगा। इससे प्रज्वलित जैसी उसकी दृष्टिज्वालाएं आकाश में से उल्का जैसे पर्वत पर गिरे वैसे प्रभु के शरीर पर गिरी। परन्तु महाप्रभाविक प्रभु के उपर वह कुछ भी असर नहीं कर सकी। क्योंकि 'महान् पवन भी मेरु को कंपायमान करने में समर्थ हो? अपनी तीव्र दृष्टि द्वारा भी जब प्रभु को कुछ भी हुआ नहीं तब 'अभी कैसे यह काष्ठ की भांति दग्ध हुआ नहीं? ऐसा सोचकर विशेष रूप से क्रोध करके वह सूर्य के सामने देखदेखकर विशेष दृष्टिज्वाला छोड़ने लगा। तथापि ये ज्वालाएं भी प्रभु पर तो शीतल ज्वालाएं जैसी हो गई। तब उस सर्प ने प्रभु के चरणकमल पर डंस लिया। अपने विष की उग्रता से दुर्मद ऐसा वह 'मेरे तीव्र विष द्वारा आक्रांत होकर अभी यह गिरेगा तो कहीं मुझे दबा न दे' इस इरादे से डस डस कर दूर हो रहा था। प्रभु के अंग पर जिस भी स्थान पर वह डसता वहाँ से उसका जहर प्रसर नहीं रहा था। मात्र गाय के दूध जैसी रुधिर की धारा वहाँ से झर रही थी। अनेक बार भी वैसे होने पर 'यह क्या? ऐसा विस्मित होकर वह प्रभु के सामने खड़ा रहा एवं क्षुब्ध होकर प्रभु के सामने देखने लगा। पश्चात् प्रभु के अतुलरूप को निरखते, प्रभु के कांत और सौम्य रूप के कारण उसके नेत्र स्तब्ध हो गये। जब वह कुछ उपशांत हो गया तब प्रभु बोले-'अरे चंडकौशिक! बुज्झ बुज्झ! मोह मत प्राप्त कर। भगवंत के ये वचन सुनकर उहापोह करते उस सर्प को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने अपने मन में अनशन अंगीकार करने का निर्णय किया। अनशन करके सर्व क्रिया से रहित हुए और उपशांत हुए उस सर्प पर प्रभु ने दृष्टि द्वारा सिंचन किया। तब भयंकर विषयुक्त मेरी दृष्टि

किसी पर भी न गिरे, ऐसा सोचकर अपने बिल में मुंह रखकर वह सर्प समता रूपी अमृत को पीने लगा। प्रभु भी उस पर अनुंकपा करके वहीं खड़े रहे।

(गा. 248 से 269)

''महान पुरुषों की प्रवृत्ति अन्य के उपकार के लिए ही होती है।'' भगवंत को उपद्रव रहित हुए देखकर सर्व ग्वाले और वत्सपालक विस्मित होकर शीघ्र ही वहाँ पर आए। और प्रतीति करने के लिए वृक्ष के पीछे छिप कर उस महात्मा सर्प को निश्चल हुआ देखकर उनको विश्वास हो गया। तब नजदीक आकर उस सर्प के शरीर को लकड़ियों से छूने लगे। तब भी उसे स्थिर देखकर गोपालको ने यह बात लोगों को कही, तब सभी लोग वहाँ आ गये एवं वीर प्रभु को तथा मरणोन्मुख ऐसे उस सर्प को वन्दन करने लगे। ग्वालों की कुछ स्त्रियाँ उस मार्ग से घी बेचने के लिए जाती थी। उन ग्वालिनों ने उस सांप के शरीर पर घी चुपड़ दिया। उस घी की सुगंध से वहाँ तीक्ष्णमुख वाली चींटियां आ गई और उस सर्प के कलेवर को छलनी (चालनी) जैसा कर दिया। 'मेरे पापकर्म के समक्ष इस पीड़ा की क्या गिनती है?' ऐसा विचार करता हुआ वह सर्पराज उस दुःसह वेदना को भी सहन करने लगा। और 'ये बिचारी अल्पबल वाली चींटियाँ मेरे शरीर के दवाब से पीड़ित न हों' ऐसा सोच कर उस महाशय सर्प ने अपना अंग जरा भी हिलाया नहीं। इस प्रकार करुणा परिणाम वाला और भगवंत की दयामृत दृष्टि से सिंचित होता हुआ वह सर्प एक पक्ष (पंद्रह दिन) में मृत्यु प्राप्त कर सहस्रार देवलोक में देवता हुआ।

(गा. 270 से 279)

कौशिक सर्प पर इस प्रकार महा उपकार करके वहाँ से विहार करके प्रभु उत्तरवाचाल नाम के गांव के समीप में आए। पक्षोपवास के अंत में पारणे के लिए गोचरी की गवेषणा करते हुए प्रभु नागसेन नामक गृहस्थ के घर गए। उस दिन उस गृहस्थ का इकलौता पुत्र जो कि बारह वर्ष से परदेश गया था, वह बादल बिना की वृष्टि की तरह अकस्मात् ही घर आया था, इससे नागसेन ने अपने घर में उत्सव किया था एवं अपने सर्व स्वजनों को भोजन के लिए आमंत्रित किया था। ऐसे समय में प्रभु वहाँ वहरने पधारे। वीरप्रभु को दूर से आते हुए देखकर नागसेन बहुत हर्षित हुए। इससे उसने भक्तिपूर्वक पयस् (दूध) से प्रभु को प्रतिलाभित किया। उस समय 'अहोदानं, अहोदानं' इस

प्रकार बोलते हुए देवताओं ने वहाँ वसुधारा आदि पांच दिव्य प्रगट किये। पश्चात् प्रभु पारणा करके श्वेतांबी नगरी की ओर चल दिये। वह नगरी जिनभक्त प्रदेशी राजा से विभूषित थी। प्रभु के आगमन के समाचार सुनते ही प्रदेशी राजा मानो दूसरा इंद्र हो वैसे नगरजन, अमात्यगण और अनेक राजाओं का परिवार लेकर प्रभु के सामने आया और भक्ति से प्रभु को वंदना की। तब राजा अपने नगर में गया एवं तप से श्रेष्ठ ऐसे प्रभु अनुक्रम से विहार करते हुए सुरभिपुर के समीप आये। वहाँ से मानो पृथ्वी की ओढनी हो और समुद्र ही प्रतिमा न हो, वैसी ऊँची–ऊँची तरंग वाली गंगानदी के पास आये। प्रभु गंगा को पार करना चाहते थे। सिद्धदंत नाम नाविक ने अपनी तैयार की हुई नौका में प्रभु एवं अन्य मुखाफिरों को बिठाया। नाविक ने दोनों ओर से पतवार चलाई तो मानो दो पंखों से युक्त पंखिणी की तरह वह नाव त्वरित गति से चलने लगी। उसी समय किनारे पर बैठा उलूक पक्षी बोल उठा। वह सुनकर नाव में स्थित शकुनशास्त्र का ज्ञाता क्षेमिल नामक नैमेत्तिक ने कहा कि, 'इस समय अपन कुशलक्षेम से पार नहीं उतरेगें। थोड़े ही समय में अपन सर्व को मरणांत कष्ट आने वाला है, परंतु इन महर्षि की महिमा से अपनी रक्षा होगी।' वह ऐसा बोल ही रहा था कि इतने में नाव अगाध जल में आ गई। वहाँ सुद्रंष्ट्र नामक एक नागकुमार देव रहता था, उसने प्रभु को देखा। पूर्व जन्म का बैर याद करके उसने क्रोधित होकर विचार किया कि 'जब यह त्रिपृष्ट था, तब मैं सिंह था। इसने मुझे मारा था, उस समय मैं इसके देश से बहुत दूर था, मैंने कोई इसका अपराध किया नहीं था और मैं तो एक गुफा में छिपा हुआ था। परंतु अपनी भुजा के वीर्य के गर्व से और मात्र कौतुक करने की इच्छा से इसने आकर मुझे मार डाला। यह आज मेरी नजर में आया, वह बहुत अच्छा हुआ, अब मैं मेरा बैर लूं। ''ऋण की भांति बैर प्राणियों को सैंकड़ों जन्म तक अनुसरण करता है।'' पूर्व भव का बैर लेने से जिसका जन्म कृतार्थ हुआ है, इसमें यदि मेरा पुनः मरण हो जाय तो भी मुझे कोई खेद नहीं होगा। ऐसा विचार करके वह सुदंष्ट्र देव क्रोध से भयंकर नेत्र करता हुआ वीर प्रभु के समीप आया और आकाश में ही स्थित रह कर उसने जोर से किल किलारव किया। पश्चात् बोला कि 'अरे तू कहाँ जाता है? ऐसा कहकर प्रलयकाल के दावानल जैसी भयंकर संवर्तक जाति की महावायु विकुर्वित की। उसके प्रभाव से वृक्ष गिर पड़े और पर्वत कंपायमान होने लगे एवं जिनकी उर्मियाँ आकाश तक उड़ रही है, ऐसा गंगा

का जल उछलने लगा। ऊँची उछलती और पुनः नीचे बैठती गंगा की तरंगों से गजेन्द्र द्वारा उठाये गये वृक्ष के समान वह नाव ऊँची नीची हालक लोलक होने लगी। उसका कूपस्तंभ नष्ट हो गया, सढ़ फट गया और नाव की आत्मा समान उसका कर्णधार भयभीत हो गया। नाव में स्थित सभी जन मानो यमराज की जिह्वा के समक्ष आए हो ऐसे मरणोन्मुख होकर व्याकुल हो अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। उस समय कंबल और संबल नाम के दो देवों ने आकर उस उपसर्ग का निवारण किया। उनके पूर्व भव का वृत्तांत इस प्रकार है–

(गा. 280 से 305)

मथुरापुरी में जिनदास नाम का एक वणिक् रहता था, जो कि श्रावक धर्म का पालन करता था। उसके साधुदासी नामक स्त्री थी। उन दोनों दम्पत्ती ने परिग्रह का प्रमाण करके ढोर रखने का प्रत्याख्यान किया था। इसलिए वे हमेशा आहीर लोगों की स्त्रियों के पास से दही दूध आदि लेते थे। एक बार एक आहीर स्त्री उत्तम प्रकार का दही लेकर आई, उसे खरीद कर प्रसन्न होकर साधु दासी ने उसे कहा कि 'तेरे यहाँ जो दूध दही आदि हो वह लेकर तू अन्यत्र बेचने नहीं जाना, यहाँ ही लेकर आना, हम वह ले लेगे और तेरी इच्छानुसार मूल्य दे देंगे। तब से वह अहीरनी भी खुश होकर हमेशा वैसा ही करती और साधुदासी भी उसे वस्त्रादि वस्तुएं देकर खुश करती। इस प्रकार करते करते उन दोनों में सगी बहनों जैसा स्नेह उत्पन्न हो गया। एक बार उस अहीरनी के घर पर विवाह का प्रसंग आया। तब उसने उस प्रसंग पर इस सेठ–सेठानी को निमंत्रण दिया। तब उन्होंने कहा – भद्रे! हम वणिक् है, अतः हम तेरे घर नहीं आ सकेगें परंतु तुझे यदि विवाह के योग्य किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो वह हमारे घर से ले जाना। ऐसा कह कर उन्होंने वस्त्र धान्य–अलंकार आदि उसे दिये। उनकी दी हुई वस्तुओं से उसका विवाहोत्सव बहुत सुन्दर हुआ। वह उससे सगे, संबंधी, ग्वालें लोगों में शोभा का कारण हो गया। इससे वे गोपाल और ग्वालिन प्रसन्न होकर तीन वर्ष की वय के अत्यन्त शोभनीक कंबल–संबल नामक दो बैल सेठ को भेंट देने के लिए लाए। सेठ ने उसका ग्रहण नहीं किया। तो भी वे जबरदस्ती द्वार पर बाँधकर चल दिये। 'ग्वालों का स्नेह ही होता है।' जिनदास ने सोचा कि यदि मैं इन दोनों वृषभों को छोड़ दूंगा तो अन्य साधारण पुरुष हल आदि में जोड़कर इनको दुःखी करेंगे, इधर मेरे घर पर भी उपयोग

के बिना इनका पालन करना, वह भी मुश्किल है। अब मैं क्या करुं ? मूर्ख के साथ स्नेह होने से मैं संकट में पड़ गया हूँ। ऐसा विचार करके वे दयालु जिनदास सेठ उन दोनों वृषभों का प्रासुक घास और पानी से पोषण करने लगे। अष्टमी या चतुर्दशी के दिन वे सेठ उपवास करके पौषध व्रत लेकर वे बैल सुने वैसे धर्म सम्बन्धित पुस्तकों का वांचन करते थे। इस प्रकार हमेशा धर्म श्रवण करने से वे भद्रिक हो गये। बाद में जब जिस दिन सेठ भोजन नहीं करते, उस दिन वे बैल भी घास–पानी ग्रहण नहीं करते। जब उन बैलों ने खाना–पीना–नीरण भी छोड़ दिया तो उनको देखकर सेठ ने सोचा कि 'मैंने अब तक तो मात्र दया के कारण इन बैलों का पोषण किया, परंतु अब तो ये मेरे साधर्मी बंधु हैं। इस बुद्धि से मुझे इनका पोषण करना चाहिये। ऐसा सोचकर सेठ प्रतिदिन उनका विशेष रूप से बहुमान करने लगे, क्योंकि सेठ की बुद्धि में वे पशु रूप से नहीं थे।

(गा. 306 से 324)

किसी समय भंडीरवण नामक यक्ष का यात्रोत्सव आया। उस दिन गांव के युवा, बालक वाहनों की वहन क्रीड़ा करने लगे। उस गांव में जिनदास का एक कौतुकी मित्र था, वह श्रेष्ठी को पूछे बिना उस दिन उन दोनों वृषभों को अपने वाहन में जोड़ने ले गया। ''जहाँ स्नेह होता है, वहाँ जुदाई न होने से पूछने की आवश्यकता नहीं होती, ''जो उसका होता है, वह उसको अपना ही मानता है। ''मुर्गे के अंडे जैसे श्वेत, मानो एक साथ ही युगल रूप में जन्में हो वैसे एक समान, गेंद के समान वर्तुल (गोलकार) अंग वाले चँवर जैसे पूंछ वाले, जैसे ऊपर चढ़ते हो वैसे उछलते और वायुपुत्र की भांति वेगवान उन दोनों वृषभों को उस मित्र ने अपनी गाड़ी में जोत लिये। उनकी सुकुमारता से अज्ञात वह निर्दय मित्र लोगों को आश्चर्य चकित करने हेतु उनको चाबुक और परोणी के आरे से मार–मार कर हाँकने लगा। अनुपम वेगवान उन वृषभों के द्वारा उसने वाहन क्रीड़ा करने वाले सर्व नगरजनों को क्षणभर में जीत लिया। आरे से पड़े छिद्रों में निकलते रूधिर द्वारा जिनके सर्व अंग आर्द्र हो गये और जिनकी संधियाँ (जोड़–जोड़) टूट गये ऐसे उन वृषभों को काम पूर्ण हो जाने पर उस मित्र ने पुनः लाकर उनको सेठ के घर में बांध दिये। भोजन के अवसर पर सेठ हाथ में यव का पूला लेकर पुत्र की तरह उन बैलों के पास आए। वहाँ तो उन बैलों का मुंह खुला हुआ, नेत्र से अश्रु गिराते हुए, श्वांस चढ़ा हुआ, असह्य दु:खी, कांपते हुए और आरे से हुए छिद्रों में से खून की धाराएं निकलते

हुए देखा। उनकी ऐसी स्थिति को देखकर सेठ बोले कि 'अरे! ये बैल जो कि मुझे प्राणों से भी प्यारे हैं, उनको मुझसे पूछे बिना ले जाकर किस पापी ने ऐसी दशा कर दी ? तब परिजनों ने आकर सेठ को उनके मित्र के विषय में बताया। अपने सहोदर को विपत्ति आवे वैसे ही उनको बहुत दुःख हुआ।

(गा. 325 से 335)

उन वृषभों की अनशन करने की भावना होने से उन्होंने सेठ प्रदत्त घास या पानी को किंचित्मात्र भी सूंघा नहीं। तब सेठ ने पौष्टिक अन्न से भरपूर एक थाल लाकर उनके सामने रखा। परन्तु उन्होंने उसे दृष्टि से भी संभवित किया नहीं। तब उनका भाव जानकर सेठ ने उनको चारों आहार का त्याग कराया। वह उन्होंने अभिलाषा पूर्वक समाधिपूर्वक ग्रहण किया। उन पर दया लाकर अन्य सर्व काम छोड़कर स्वयँ सेठ उनको नवकार मंत्र सुनाते और भवस्थिति का बोध कराते हुए उनके पास ही बैठे रहे। इस प्रकार नमस्कार महामंत्र सुनते हुए एवं भवस्थिति की भावना भाते हुए वे समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर नागकुमार में देवरूप में उत्पन्न हुए।

(गा. 336 से 340)

उन कंबल और संबल देव ने अवधिज्ञान से देखा तो सुद्रंष्ट नागकुमार का प्रभु पर किया नाव डुलाने का उपद्रव उनको दिखाई दिया। तब 'अपने अभी और कोई काम करने की जरूरत नहीं है, अभी तो चलो, अर्हन्त प्रभु पर होने वाले उपद्रव को एकदम अवरुद्ध कर दें'– ऐसा सोच कर वे प्रभु के समीप आए। उनमें से एक तो सुद्रंष्ट्र नागकुमार के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हुआ एवं अन्य ने अपने हाथ से ही उस नाव को गंगा के तीर पर ला दिया। वह सुद्रंष्ट देव यद्यपि विपुल ऋद्धिवाला था, तथापि आयुष्य का अंत समय नजदीक होने से उसका बल क्षीण हो गया था। इधर इन दोनों देवों के नूतन देवत्व का वैभव था, इसलिए उन दोनों ने उसे जीत लिया था। पश्चात् वह सुद्रंष्ट वहाँ से पलायन कर गया। तब कंबल संबल नागकुमार देवों ने प्रभु को नमन करके हर्षित होकर प्रभु पर पुष्पों एवं सुगन्धित जल की वृष्टि की। 'आपके प्रभाव से इस नदी को आपत्ति की भांति हम पार उतर गये। ऐसे बोलते हुए नाव में बैठे अन्य लोग भक्ति से वीर प्रभु को वंदना करने लगे। दोनों नागकुमार प्रभु को नमन करके

अपने स्थान पर चले गये। प्रभु नाव में से उतर कर विधिपूर्वक ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके वहाँ से अन्य दिशा की ओर प्रस्थान कर गये।

(गा. 341 से 347)

जिसमें सूक्ष्म तथा आर्द्र रेत है, ऐसी गंगानदी के तट पर चक्रादि के लंछन वाली प्रभु की चरण पंक्ति पृथ्वी पर आभूषण रूप से स्फुटरीति से अंकित हो रही थी। इतने में एक सामुद्रिक लक्षण का ज्ञाता पुष्प नामका पुरुष उस चरण पंक्ति को देखकर विचार करने लगा कि, ''इस रास्ते से होकर कोई चक्रवर्ती एकाकी ही निकले लगते है।'' अद्यापि उनको राज्य मिला नहीं लगता है अथवा किसी ने छल से उनके राज्य का हरण कर लिया है। मेरी धारणा यह है कि वे अभी ही इस मार्ग से गये हैं, अतः मैं जाकर उनकी सेवा करूं, क्योंकि वे भी सेवक को चाहते होंगे। ऐसी अवस्था में सेवित वे चक्रवर्ती अवश्य ही फलदायक होंगे। ''सेव्य पुरुष की सेवा करने का अवसर पुण्य से ही प्राप्त होता है।'' ऐसा विचार कर वह उन पगलों का अनुकरण कर चलने लगा। आगे जाने पर स्थूणाक नामक गांव के पास में अशोकवृक्ष के नीचे प्रतिमाधारी प्रभु को उसने देखा। उनके हृदय पर श्रीवत्स का लांछन था, मस्तक पर मुगट का चिह्न था, दोनों भुजाओं पर चक्रादिक के लांछन थे। दोनों हाथ शेषनाग की भांति लंबे थे एवं नाभिमंडल दक्षिणावर्त वाला, गंभीर एवं विस्तीर्ण था। प्रभु के शरीर पर ऐसे लोकोत्तर चिह्न उसे दृष्टिगत हुए। यह देख पुष्प सोचने लगा कि 'चरण के लक्षणों से तो चक्रवर्ती भी सूचित होते हैं, ऐसे लक्षणों के होने पर भी यह तो भिक्षुक है, इससे मुझे आश्चर्य होता है।' इसलिए भिक्षुक पर अच्छी आशा रखने वाला मुझे और मेरे शास्त्र के श्रम को धिक्कार है, विश्व को ठगने के लिए और अपना कौतुक पूर्ण करने के लिए कोई अनाप्त (अहितकारी) पुरुष ने ही ये शास्त्र रचे हो, ऐसा लगता है। मरुभूमि में मरीचिका के जल को देखकर मृग दौड़ता है वैसे ही उनके ऊपर आशा रखकर मैं वृथा ही दौड़ कर आया।'' इस प्रकार विचार करके उस पुष्प के हृदय में अत्यन्त खेद हुआ। उसी समय शक्रेन्द्र *को स्वर्ग में बैठे–बैठे ही विचार हुआ कि 'महावीर प्रभु कहाँ विचर रहे होंगे?* अवधिज्ञान के उपयोग से स्थूणाक गांव में प्रभु को स्थित देखा और पुष्प नैमित्तिक को खेद से अपने शास्त्रों के दूषण देते देखा, तब इंद्र शीघ्र ही वहाँ आए और उस पुष्प नैमित्तिक के देखते हुए प्रतिमाधारी प्रभु को विपुल समृद्धि

से उन्होंने वंदना की। पश्चात् पुष्प को कहा कि, ''अरे मूर्ख! तू शास्त्र की निंदा क्यों कर रहा है? शास्त्रकारों ने कुछ भी मृषाभाषण किया हुआ नहीं है। तू तो अभी इन प्रभु के बाह्य लक्षणों को ही जानता है, आंतरिक लक्षणों को नहीं जानता, परंतु इन प्रभु का मांस और रुधिर दूध की तरह उज्ज्वल हैं। इनके मुखकमल का श्वास कमल की खुशबू जैसा सुगन्धित है, इनका शरीर पूर्ण निरोगी और मल तथा पसीने से रहित है। ये तीन जगत् के स्वामी, धर्मचक्री, जगतहितकारी और विश्व को अभय प्रदाता, सिद्धार्थ राजा के नंदन वीर प्रभु हैं। चौंसठ इंद्र भी इनके सेवक हैं, तो इनके समक्ष चक्रवर्ती भी क्या है? कि जिनसे तू फल की इच्छा करता है। ये प्रभु वर्षीदान देकर भवसागर से तिरने की इच्छा से राज्य का त्याग करके, दीक्षा लेकर अश्रांत रूप से विहार कर रहे हैं। शास्त्रों में कथित लक्षण ठीक ही है। इसलिए तू किंचित्मात्र भी खेद मत कर। मैं तुझे इच्छित फल दूंगा, क्योंकि इन प्रभु का दर्शन कदापि निष्फल नहीं होता।'' इस प्रकार कहकर उस पुष्प नैमित्तिक को इच्छित फल देकर, प्रभु को नमन कर इंद्र पुनः अपने स्थान पर चले गये।

(गा. 348 से 369)

वीरप्रभु कायोत्सर्ग पार कर चरणन्यास द्वारा पृथ्वी को पवित्र करते हुए अनुक्रम से राजगृही नगरी में आए। उस नगर के बाहर नालंदा नामक भूमिभाग में किसी बुनकर की विशाल शाला में प्रभु पधारे। वहाँ वर्षाकाल निर्गमन करने के लिए उस बुनकर से प्रभु ने अनुमति ली। वहाँ मासक्षमण करते हुए उस शाला के एक भाग में रहे।

(गा. 370 से 372)

इस समय में मंखली नाम का कोई मंख्य (चित्रकला जानने वाला भिक्षाचर विशेष) था। उसके भद्रा नामकी स्त्री थी। वे दोनों चित्रपट लेकर पृथ्वी पर घूमते थे। वे शरवण गांव में आए। वहाँ भद्रा ने ब्राह्मण की एक बड़ी गौशाला में पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में प्रसव होने से, उसका गोशालक नाम पड़ गया। अनुक्रम से वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। उसने अपने पिता का धंधा सीख लिया। यह गोशालक स्वभाव से ही कलहकारी था। माता पिता के वश में रहता नहीं था, जन्म से ही लक्षणहीन होने पर भी उत्कट विचक्षण था। एक बार वह माता पिता से कलह करके, चित्रपट लेकर भिक्षा के लिए निकल पड़ा। घूमता

घूमता वह राजगृही नगर में आया। जिस प्रदेश को प्रभु ने अलंकृत किया था, उसी शाला में ही वह गोशालक सिंह के पास शृगाल की तरह एक कोने में आकर रहने लगा। प्रभु के मासक्षमण का पारणा होने से वे विजय श्रेष्ठी के घर करपात्र में वहरने आये। श्रेष्ठ बुद्धिमान् विजय श्रेष्ठी ने स्वयं विपुल भक्तिपूर्वक सम्यक् रूपेण आहार से विधिपूर्वक प्रभु को प्रतिलाभित किया। उस समय आकाश में 'अहो दानं' ऐसी आघोषणा करके देवताओं ने उसके घर में रत्नवृष्टि आदि पांच दिव्य प्रगट किये। यह हकीकत सुनकर गोशाला ने सोचा कि 'ये मुनि कोई सामान्य नहीं हैं, क्योंकि अन्न देने वाले के घर में भी इतनी समृद्धि हो गई। इसलिए मैं तो यह चित्रपट का पाखंड छोड़कर इन मुनि का ही शिष्य हो जाऊं। क्योंकि ये गुरु निष्फल नहीं होंगे। गोशालक तो यह विचार कर ही रहा था, इतने में तो प्रभु पारणा करके पुनः शाला में आकर कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। गोशाला प्रभु को नमन करके बोला– 'हे भगवन्! मैं सुज्ञ होने पर भी प्रमाद के कारण अभी तक आप जैसे महामुनि का प्रभाव नहीं जान सका, परंतु अब मैं आपका शिष्य होऊँगा। आज से आप एक ही शरण हैं।' इस प्रकार कहकर उसने वैसा ही किया, तो भी प्रभु तो मौन ही रहे। गोशाला भिक्षा मांग कर प्राणवृत्ति करता हुआ अपनी बुद्धि से प्रभु का शिष्य होकर रात दिन प्रभु का पल्ला छोड़ता नहीं था। दूसरे मासक्षमण पर प्रभु वहरने निकले तब आनंद नामक एक गृहस्थ ने खाद्य वस्तु द्वारा प्रतिलाभित किया। तीसरे मासक्षमण पर सुनंद नाम के गृहस्थ ने सर्वकामगुण नाम के आहार द्वारा प्रतिलाभित किया। गोशाला भी भिक्षा के अन्न से उदरपोषण करके भगवंत श्री महावीर प्रभु को अहर्निश सेवने लगा।

(गा. 373 से 390)

एक बार कार्तिक महिने की पूर्णिमा को गोशाला ने हृदय में विचार किया कि, ये बड़े ज्ञानी हैं, ऐसा सुनता हूँ, तो आज मैं इसके ज्ञान की परीक्षा करूं।' पश्चात् उसने पूछा 'हे स्वामी! आज तो प्रत्येक गृह में वार्षिक महोत्सव हो रहा है, तो मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा? वह कहो।' उस समय वह सिद्धार्थ प्रभु के शरीर में प्रवेश करके बोला कि 'अरे भद्र! खट्टा हो गया कोद्रक और कूर का धान्य एवं दक्षिणा में एक खोटा रुपिया मिलेगा।' यह सुनकर गोशाला दिन के प्रारंभ से ही उत्तम भोजन के लिए श्वान की तरह घर घर धूमने लगा, तथापि किसी भी स्थान पर उसे कुछ भी मिला नहीं। जब सायंकाल हुआ तब

कोई सेवक उसे अपने घर ले गया और खट्टे हो चुके कोद्रक और कूर दिये। अति क्षुधा के कारण उसने वैसा अन्न भी खा लिया। पश्चात् उसे दक्षिणा में एक रूपया दिया। उस रूपये की परीक्षा कराई तो वह भी खोटा (नकली) निकला। तो वह लज्जित हो गया। तब जो भवितव्यता होती है, वही होता है' ऐसा नियातिवाद उसने ग्रहण किया।

(गा. 391 से 397)

दीक्षा के पश्चात् यह दूसरा चौमासा नालंदापाड़े में निर्गमन करके वहाँ से प्रस्थान करके प्रभु कोल्लाक सन्निवेश के पास आये। वहाँ बहुल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त आदर से ब्राह्मणों को अपने घर जिमाता (भोजन कराता) था। उसके घर प्रभु भिक्षा के लिए आये। उसने घी मिश्री सहित खीर प्रभु को वहराई, तब देवताओं ने पंच दिव्य प्रगट किये। प्रभु ने यहाँ चौथे मासक्षमण का पारणा किया, जो पारणा श्रद्धा से वहराने वाले दातार प्राणी को संसार से तारनेवाला है।

(गा. 398 से 401)

इधर वो गोशालक सायंकाल में लज्जित होता हुआ चुपचाप उस शाला में घुसा वहाँ उसे प्रभु दिखाई नहीं दिये। 'तब स्वामी कहाँ हैं ? ऐसे वह लोगों को पूछने लगा। परंतु किसी ने भी उसे प्रभु के समाचार दिये नहीं। इससे वह दीन होकर प्रभु की शोध में पूरे ही दिन चारों ओर घूमा। 'अरे मैं तो पुनः एकाकी हो गया' ऐसा सोच कर मस्तक मुंडा कर, वस्त्र छोड़ कर वह वहाँ से निकल पड़ा। वह कोल्लाक सन्निवेश में आया। वहाँ उसने लोगों से यह बात सुनी कि 'इस बहुल ब्राह्मण को धन्य है कि मुनि को दान देने से जिसके घर में देवताओं ने रत्नों की वृष्टि की।' यह बात सुनकर गोलाशक ने विचार किया कि ऐसा प्रभाव तो मेरे गुरु का ही है। अतः अवश्य वे यहाँ ही होंगे।' यह सोचकर वह प्रभु की शोध में घूमने लगा। निपुण दृष्टि से ढूंढते हुए एक स्थान पर कायोत्सर्ग में स्थित प्रभु को उसने देखा। वह प्रभु को प्रणाम करके बोला कि, 'हे प्रभु! पहले मैं दीक्षा के योग्य नहीं था, अब इन वस्त्रादिक का संग छोड़ देने से वास्तव में मैं निःसंग हुआ हुँ, इसलिए मुझे शिष्य रूप से अंगीकार करो और आप मेरे जीवनपर्यन्त गुरु बने। आपके बिना मैं क्षणभर भी नहीं रह सकता। हे स्वामी! आप राग रहित है, इसलिए आपके साथ स्नेह कैसे हो? क्योंकि एक हाथ से

ताली बजती नहीं हैं, परंतु क्या करुं ? मेरा मन जबरन आपकी तरफ दौड़ता है। साथ ही मेरी आत्मा को आपने स्वीकृत किया है, ऐसा मैं मानता हूँ, कारण कि आप विकसित कमल जैसी दृष्टि से मुझे देखते हैं। उसके ऐसे वचन सुनकर यद्यपि प्रभु तो वीतरागी थे, तो भी उसके भावों को जानकर उसकी भव्यता के लिए प्रभु ने उसके वचनों को मान्य किया। 'महान् पुरुष कहाँ वत्सल नहीं होते ?''

तब प्रभु उस गोशाला को साथ लेकर युगमात्र दृष्टि करते हुए स्वर्णखल नामक स्थान की ओर चल दिये। मार्ग में कुछ ग्वाले खीर बना रहे थे, यह देख गोशाले ने कहा, स्वामी! मैं क्षुधातुर हुआ हूँ, इसलिए चलो अपन पायसान्न का भोजन करें। सिद्धार्थ ने कहा कि, 'यह खीर बनेगी ही नहीं यह सुनकर वह दुष्ट बुद्धिवाला गोलाशा उन ग्वालों के पास जाकर कहने लगा कि, ये देवार्य त्रिकालज्ञ हैं, वे कह रहे हैं कि यह खीर आधी बनते ही इसका पात्र कच्चे पात्र के जैसे फूट जाएगा।' यह सुनकर भयभीत हुए उन ग्वालों ने हांड़ी को बांस की खपचियों से बांध दी। परंतु उनमें चावलों की मात्रा अधिक होने से वह कुल्या अर्थात् हाँडी फूट गई। उन ग्वालों ने ठीकरों में रही उस खीर को खुशी खुशी खाली। गोशालक को उसमें से कुछ भी नहीं मिली। इससे उसने विशेष रूप से नियतिवाद को ग्रहण कर लिया। वहाँ से विहार करके प्रभु ब्राह्मण गांव में गये। उस गांव में मुख्य रूप से दो पाडे थे। उसके नंद और उपनंद नामक दो भाई मालिक थे। छट्ठ के पारणे के दिन प्रभु नंद के पाड़े में गोचरी के लिए गये। नंद ने प्रभु को दही सहित कूर (करवा) वहराया। गोशाला उपनंद के पाड़े में उसका बड़ा घर देखकर आदर से भिक्षा के लिए गया। उपनंद की आज्ञा से एक दासी ने उसे बासी चावल दिये। उसे वे नहीं रुचे तो उसने उपनंद का तिरस्कार किया। उपनंद ने दासी को कहा कि यदि यह अन्न न ले तो उसके सिर पर डाल दे।' दासी ने भी वैसा ही किया। तब गोशाले ने कुपित होकर कहा कि– 'यदि मेरे गुरू का तपतेज हो तो इस उपनंद का घर जल कर भस्म हो जाय' प्रभु का नाम लेकर दिया गया यह श्राप भी निष्फल नहीं होना चाहिये। ऐसा सुन समीप में रहे व्यंतरों ने उपनंद का घर घास के पुंज की तरह जला डाला। वहाँ से विहार करके प्रभु चंपानगरी में पधारे। वहाँ दो–दो मासक्षमण करने की प्रतिज्ञा लेकर तीसरा चातुर्मास किया। सम्यक् समाधि को धारण कर प्रभु उत्कटिक आदि आसनों से कायोत्सर्ग करते हुए मुक्त की भांति वहाँ रहे। नगरी के बाहर

अन्य दो मासक्षमण का पारणा करके गोशालक सहित प्रभु कोल्लाक सन्निवेश आए। वहाँ एक शून्यगृह में रात्रि प्रतिमा धारण करके रहे। गोशालक वानर की तरह चपलता करता हुआ उसके द्वार के आगे बैठा।

(गा. 402 से 429)

उस गांव के स्वामी के सिंह नाम का एक पुत्र था। अभिनव यौवन वाला वह विद्युन्मति नामकी उसकी दासी के साथ रतिक्रीड़ा करने की इच्छा से उस शून्यगृहमां घुसा। उसने ऊंचे स्वर से कहा कि 'इस गृह में यदि कोई साधु, ब्राह्मण या मुसाफिर हो तो बोलना कि जिससे हम यहाँ से अन्यत्र चले जाएं।' प्रभु तो कायोत्सर्ग में स्थित थे, इससे वे तो मौन थे, परंतु उस गोशालक ने शब्द सुनने पर भी कपट से बोला नहीं। जब किसी का भी प्रत्युत्तर नहीं मिला, तब उस सिंह ने बहुत देर तक दासी के साथ वहाँ क्रीड़ा की। पश्चात् वह उस घर से निकल गया। तब प्रकृति से चपल और दुर्मति उस गोशाले ने जो कि द्वार के पास बैठा था, उसने वहाँ से निकलती उस विद्युन्मति दासी को हाथ से स्पर्श किया। तब वह जोर से चिल्लाई कि, 'स्वामी! किसी पुरुष ने मेरा स्पर्श किया।' तत्काल सिंह वापिस आकर गोशालक को पकड़ कर बोला कि 'अरे कपटी! तूने छिपकर हमारा अनाचार देखा। उस वक्त मैंने बुलाया तो भी तूने जवाब नहीं दिया।' ऐसा कहकर उस गोशालक को खूब मार मार कर सिंह अपने स्थान पर गया। तब गोशालक ने प्रभु से कहा कि, 'हे स्वामी! आपके देखते हुए इसने मुझे मारा।' सिद्धार्थ बोला कि, 'तू हमारे समान शील (सदाचार) का पालन क्यों नहीं करता। द्वार पर बैठ कर इस प्रकार की चपलता करेगा, तो मार क्यों नहीं मिलेगी?

(गा. 430 से 438)

वहाँ से प्रस्थान करके प्रभु पत्रकाल नामक गांव में आए। वहाँ भी पूर्व की भाँति प्रभु किसी शून्यगृह में प्रतिमा धारण करके रहे। गोशाला तो भयभीत होकर घर मे एक कोने में ही बैठ गया। उस गाँव के स्वामी का पुत्र स्कंद भी दंतिला नामकी दासी के साथ रतिक्रीड़ा करने वहाँ आया। उसने भी सिंह की भांति पूछा भी, परंतु किसी ने कोई जवाब दिया नहीं। जब वह क्रीड़ा करके वहाँ से निकला, तब वह गोशाला जोर से हंस पड़ा। 'यहाँ पिशाच की तरह गुप्त रहकर कौन हंस रहा है? ऐसा बोलते हुए उस स्कंध ने गोशाले को खूब मारा

और अपने घर चला गया। तब गोशाले ने प्रभु से कहा कि, 'हे नाथ! क्या स्वामी का धर्म ऐसा होता है? निर्दोष जैसे मुझे मारते हुए की आपने रक्षा क्यों नहीं की? सिद्धार्थ बोला– 'अरे मूर्ख! तीतर पक्षी की तरह मुखदोष से तू अनेक बार अनर्थ भोगता है।'

(गा. 439 से 444)

वहाँ से विहार करके प्रभु कुमार सन्निवेश में आए। वहाँ चंपकरमणीय उद्यान में प्रतिमा धारण करके ध्यान में लीन हो गए। उस गांव में धन धान्य से समृद्धिवाला कूपन नाम का कुंमार रहता था। मदिरा के कीड़े की तरह उसे मदिरा पर अति प्रीति थी। उस समय उसकी शाला में मुनिचंद्राचार्य नाम के एक पार्श्वनाथ प्रभु के बहुश्रत शिष्य अनेक शिष्यों के साथ वहां रहते थे। वे अपने शिष्य वर्द्धन नाम के सूरि को गच्छ में मुख्य रूप से स्थापित करके जिनकल्प का अत्यन्त दुष्कर प्रतिकर्म कर रहे थे। तप, सत्त्व, श्रुत, एकत्व एवं बल इस प्रकार पांच प्रकार की तूलना करने के लिए वे, समाधिपूर्वक उपस्थित हुए थे। इधर गोशालक ने प्रभु को कहा कि, हे नाथ! अभी मध्याह्न का समय है, अतः चलो, गांव में भिक्षा लेने को जावें।' सिद्धार्थ ने कहा 'आज मेरे उपवास है।' तब क्षुधातुर हुआ गोशाला गांव में भिक्षा के लिए गया। वहाँ उसने चित्रविचित्र वस्त्र को धारण करने वाले एवं पात्रादिक को रखने वाले पार्श्वनाथ जी के पूर्वोक्त शिष्यों को देखा। तो उसने पूछा कि, आप कौन है? वे बोले कि– 'हम श्री पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ शिष्य हैं।' गोशाला ने हँसते हँसते कहा कि ''मिथ्या भाषी आपको धिक्कार है। आप वस्त्रादिक ग्रंथी को धारण करने वाले हो, और फिर भी निर्ग्रन्थ काहे के? केवल आजीविका के लिए ही इस पाखंड की कल्पना करी लगती है। वस्त्रादिक संग से रहित और शरीर में भी अपेक्षा रहित जैसे मेरे धर्माचार्य हैं, वैसे निर्ग्रन्थ होने चाहिए।'' वे जिनेन्द्र को जानते नहीं थे, इसलिए गोशालक के इस प्रकार के वचन सुनकर बोले कि 'जैसा तू है, वैसे निर्ग्रन्थ होने चाहिए।'' क्योंकि वे स्वयमेव लिंग ग्रहण करने वाले लगते हैं। क्षुधातुर हुए गोशाला ने उनके ऐसे वचनो से शाप दिया कि, 'यदि मेरे गुरु का तपतेज हो तो यह तुम्हारा उपाश्रय जल जावे' वे बोले कि 'तेरे वचनों से हम कोई जलेंगे नहीं। गोशाला शर्मिंदा होकर प्रभु के पास आकर कहने लगा कि, 'आज मैंने आपके तपस्वीपने की निंदा करनवाले सग्रंथ साधुओं को देखा।

आपकी निंदा सुनकर मैंने क्रोध से उनको श्राप दिया कि आपका उपाश्रय जल जाए, तथापि वह उपाश्रय जरा भी जला नहीं। इसलिए हे स्वामिन्! इसका क्या कारण है? बताईये।' सिद्धार्थ बोला– 'अरे मूढ! वे श्री पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य है, उनका उपाश्रय तेरे श्राप से कैसे जलेगा? इतने में रात पड़ गई, तब वे मुनिचंद्रसूरि उपाश्रय के बाहर प्रतिमा धारण करके स्थित हुए। वो कुपन कुंमार मदिरापान करके उन्मत्त होकर घूमता घूमता वहाँ आया। उसने आचार्य को देखा। तो उस दुष्ट कुंभार ने चोर बुद्धि से आचार्य को गले से पकड़ कर श्वांस रहित कर दिया। तो भी वे शुभ ध्यान से चलित नहीं हुए। उस वेदना को सहन करते हुए उनको तत्काल ही अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ और मरण प्राप्त करके वे देवलोक में गये। उस स्थान के नजदीक में रहे हुए व्यंतर देवों ने प्रातः काल के पवन की तरह उन पर पुष्पवृष्टि करके उनकी महिमा की।

(गा. 445 से 466)

इधर गोशाले ने आकाश में बिजली की भांति प्रकाशमान देवश्रेणी को देखकर प्रभु को पूछा कि, स्वामी! क्या यह आपके शत्रुओं का उपाश्रय जल गया? आकाश में दृष्ट उद्योत से मुझे ऐसा अनुमान लगता है। सिद्धार्थ ने कहा कि, "अरे ऐसा मत कह, ये तो वे आचार्य शुभ ध्यान से स्वर्ग में गये। क्योंकि शुभ ध्यान कामधेनु की भांति सब मनोरथों को पूर्ण करता है। उनकी महिमा करने के लिए ये तेजोमय देवगण आए हैं। तुझ अल्पबुद्धि वाले मनुष्य को इसमें अग्नि की भ्रांति हो रही है।" कौतुक देखने के लिए गोशाला शीघ्र ही वहाँ गया। इतने में तो देवगण स्वस्थान पर चले गये। क्योंकि 'ऐसे दुष्ट को देवदर्शन कहाँ से हो? परंतु वहाँ पुष्प और सुगन्धित जल की वृष्टि देखकर हर्षित हुआ। वहाँ से उपाश्रय में जाकर जहाँ उनके शिष्य सो रहे थे, उनको इस प्रकार कहने लगा, "अरे मुंडों! तुम दुष्ट शिष्य हों, क्योंकि दिन में इच्छानुसार भोजन करके सारी रात अजगर की तरह सोते रहते हो। तुम जानते भी नहीं हो कि तुम्हारे आचार्य की मृत्यु हो गई। अहो! उत्तम कुल में जन्म लेने वाले तुम जैसे को गुरु के विषय में इतना भी प्रतिबंध नहीं है? पश्चात् वे शिष्य बैठे हुए और यह पिशाच की तरह कौन बोल रहा है? ऐसा चिंतन करने लगे। तब वे उपाश्रय से बाहर आए। वहाँ आचार्य श्री को मरण प्राप्त हुआ जानकर वे कुलीन पुत्रों की तरह अत्यन्त खेदित होकर बहुत समय तक अपनी आत्मा की निंदा करने लगे।

गोशाला भी उनका तिरस्कार करके स्वेच्छा से जैसे तैसे बोलता हुआ प्रभु के पास आया।

(गा. 467 से 477)

प्रभु वहाँ से विहार करके चोराक गांव में आये। वहाँ परचक्र के भय से चोर को शोधने वाले आरक्षक पुरूषों ने गोशाला सहित प्रभु को कायोत्सर्ग में रहे हुए देखा। उन्होंने पूछा कि, तुम कौन हो? परंतु मौन के अभिग्रह वाले प्रभु तो कुछ भी बोले नहीं। ''मुनि तो बधिर जैसे ही होते हैं।'' उत्तर न मिलने से उसने सोचा कि, 'जरूर ये कोई उठाईगीर है, इसके लिए ही मौन है।' ऐसा सोचकर उन क्रूर बुद्धिवाले पुरुषों ने गोशाला सहित प्रभु को पकड़ लिया और दोनों को डाकिनी की तरह बांधकर कुए में डाल दिया और घड़े की तरह बार–बार ऊँचा नीचा करने लगे। इसी समय सोमा और जयंति नामकी उत्पल नैमित्तिक की दोनों बहने जो कि पार्श्वनाथ प्रभु की शिष्या (उत्तम साध्वियाँ) हुई थी, वे गाँव में आई हुए थी। उन्होंने लोगों से सुना कि, 'अमुक स्वरूपवाले किन्ही दो पुरुषों को आरक्षक लोग कुए में डालकर ऊंचे नीचे करके पानी में डाल–निकाल कर पीड़ित कर रहे हैं। यह सुनकर उन्होंने सोचा कि, 'कदाच ये चरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी न हो? यह विचार आते ही वे दोनों शीघ्र ही वहाँ आई, वहाँ तो प्रभु को ही ऐसी स्थिति में पाया। तो उन्होंने आरक्षकों को कहा कि, 'अरे मूर्खो! क्या तुम मरना चाहते हो? क्या तुम नहीं जानते कि ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर है? साध्वी के ऐसे वचन सुनकर भयभीत होकर प्रभु को मुक्त कर दिया और उनसे बार बार क्षमा याचना करने लगे। परंतु ''महान् पुरुष कोप करते ही नहीं।'' वे तो अपनी आत्मा को कहीं मलिन हो जाय, ऐसी शंका होने से क्षमा ही करते है।

(गा. 478 से 486)

कुछ दिन वहाँ व्यतीत करके चतुर्थ चौमासा करने के लिए प्रभु पृष्टचंपा नगरी में पधारे। वहाँ चारमासक्षमण करके, विविध प्रकार की प्रतिमा धारण करके प्रभु चातुर्मास में वहाँ रहे। चातुर्मास के अंतिम दिन में कायोत्सर्ग पार कर वहाँ से निकलकर कृतमंगल नामक नगर में गये। उस नगर में दरिद्र स्थविर रूप से प्रख्यात आंरभी परिग्रह धारी और स्त्री संतानवाले कितनेक पाखंडी रहते थे। उनके पाडे के बीच में एक विशाल देवालय था। उसमें उनके कुलक्रम से आए किसी देवता की प्रतिमा थी। उस देवालय के एक कोने में मानो कि

उसका स्तंभ हो वैसे निष्कंप होकर वीर प्रभु कायोत्सर्ग में रहे। माघमहिने का समय था, दुःसह शीत व्याप्त था। जिस दिन प्रभु पधारे उस दिन पाखंडियों के उस देवालय में रात्रि में महोत्सव था। इसलिए पुत्रादि परिवार को लेकर वे सभी देवालय में एकत्रित हुए, पश्चात् नृत्य, गीत, गान करके जागरण करने लगे। यह देख गोशाला हास्य करते हुए बोला– 'अरे! ये पाखंडिजन कैसे हैं? कि जिनकी स्त्रियाँ भी मद्यपान करके इस प्रकार नृत्य गीत गान कर रही है। यह सुनकर कोपायमान होकर उन्होंने उसे देवालय में से बाहर निकाल दिया। गोशाला सर्दी में हकार की तरह अंग संकुचित करता हुआ एवं गायक जिस प्रकार वीणा बजाता है वैसे दंतवीणा बजाता हुआ बाहर खड़ा रहा। कुछ समय पश्चात् उस पर अनुकंपा करके उसे पुनः अंदर दाखिल कर लिया। किन्तु उसकी ठंड दूर हो जाने पर वह पुनः पूर्व की भांति बोलने लगा, तो उसे पुनः बाहर निकाल दिया। फिर दया लाकर प्रवेश कराया। इस प्रकार कोप एवं कृपा करके उन्होंने उस गोशाला को तीन बार निकाला और अंदर लिया। जब चौथी बार गौशाला अंदर आया तब वह बोला कि, 'अरे पाखंडियों! अल्पबुद्धिवाले ऐसे तुम लोगों को सत्य कथन पर क्यों क्रोध आता है? तुम्हारे ऐसे दुष्ट चारित्र पर क्यों नहीं कुपित होते हो? यह सुनकर उसको कूटने के लिए युवान पाखंडियों तैयार हुए तब उनके वृद्धजन उनको रोकते हुए बोले–'यह महातपस्वी महात्मा देवार्य का कोई पीठधारी या उपासक दिखाई देता है, अतः इसके बोल को गिनना नहीं। भले ही स्वेच्छा से इसे बकवास करने दो। यदि तुम यह श्रवण नहीं कर सकते हो तो वाद्य बजाया करो। तब उन्होंने वैसा ही किया। अनुक्रम से सूर्योदय हुआ, तब वीरप्रभु वहाँ से प्रस्थान करके श्रावस्ती नगरी में आए, एवं नगर के बाहर उद्यान में कायोत्सर्ग धारण करके रहे।

(गा. 487 से 505)

भोजन की वेला होने पर गौशाला ने प्रभु से कहा कि, 'भगवान्! भिक्षा लेने चलो, मनुष्य जन्म में सार–भूत एक भोजन ही है।' सिद्धार्थ ने पूर्व की भांति की कहा, 'अरे भद्र! आज उपवास है।' तब गोशाला ने पूछा कि, स्वामी! तो मेरा आज कैसा आहार होगा? सिद्धार्थ बोला,– 'आज तो तुझे नरमांस की भिक्षा मिलेगी। गोशाला बोला–'जहां मांस की गंध भी न हो, ऐसे स्थान पर ही मैं भिक्षा लूंगा।' ऐसा निश्चय करके वह श्रावस्ती में भिक्षाटन के लिए गया।

(गा. 506 से 508)

उस नगरी में पितृदत्त नामका एक गृहस्थ था। उसके श्री भद्रा नामकी प्रिया थी। वह मृतक पुत्रों का प्रसव करती थी। एक बार उसने शिवदत्त नाम के नैमेत्तिक को आदर से पूछा कि 'मेरी संतान किस प्रकार जीवित रहे ? उसने कहा, ''भद्रे! जब तेरे मृत संतान जन्मे, तब उसके रुधिर युक्त मांस की दूध, घी एवं मघु के साथ मिलाकर खीर बनाना, पश्चात् धूल धूसरित पैर वाला कोई अच्छा भिक्षु आए, उसे दे देना। ऐसा करने से अवश्य ही तेरी संतान जीवित रहेगी। इससे तेरी प्रसूति का नाश नहीं होगा। परंतु जब वह भिक्षुक भोजन करके जावे तब तुमको शीध्र ही घर का द्वार बदल देना होगा, क्योंकि यदि बाद में कभी वह इसे जान जावे तो कोप से तुम्हारा घर जला नहीं डाले। संतान की अर्थवाली उस स्त्री ने जब गोशाला भिक्षा लेने गया, उसी दिन बालक का जन्म होने से पूर्वोक्त रीति से क्षीर बनाई। जब वह गोशाला उसके घर आया, तब भक्ति से वह पायसान्न उसे दिया। गोशाला उसे खाकर प्रभु के पास आया और उसकी बात कह सुनाई। सिद्धार्थ ने जब क्षीर संबंधी मूल बात उसे सुनाई, तब उसने तत्काल ही मुख में अंगुली डालकर वमन किया। उसमें बालक के नख आदि सूक्ष्म अवयव देखकर उसे बहुत ही क्रोध आया। इससे वह उस स्त्री का घर शोधने चला। किन्तु उसके घर को पहचान नहीं पाया। तब वह गोशाला बोला, 'यदि मेरे गुरु का तपतेज हो तो यह सारा प्रदेश जलकर खाक हो जाय।' सानिध्य में रहे व्यंतरों ने विचार किया कि 'प्रभु का माहात्म्य अन्यथा न हो।' ऐसा सोचकर उन्होंने सारा ही प्रदेश जला डाला।

(गा. 509 से 519)

वहाँ से प्रस्थान करके प्रभु हरिद्रु गांव में गए। वहाँ गाँव के बाहर रहे हरिद्रु वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय पत्र की छाया रूप छत्रवाले उसी वृक्ष के नीचे श्रावस्ती नगरी में जा रहा कोई बड़ा सार्थ उतरा। शेर से भयभीत के समान सार्थ ने ठंडी से भयभीत होकर रात्रि में अग्नि प्रज्वलित की। प्रातःकाल उठकर वह सार्थ चलता बना, परंतु प्रमाद से उस अग्नि को बुझाया नहीं। वह अग्नि महावीर प्रभु के पास आ पहुँचा। तब भगवन्! यह अग्नि नजदीक आ गई इसलिए यहाँ से भाग जावें।' ऐसा बोलता हुआ गोशाला शीघ्र ही काकपक्षी की तरह वहाँ से अन्यत्र भाग गया। प्रभु ने उसका वचन सुना तो था फिर भी कर्मरूपी ईंधन को भस्म करने में ध्यान रूपी अग्नि के समान उस अग्नि को जानते हुए भी वहाँ ही स्थिर होकर खड़े रहे।

(गा. 520 से 525)

हेमन्त के तुषार से कमल के दो कोश के समान उस अग्नि से प्रभु के चरण श्यामवर्ण के हो गये। अग्नि शांत होने के पश्चात् प्रभु गोशाला सहित लांगल नामक गाँव में गए। वहाँ वासुदेव के मंदिर में प्रतिमा धारण करके रहे। उस गांव के बालक वहाँ क्रीड़ा कर रहे थे। उनको गोशाला प्रेत की तरह विकृत रूप करके चारों तरफ से डराने लगा। उसके भय से किसी के वस्त्र गिर गए, तो किन्हीं के नाक फूट गए, तो कोई चलते चलते गिर पड़े। इस प्रकार सभी बालक गांव की ओर भाग गए। तब उन बालकों के पिता वहां आए और गोशाला को विकृत रूपधारी देखकर बोले, 'अरे! हमारे बालकों को क्यों डराता है? ऐसा कहकर उसे खूब जोर जोर से मारने लगे। उसी समय गाँव की वृद्धा वहाँ आई और प्रभु को देखकर कहने लगी–अरे मूर्खों! इसे छोड़ दो। यह तो देवार्य का सेवक हो, ऐसा लगता है। उस वृद्धा के कहने पर उसे छोड़ दिया। तब गोशाला ने प्रभु से कहा, 'स्वामी! अन्य लोग मुझे मारते हैं, फिर भी आप अद्यापि मेरी उपेक्षा क्यों करते हो? आप तो वज्र की तरह निष्ठुर लगते हो!' तब सिद्धार्थ ने कहा, 'तू जो मार खा रहा है, वह व्याधि की तरह अंग में उठे तेरे स्वभाव से ही खाता है। वहाँ से कायोत्सर्ग पारकर विहार करके प्रभु आवर्त नामक गांव में आए। वहाँ बलदेव के मंदिर में प्रतिमा वहन की। गोशाला वहाँ भी पूर्व की भांति आकर बालकों को डराने लगा। उन बालकों के पिता ने वहाँ आकर दुर्भद सांढ की तरह उसे कूट डाला। किंतु उनके जाने के पश्चात् फिरसे वह उन बालकों को डराने लगा। 'प्राणियों से प्राणांत तक भी प्रकृति छूटती नहीं।'' क्रोधित होकर उन बालकों के पिता वहाँ आकर परस्पर कहने लगे कि ''इस बिचारे बालकुटक को मारना ठीक नहीं, उसके स्वामी को ही मारो। कारण कि वह इसका निषेध क्यों नहीं करता? सेवक अपराध करे तो उसके स्वामी को दंडित करना, ऐसी मर्यादा है।'' पश्चात् अपराधी होने पर भी श्वान की तरह गोशाला को छोड़कर उन दुर्बुद्धियों ने डंडे उठाए और वीर प्रभु के पास आये। इतने में वहाँ रहा हुआ अर्हन्त का भक्त कोई व्यंतर क्रोध से बलदेव की प्रतिमा में अधिष्ठित हुआ। इससे मानो प्रत्यक्ष बलदेव हो, वैसे वह बलदेव की प्रतिमा हल लेकर उनको सामने से मारने को आई। यह देखकर आशंका और विस्मित होकर सर्व ग्राम्यजन प्रभु के चरण कमल में गिर कर खमाने लगे और स्वयं को निंदित करने लगे।

(गा. 526 से 541)

वहाँ से प्रयाण करके प्रभु चोराक गाँव में आए। किसी एकांत स्थल पर प्रतिमा धारण करके रहे। गोशाला ने कहा, 'स्वामी! गोचरी जाना है या नहीं? सिद्धार्थ ने कहा, 'आज हमारे उपवास है।' तब क्षुधातुर हुआ गोशाला अकेला ही उत्सुक होकर भिक्षा के लिए गांव में गया। वहाँ किसी स्थान पर गोठ हेतु रसोई तैयार होती उसने देखी। तब भिक्षा का समय हुआ है या नहीं?' उसका निर्णय करने के लिए गोशाला छिप छिप कर देखने लगा। उस समय गाँव में चोर लोगों का बहुत भय था, इसलिए यह छुप छुप कर देख रहा है, अतः यह चोर है अथवा चोर द्वार प्रेषित कोई चर पुरूष है।' ऐसा तर्क करके गांव के लोगों ने गोशाला को पीट डाला। तब गोशाला ने गुस्सा होकर शाप दिया कि 'यदि मेरे धर्म गुरु का तप तेज हो तो इन लोगों का गोष्ठि मंडप जल जाय।' तब भगवंत के भक्त व्यंतरों ने उस मंडप को जला दिया। वहाँ से विहार करके प्रभु कलंबुक नामक गाँव में गये। उस गाँव में मेघ और कालहस्ती सैन्य लेकर चोरों के पीछे जा रहा था। उसने मार्ग में गौशाला सहित वीर प्रभु को आते हुए देखा। तब उसने उन पर चोर की शंकी की। ''ऐसे लोगों की ऐसी ही बुद्धि होती है।'' कालहस्ती ने पूछा कि 'आप कौन है' परंतु मौनधारी प्रभु कुछ भी बोले नहीं। गोशाला भी मस्करी के कारण बंदर की तरह कुछ बोला नहीं। उसने गोशाला और प्रभु को बांधकर अपने भाई मेघ को सौंप दिये। वह मेघ सिद्धार्थ राजा का सेवक था और उसने पहले भी प्रभु को देखा था। इसलिए वह प्रभु को पहचान गया, और प्रभु से क्षमा माँग छोड़ दिया। प्रभु ने अवधिज्ञान से जाना कि 'अभी तो मुझे बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है।' वे कर्म सहायता बिना मुझ से तुरंत खपाये नहीं जायेंगे क्योंकि सैनिकों के बिना शत्रुओं का विशाल समूह जीता नहीं जा सकता। इस आर्य देश में विहार करने में मुझे वैसी सहायता मिलनी दुर्लभ है। इसलिए अब मैं अनार्य देश में विहार करूं।' ऐसा विचार करके जैसे विशाल घोर सागर में जलजंतु प्रवेश करते हैं, वैसे प्रभु लाट देश में गए, जिस देश में प्राय सभी क्रूर स्वभावी मनुष्य ही रहते हैं। वहाँ प्रभु को देखकर कोई 'मुंड मुंड' ऐसा कहकर मारने लगे। कोई आर्य राजा का गुप्तचर समझ कर पकड़ने लगा, कोई चोर समझकर उनको बांधने लगे। कोई कौतक से प्रभु के ऊपर भौंकते हुए कुत्ते छोड़ने लगे तो अन्य अपनी मर्जी के अनुसार अनेक प्रकार की बिडंबना करने लगे। परंतु जैसे रोगी अति उग्र औषधियाँ से रोग का निग्रह होता जानकर हर्षित होते थे। वैसे प्रभु ऐसे उपसर्गों से कर्म क्षय होते

ज्ञात कर हर्षित होते थे। वन में से पकड़कर लाए हुए हाथी की तरह गोशाला ने भी वहाँ बंधन और ताड़न आदि की अनेक वेदनाएँ सहन करी। प्रभु वहाँ कर्म की अनेक निर्जरा करके मानो कृतार्थ हुए हो वैसे आर्य देश के सन्मुख चल दिये। अनुक्रम से पूर्णकलश नामक गांव के नजदीक जाने पर लाट देश की भूमि में प्रवेश करने के इच्छुक दो चोरों ने प्रभु को सामने आते हुए देखा। तब ये अपशकुन हुए। ऐसा विचार करके प्रभु को मारने की इच्छा से कर्तिका उठाकर, प्रेत की तरह खड्ग उठाकर प्रभु के सामने दौड़े। इसी समय देवलोक में बैठे इंद्र ने चिंतन किया कि, 'इस समय वीर प्रभु कहाँ होंगे ? अवधिज्ञान से देखने पर प्रभु को और उनको मारने में तत्पर हुए उन दोनों चोरों को तत्रस्थ देखा। तत्काल सिंह जैसे हाथी को मार सके ऐसे पंजे से दो हिरण को मारे वैसे इंद्र ने बड़े पर्वत को पराक्रमी वज्र द्वारा उन दोनों चोरों को मार डाला।

(गा. 542 से 565)

वहाँ से विहार करके प्रभु भद्दिलपुर में आए। वहाँ चार मास (चौमासी तप) करके पाँचवे चातुर्मास में रहे। तप का पारणा करके वहाँ से विहार करके अनुक्रम से प्रभु कदली समागम नामक गाँव के पास आए। वहाँ के लोग याचकों को अन्न का दान दे रहे थे। वह देखकर गोशाला ने प्रभु से कहा कि, 'स्वामी! यहाँ भोजन करो। सिद्धार्थ ने कहा कि हमारे आज उपवास है। तब तो मैं अकेला ही खाऊंगा। ऐसा कहकर वह वहाँ गया। गोशाला वहाँ जीमने बैठा परंतु पिशाच की तरह वह तृप्त नहीं हुआ। तब गाँव के लोगों ने सर्व अन्न से भरपूर एक थाल उसे अर्पण कर दिया। गोशाला उसमें से सर्व अन्न खा सका नहीं। आकंठ आहार किया। इससे पानी पीने में भी मंद हो गया। तब उन लोगों ने कहा अरे! तू अपने आहार करने की शक्ति को भी जानता नहीं है ? इसलिए तू तो मूर्तिमान् अकाल है। ऐस कहकर वह थाल उसके मस्तक पर फेंका। पश्चात् तृप्ति से पेट को सहलाता सहलाता गोशाला वहाँ से चला गया।

(गा. 566 से 572)

वहाँ से विहार करके प्रभु जंबूखंड नामक गांव में आये। प्रभु कायोत्सर्ग में रहे, और गोशाला सदाव्रत का भोजन प्राप्त करने की इच्छा से पूर्ववत् उस गाँव में गया। पूर्व की तरह वहाँ उसे भोजन एवं तिरस्कार दोनों ही मिले। वहाँ से विहार करके प्रभु तुंबाक नाम के गांव के समीप आए। प्रभु बाहर प्रतिमा धारण

करके रहे एवं गोशाला गांव में गया। उस गाँव में बहुश्रुत और अनेक शिष्यों के परिवार से परिवृत्त श्री पार्श्वनाथ के शिष्य वृद्ध नंदीषेणाचार्य आये थे। वे गच्छ की सर्व चिंता छोड़कर जिनकल्प के प्रतिकर्म को करते थे। उनको देखकर गोशाला मुनिचंद्रचार्य की तरह उनका हास्य करके प्रभु के समीप आया। वे महर्षि नंदीषेण रात्रि में उस गांव के किसी चौक में धर्मध्यान करने के लिए कायोत्सर्ग करके स्तंभ की भांति स्थिर रहे। चौकीदारी करने निकले ग्रामरक्षकों ने उनको चोर की भ्रांति से मार डाला। वे शीघ्र अवधिज्ञान प्राप्त करके मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में गए। देवताओं ने उनकी महिमा की। यह देखकर गोशाला ने वहाँ आकर उनके शिष्यों का पूर्ववत् तिरस्कार किया।

(गा. 573 से 580)

वहाँ से विहार करके प्रभु कूपिका गाँव के समीप आए। वहाँ आरक्षक लोगों ने प्रच्छन्न चर पुरुष की भ्रांति से गोशाला सहित प्रभु को हैरान किया। उस समय 'निरपराधी ऐसे किसी रूपवान्, शांत और देवार्य को गुप्तचर की भ्रांति से आरक्षक मार रहे हैं।' ऐसा वार्तालाप लोग करने लगे। यह बात श्री पार्श्वनाथ जी की प्रगल्भा और विजया नाम की दो शिष्याओं ने जिन्होंने चारित्र छोड़कर निर्वाह के लिए परिव्राजिका का रूप धारण किया था। वे उस गाँव में रहती थी, उन्होंने सुना। इससे 'कहीं वे प्रभु न हों?' ऐसी शंका करती हुई वे वहाँ आई। वहाँ भगवंत को वैसी स्थिति में देखा। तब उन्होंने प्रभु को वंदना करके आरक्षकों को कहा कि, 'अरे मूर्ख! ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र श्री महावीर हैं, क्या तुम ये नहीं जानते? अब जल्दी उनको छोड़ दो, क्योंकि ये समाचार यादि इंद्र जानेंगे तो तुम्हारे उपर प्राणहर वज्र छोड़ देगें।'' ऐसा सुनकर उन्होंने प्रभु को छोड़ दिया और बारम्बार क्षमा मांगी। वहाँ से प्रभु विशालापुरी तरफ चले। आगे जाने पर दो मार्ग आए। तब गोशाला ने कहा कि, 'हे नाथ! मैं आपके साथ नहीं आऊंगा, क्योंकि जब मुझे कोई मारता है, आप तटस्थ होकर देखा ही करते हो, और फिर जब आपको उपसर्ग होते हैं, तब मुझे भी वे उपसर्ग होते हैं, क्योंकि अग्नि सूके के साथ हरे को भी जला देती है। और लोग भी पहले मुझे मारते हैं फिर आपको मारते है। साथ ही अच्छे भोजन की इच्छा होने पर भी किसी दिन भोजन होता है, तो किसी दिन भूखा ही रहना पड़ता है। फिर पाषाण में और रत्न में, अरण्य में और नगर में, धूप में और छांव में, अग्नि में

और जल में, हत्यारे में और सेवक में, निर्विशेष–समदृष्टि रखने वाले आपकी सेवा करे, वैसी निष्फल आपकी सेवा मैंने भ्रांत होकर आज तक की है, वह याद करना। अब मैं वैसी सेवा करुंगा नहीं।'' सिद्धार्थ बोला 'तुझे जैसा रुचे वैसा कर। हमारी तो ऐसी ही शैली है, वह कभी भी अन्यथा होगी नहीं।

(गा. 581 से 594)

प्रभु वहाँ से विशाला नगरी के मार्ग की ओर चल दिये, और गोशाला अकेला राजगृही नगर के मार्ग पर चला। आगे जाने पर सर्प के बड़े बिल में चूहा घुसे वैसे जिसमें पांच सौ चोर रहते हैं, ऐसे एक विशाल अरण्य में गोशाला ने प्रवेश किया। एक चोर ने गिद्ध की तरह वृक्ष के ऊपर से गोशाला को दूर से आते हुए देखा। इसलिए उसने अन्य चोरों से कहा कि 'कोई द्रव्य रहित नग्न पुरुष आ रहा है।' वे बोले 'वह नग्न है, तो भी अपने को उसे छोड़ना नहीं है, क्योंकि हो सकता है वह किसी के द्वारा प्रेषित चर पुरुष न हो। इसलिए वह अपना पराभव करके जाय, यह उचित नहीं।' इस प्रकार विचार करके उन्होंने नजदीक आने पर 'मामा–मामा' कहकर बारी बारी से उसके कंधे पर चढ़कर उसे चलाने लगे। बार बार इस प्रकार चलाने से गोशाला के शरीर श्वास मात्र ही बाकी रहा। तब चोर लोग उसे छोड़कर वहाँ से अन्यत्र चले गये। गोशाला ने सोचा कि ''स्वामी से जुदा होते ही प्रारंभ में ही श्वान की भांति मुझे ऐसी दुःसह विपत्ति भोगनी पड़ी। प्रभु की विपत्ति को तो इंद्रादिक देवता भी आ आकर उसको दूर कर देते हैं, तो उनकी चरणों की शरण में रहने से मेरी भी विपत्तियों का नाश हो जाता है। प्रभु स्वयं रक्षण करने में समर्थ होने पर भी किसी कारण से उदासीन रहते हैं, ऐसे प्रभु को मंदभाग्यवाले पुरुष धन की निधि को प्राप्त करे वैसे मैं अब प्रभु को कैसे प्राप्त करूंगा ? इसलिए चलो अब उनकी ही शोध करूं।'' ऐसा निश्चय करके गोशाला प्रभु के दर्शन के लिए उस वन का उल्लंधन करके अश्रांत रूप से धूमने लगा।

(गा. 595 से 604)

प्रभु विशाला नगरी में आए। वहाँ किसी लोहकार की (लुहार) की शाला में लोगों की आज्ञा लेकर प्रभु प्रतिमा धारण करके रहे। उस शाला का स्वामी लुहार छः मास से रोग से आक्रान्त होकर उसी समय निरोगी हुआ था। उसी दिन वह अपने परिजनो परिवृत्त होकर अपनी कोड़ (शाला) में आया। वहाँ प्रभु

को देख कर उसने सोचा कि, ''पहले ही दिन में मुझे इस पाखंडी के दर्शन हुए, यह बहुत बड़ा अपशकुन हुआ। इसलिए इसके ऊपर ही लोहे का घण मारकर इस अमंगल को दूर करूं। तब वह दुष्ट प्रभु को मारने के लिए घण उठाकर दौड़ा। उस वक्त इंद्र को विचार हुआ कि 'अभी प्रभु कहाँ होगे ? अवधिज्ञान से देखने पर उस लुहार को घण मारने को उद्यत हुआ जानकर इंद्र तत्काल ही वहाँ आए और उस घण को उसी के सिर पर ही पटकाया। इससे मुश्किल से रोगमुक्त होने पर भी धण के प्रहार से वह लुहार यमद्वार में पहुँच गया। इंद्र प्रभु को नमस्कार करके सौधर्मकल्प में गए।

(गा. 605 से 610)

वहाँ से विहार करके प्रभु ग्रामक नामक गाँव के पास में आये। वहाँ बिभेलक नामक उद्यान में आए। वहाँ बिभेलक नाम के यक्ष के मंदिर में प्रभु कायोत्सर्ग में रहे। उस यक्ष ने पूर्वभव में समकित की स्पर्शना की हुई थी, इसलिए उसने अनुरागपर्वक दिव्य पुष्पों एवं विलेपनादिक से प्रभु की पूजा की।

(गा. 611 से 613)

वहाँ से प्रभु शालिशीर्ष गांव में पधारे। वहाँ उद्यान में प्रतिमा धारण करके रहे। उस समय माघ मास वर्त रहा था। वहाँ कटपूतना नामकी एक वाणव्यंतरी देवी थी। वह प्रभु के त्रिपृष्ट के जन्म में विजयवती नाम की पत्नि थी। उस भव में उसे अच्छी तरह मान न मिलने से वह रोष में भरकर मृत्यु को प्राप्त हुई। कुछ भवों में भ्रमण कर के पश्चात् वह मनुष्य भव में आई। उस भव में बालतप करके मृत्यु के प्राप्त कर इस भव में वह व्यंतरी हुई थी। पूर्व भव के बैर से और प्रभु के तेज को सहन न कर सकने से उसने प्रभु के पास आकर तापसी रूप की विकुर्वणा की। तब सिर पर जटा धारण कर, वल्कल वस्त्र पहन कर, हिम जैसे शीतल जल में शरीर को डुबाकर प्रभु के ऊपर ऊँची खड़े रहकर फिर पवन का विस्तार करके अर्थात् जोर से हवा चलाकर सीसोलिया की तरह शरीर पर से जल के अति दुःसह शीतल बिंदु प्रभु के ऊपर गिराने लगी। जटा के अग्र भाग से और वल्कल में से गिरते जलबिंदुओं से प्रभु को भिगो दिया। यदि कोई अन्य पुरुष होता तो वह शीत से ही ठर जाता अर्थात् उसके प्राण चले जाते। इस प्रकार सम्पूर्ण रात्रि में शीतोपसर्ग सहन करके प्रभु अत्यंत कर्मों को खपावे वैसा धर्मध्यान विशेष रूप से दीप उठा एवं अनुत्तर विमानवासी देवों की भांति

सर्व लोक को अवलोकन करने वाला परमावधिज्ञान उत्पन्न हुआ। श्री वीरप्रभु को देवभव में भी जब जब सहज अवधिज्ञान हुआ था, तब वे एकादशांग सूत्रार्थ के धारक हुए थे। यहाँ रात्रि व्यातीत हुई, तब कटपूतना भी शांत हो गई। तब वह बहुत पश्चात्ताप करके भक्तिपूर्वक प्रभु की पूजा करके स्वस्थान पर चली गई।

(गा. 614 से 624)

वहाँ से विहार करके प्रभु भद्रिकापुरी में आए। वहां दीक्षा के पश्चात् छट्ठा चौमासा करने हेतु प्रभु तपाचरण करके वहाँ रहे। छः मास के पश्चात् गोशाला वहाँ आकर मिला, पूर्व की तरह प्रभु की सेवा करता हुआ वह साथ में रहा। प्रभु ने विविध अभिग्रह पूर्वक चार मासक्षमण किये। वर्षाकाल निर्गमन करके नगरी के बाहर पारणा किया।

(गा. 625 से 627)

इति आचार्य श्री हेमचंद्रसूरि विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र महाकाव्य के दशम पर्व में श्री महावीर प्रथम षड्वर्ष छद्मस्थ विहारवर्णन नामक तृतीय सर्ग

चतुर्थ सर्ग

श्री महावीर स्वामी का अन्य छः वर्ष का छद्मस्थ विहार

गोशाला से सेवित श्री वीरभगवंत ने उसके पश्चात् आठ महिने तक उपसर्ग रहित मगधदेश की भूमि में विहार किया। पश्चात् आलंभिका नगरी में गये। वहाँ चार मासक्षमण करके चौमासे का उल्लंघन किया। चातुर्मास पूर्ण होने के पश्चात् उस नगरी के बाहर पारणा करके प्रभु गोशाला सहित कुंडक नामक गांव में गये। वहाँ वासुदेव के मंदिर में एक कोने में मानो रत्नमय प्रतिमा बिठाई हो वैसे प्रभु प्रतिमा धारण करके रहे। प्रकृति से निर्लज्ज और बहुत समय से की संलीनता से आतुर हुआ गोशाला वासुदेव की प्रतिमा के मुख के पास पुरुष चिह्न धर कर खड़ा रहा। इतने में वहाँ का पुजारी आया, वह गोशाला को ऐसी स्थिति में देखकर सोचने लगा कि 'यह या तो पिशाचग्रस्त है अथवा पागल पुरुष है।' ऐसा विचार करता हुआ वह अंदर घुसा और अच्छी तरह से देखा। तब उसने उसे नग्न देखकर सोचा कि 'यह कोई नग्न जैन साधु लगता है।' पुनः सोचा कि 'यदि मैं इसको मारुंगा तो लोग कहेगे कि इस दुष्ट ने निर्दोष ऐसे साधु को बिना कारण मारा है, इसलिए इसका गाँववालों को जो योग्य लगे वह करे। मैं यह बात गाँव के लोगों को जाकर कहूँ। ऐसा सोचकर उस गांव के लोगों को उसे बताने के लिए ले आया। शीघ्र ही गांव के बालकों ने उसे थप्पड़ और मुष्टिओं से ताड़न करना चालू किया। तब यह तो पागल है, इसलिए इसे मारना व्यर्थ है, ऐसा कहकर वृद्ध लोगों ने उसे छुड़ाया।

(गा. 1 से 10)

कर्मरूपी शत्रुओं का मर्दन करने वाले प्रभु वहाँ से विहार करके मर्दन नामक गांव के पास आए। वहाँ बलदेव के मंदिर में प्रतिमा धारण करके रहे। वहाँ भी पूर्व के सदृश बलदेव के मुख में पुरुषचिह्न रखकर गोशाला खड़ा रहा।

इससे पूर्व की भांति गांव के लोगों ने कूटा एवं पहले के जैसे ही गांव के वृद्ध लोगों ने छुड़ाया। वहाँ से विहार करके तपस्वी प्रभु बहुशाल नाम के गांव में गये। वहाँ शालवन नाम के उद्यान में प्रतिमा धारण करके रहे। वहाँ शालार्या नाम की एक व्यंतरी थी, उसने किसी भी कारण बिना क्रोध करके प्रभु के ऊपर कर्म का घात करने वाले कितनेक उपसर्ग किए। उपसर्ग करते करते जब वह श्रांत हो गई तब उसने प्रभु की पूजा की। फिर वहाँ से विहार करके वीरप्रभु लोहार्गल नाम के गाँव में आए। वहाँ जितशत्रु नाम के राजा थे। उस राजा का किसी राजा के साथ विरोध चल रहा था। वहाँ राजपुरुषों ने मार्ग में प्रभु को गोशाला सहित आते देखा। तब 'आप कौन है ? ऐसा उन्होंने पूछा। परंतु मौनधारी प्रभु कुछ भी बोले नहीं।' तब 'ये शत्रु के व्यात्कि हैं, ऐसा जानकर उनको पकड़ कर जितशत्रु राजा को सौंपा। वहाँ अस्थिक गाँव से उत्पल नैमित्तिक आया हुआ था। उसने प्रभु को पहचाना एवं वंदना की और जितशत्रु राजा को सर्व हकीकत कही। तब राजा ने भी भक्तिपूर्वक प्रभु को वंदना की।

(गा. 11 से 18)

वहाँ से विहार करके प्रभु पुरिमताल नगर में पधारे। वहाँ पहले ऐसा बनाव बना था कि वहाँ एक वागुर नामक धनाढय सेठ रहता था। उसके भद्रा नामकी प्रिया थी, जो कि वंध्या (बांझ) थी, जिससे वह संतान के लिए देवी-देवताओं की मानता कर करके थक गई थी। एक बार वे दोनों शकटमुख नाम के उद्यान में गए। वहाँ उन्होंने देवों की भांति पुष्प चुनने आदि की चिरकाल तक क्रीड़ा की। क्रीड़ा करते करते वे एक विशाल जीर्ण मंदिर के नजदीक आये। कौतुक से दोनों ने उसमें प्रवेश किया। अंदर दृष्टि को अमृत के समान श्री मल्लिनाथ प्रभु की प्रतिमा को देखकर दोनों ने श्रद्धापूर्वक उनको वंदना की। तत्पश्चात् प्रार्थना की कि 'हे देव! आपकी कृपा से यदि हमारे पुत्र या पुत्री होगी, तो हम इस चैत्य का उद्धार करायेगे एवं तब से ही सदैव आपके भक्त होकर रहेंगे।' ऐसा कहकर वे अपने घर आये। वहाँ नजदीक में ही एक अर्हन्तभक्त व्यंतरी का निवास स्थान था। उसके प्रभाव से भद्रा के उदर में गर्भ रह गया। इससे सेठ को देव पर प्रतीति अर्थात् विश्वास हो गया। गर्भ के दिन से ही आरंभ करके उन्होंने अत्यन्त हर्ष से दुर्गति से अपनी आत्मा की तरह उस देवालय का उद्धार करवाना प्रारंभ कर दिया और बुद्धिमान् वागुर सेठ ने

अभिग्रह के अनुसार प्रतिदिन वहाँ जाकर उन मल्लिनाथ प्रभु की त्रिकाल पूजा करने लगे। उसे जिनभक्त जानकर विचरण करते हुए साधु व साध्वी जी भी उसके घर आने लगे। वह भी उनकी पूजा, सत्कार करने लगा। नित प्रति साधुओं के सत्संग से श्रेष्ठ बुद्धिवाले सेठ–सेठानी ने श्रावक धर्म को ग्रहण किया। वे सर्व विधि के ज्ञाता हो गये।

(गा. 19 से 31)

इसी समय श्री वीर भगवंत उस पुरिमताल नगर के शकट मुख नामक उद्यान में काउसग्ग ध्यान में रहे। वहाँ ईशानेन्द्र जिनेश्वर प्रभु को वंदन करने हेतु आए। उसने मल्लिनाथ प्रभु के बिंब की पूजा करते जाते उस वागुर सेठ को देखा। तब ईशानेन्द्र ने कहा कि, 'अरे सेठ! इन प्रत्यक्ष जिनेश्वर का उल्लंघन करके जिनेश्वर के बिम्ब को पूजने के लिए आगे कहाँ जाते हो? ये भगवान्! श्री वीर स्वामी चरम तीर्थंकर हैं। वे छद्मस्थपने में विचरण करते हुए यहाँ प्रतिमा धारण करके रहे हुए हैं।' यह सुनकर वागुर सेठ ने मिच्छमि दुक्कडम् देकर तीन प्रदक्षिणा देकर कूर्म (कछुए) की तरह शरीर संकुचित करके भक्ति से प्रभु को वंदना की। पश्चात् ईशानेन्द्र और वागुर सेठ प्रभु को नमन करके अपने स्थान पर गए।

(गा. 32 से 35)

वहाँ से विहार करके प्रभु उष्णाक नाम के नगर की ओर चले। मार्ग में सद्य परिणीत और अत्यन्त विद्रूप आकृतियुक्त कोई वरवधू सामने मिले। उनको देखकर गोशाला बोला कि, 'अहो! देखो तो सही! इन दोनों के कैसे मोटे पेट हैं? मोटे दांत हैं, हडपची और गर्दन लंबी है, पीठ में कूबड़ निकली हुई है और नाक चपटी है। अहो! विधाता की जोड़ी बनाने की खूबी भी कैसी है? कि जिसने वर और वधू दोनों की समान जोड़ी मिला दी है। मुझे तो लगता है कि वह विधाता भी कौतुकी है।' इस प्रकार गोशाला उनके सामने जाकर बार बार कहने लगा और विदूषक के समान बारबार अट्टहास करने लगा। यह देखकर वरवधू के साथ रहे व्यक्ति क्रोधायमान हो गए। उन्होंने गोशाला को चोर की तरह मयूरबंध द्वारा बांधकर बांस के जाल में फेंक दिया। गोशाला प्रभु को उद्देश्य करके बोला कि, हे स्वामी! मुझे बांध दिया, फिर भी आप मेरी उपेक्षा कैसे कर रहे हो? आप अन्य लोगों पर भी कृपालु हो, तो क्या अपने सेवक पर

कृपालु नहीं हो?' सिद्धार्थ ने कहा कि, ''बंदर की तरह चपलता करनेवाला तेरे दुश्चरित्र से हमेशा विपत्ति तो सिद्ध हो ही चुकी है।'' प्रभु थोड़ी दूर जाकर उसकी राह देखते हुए खड़े रहे। तब उन वरवधू के व्यक्ति प्रभु को देखकर विचार करने लगे कि, 'देखो, ये महातपस्वी देवार्य इस पुरुष की राह देख रहे हैं। इसलिए शायद यह व्यक्ति उनका पीठधारी, छत्रधारी या कोई अन्य कार्य करने वाला सेवक होना चाहिये। इस प्रकार सोच कर उन्होंने प्रभु के लिए गोशाला को छोड़ दिया। पश्चात् प्रभु उसके साथ चलते हुए अनुक्रम से गोभूमि में आए। गोशाला ने ग्वालों से पूछा कि, अरे बीभत्स मूर्तिवालों! अरे म्लेच्छों! अरे अपने घर में ही शूरवीर ग्वालों! कहो, यह मार्ग कहाँ जा रहा है? ग्वालों ने कहा 'अरे! मुसाफिर! तू बिना कारण किसलिए हमको गालियाँ दे रहा है। अरे साले! तेरा नाश हो जाएगा।' गोशाला ने कहा, 'अरे दासी के पुत्रों! यदि तुम मेरा यह आक्रोश सहन नहीं कर सकोगे तो मैं और अधिक आक्रोश करूंगा, मैंने कोई तुमको गालियाँ नहीं दी। मैंने तो तुमको म्लेच्छ व बीभत्स ही तो कहा है। तो क्या तुम म्लेच्छ और बीभत्स नहीं हो? मैंने गलत क्या कहा है?' यह सुनकर उन्होंने क्रोध से गोशाला को बांधकर बांस के वन में फेंक दिया। परंतु अन्य दयालु मुसाफिरों ने उसे छुडा दिया। वहाँ से विहार करके प्रभु राजगृह नगरी में पधारे। वहाँ चार मासक्षमण द्वारा विविध प्रकार के अभिग्रह करके प्रभु ने आठवाँ चौमासा निर्गमन किया। चातुर्मास के अंत में नगर के बाहर प्रभु ने पारणा किया।

(गा. 36 से 52)

तत्पश्चात् प्रभु ने चिंतन किया कि, मुझे अभी भी बहुत से कर्मों की निर्जरा करनी है' ऐसा विचार करके कर्म निर्जरा के लिए प्रभु ने गोशाला सहित वज्रभूमि, शुद्धभूमि और लाट आदि म्लेच्छ देशों में विचरण किया। उन देशों में परमाधार्मिक जैसे स्वच्छंदी म्लेच्छ विविध उपसर्गों से श्री वीरप्रभु को उपद्रव करने लगे। कोई प्रभु की निंदा करते, तो कोई प्रभु को हंसते और कोई श्वान आदि दुष्ट प्राणियों को लेकर प्रभु को घेर लेते परंतु 'इससे कर्मों का नाश होता है' ऐसा सोचकर शल्य के उद्धार के साधनों से छेदादिक होने पर जैसे हर्ष होवे वैसे प्रभु उन उपसर्गो से हर्षित होते थे। कर्म रोग की चिकित्सा करने वाले प्रभु कर्म का क्षय करने में सहायक उन म्लेच्छों को बंधु से भी अधिक मानते थे। जिनके चरण के अंगूठे के दबाने मात्र से, दबाव से अचल ऐसा मेरु

भी कंपायमान हो गया था, वैसे श्री वीर प्रभु भी कर्म से पीड़ित होने पर भी इस प्रकार रह रहे हैं। शक्रेन्द्र ने उनकी आपत्ति को दूर करने के लिए सिद्धार्थ व्यंतर को नियुक्त किया हुआ है। परंतु वह तो मात्र गोशाला को ही उत्तर देने में ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। अन्य समय तो वह उपस्थित भी रहता नहीं है। प्रभु के चरणों में बड़े बड़े सुरेन्द्र भी आकर लोट जाते हैं और किंकर होकर रहते हैं। प्रभु की कर्म जन्य पीड़ा में इन्द्रादिक उदास होकर रहते हैं। जिनके नाम के स्मरण से दुष्ट उपद्रव भी द्रवित हो जाते हैं, उन प्रभु को उल्टे अति क्षुद्र लोक उपद्रव करते हैं, उसकी पुकार किसके आगे करें? जगत् के उन कृतघ्न सुकृतों को धिक्कार हैं कि जो स्वामी से उत्पन्न हुए हैं, फिर भी ऐसे में आए स्वामी की रक्षा करते नहीं है। सम्पूर्ण जगत् का रक्षण और क्षय करने का अपने में बल होने पर भी उसका किंचित् भी उपयोग करते नहीं। क्योंकि ''संसार सुख में आसक्त पुरूष ही अपने बल का तथा प्रकार से फल प्राप्त करना चाहते हैं।'' आश्रयस्थान न मिलने पर भी ठंड एवं धूप को सहन करते हुए प्रभु छः महिने तक धर्म जागरण करते हुए उस भूमि में रहे। शून्यागार या वृक्ष तल में रहकर धर्मध्यान में परायण ऐसे प्रभु ने नवाँ चातुर्मास निर्गमन किया।

(गा. 53 से 66)

वहाँ से विहार करके प्रभु गोशाला के साथ सिद्धार्थपुर में आये। वहाँ से कूर्मग्राम की ओर चल दिये। एक तिल के पौधे को देखकर गोशाला ने प्रभु से पूछा कि– 'स्वामी! यह तिल का पौधा फलीभूत होगा या नहीं? भवितव्यता के योग से प्रभु स्वयं मौन छोड़कर बोले, 'हे भद्र! यह तिल का पौधा फलित होगा। पुष्प के सात जीव जो अन्य पौधे में रहे हुए हैं, वे च्यव कर इस पौधे में तिल की फली में उतने ही तिल रूप में उत्पन्न होंगे।' प्रभु के इन वचनों पर गोशाला को श्रद्धा न होने से उसने उस तिल के पौधे को हाथ से उखाड़ कर अन्यत्र रख दिया। उस समय 'प्रभु की वाणी असत्य न हो' ऐसा विचार करके समीपस्थ किसी देवता ने तुरंत ही वहाँ मेघवृष्टि की विकुर्वणा की। इससे वहाँ की जमीन और वह तिल का उखड़ा पौधा गीला हो गया। इतने में तो वहाँ से कोई गाय निकली। उसके खुर से वह पैधा दब गया। वह उस आर्द्र भूमि में घुस गया। तब पृथ्वी से मिल जाने से एकमेक हो गया। इससे उसके मूल गहरे में चले गये और उसमें नये अंकुर पैदा हो गये। अनुक्रम से उस फली में प्रभु के कथनानुसार पुष्प के सात जीव तिल रूप में उत्पन्न होकर बढ़ने लगे। भगवंत वहाँ से दुष्ट

बुद्धिवाले और स्वयं को प्रभु का खरा भक्त मानने वाले गोशाला के साथ कूर्मग्राम में पधारे।

(गा. 67 से 75)

इधर चंपा और राजगृही नगरी के मध्य में धन से परिपूर्ण और महीमंडल में मंडपरूप गौबर नाम का एक गाँव था। वहाँ गोशंखी नामक एक अहीर कुटुम्बी रहता था। उसके बंधुमती नामक एक वंध्या स्त्री थी कि जो उसे अति वल्लभ थी। उस गांव के नजदीक खेटक नाम का एक गांव था। गाँव को चोर लोगों ने लूट कर नाश कर दिया एवं अनेक लोगों को बंदी बनाकर पकड़ लिया। उस समय वेशिका नाम की किसी स्त्री ने पुत्र को जन्म दिया। उसका पति मारा जाने से स्वरूपवती जानकर चोर लोगों ने उसे साथ में ले लिया। प्रसव रोग से पीड़ित वह स्त्री वृषभ जैसे दुर्दान्त और वेग से चलते चोर लोगों के साथ हाथ में बालक को लेकर चल न सकी। तब चोर बोले कि 'अरे स्त्री! यदि तू जीना चाहती है तो मूर्तिमान् व्याधि जैसे इस बालक को छोड़ दे।' तब वह वेशिका बालक को एक वृक्ष के नीचे रखकर भयभीत होकर उन चोर लोगों के साथ चल दी।'' सर्व लोगों को प्राण से विशेष अन्य कुछ भी प्रिय नहीं हैं।'' प्रातःकाल में वह गोशंखी वहाँ आया और उसने उस बालक को देखा। उसे स्वरूपवान देखकर उसे ग्रहण किया और घर आकर अपनी पत्नि को पुत्र रूप रखने को सौंप दिया। ''अपुत्रियों को अन्यों के पुत्र भी अति प्यारे लगते हैं।'' पश्चात् उस बुद्धिमान अहीर ने एक भेड़ को मारकर उसके रुधिर से बालक को लिप्त करके और अपनी पत्नि को सूतिका के वेश पहनाकर लोगों में ऐसी बात फैला दी कि ''मेरी स्त्री को गूढगर्भ था, तो आज पुत्र का प्रसव हुआ है।' ऐसा कहकर लोगों में महोत्सव किया। इधर उस बालक की माता वेशिका को जो चोर लोग ले गये थे, उसे चंपापुरी के चौटे में बेचने के लिए खड़ी कर दी। उसे अपने धंधे में योग्य समझकर किसी वेश्या ने उसे खरीद लिया। फिर उस वेश्या ने उसे गणिका का सर्व व्यवहर सिखाया। उस वेशिका का पुत्र गोशंखी अहीर के घर युवावस्था को प्राप्त हुआ।

(गा. 76 से 88)

एक बार वह मित्रों के साथ घी का गाड़ा बेचने के लिए चंपापुरी नगरी में आया। वहाँ नगरजनों को रमणियों के साथ विलास करते देख वह भी विलास

करने की इच्छा से गणिकाओं के पाड़े में आया। वहाँ अन्य वेश्याओं के मध्य में रही अपनी माता वेशिका को उसने देखा। उसके साथ रमण करने की उसकी इच्छा हुई। ''अज्ञानी मनुष्य पशु जैसे ही होते हैं।'' तब उसने उसे एक आभूषण दिया और रात्रि में स्नान विलेपन आदि करके उसके घर की ओर चल दिया। मार्ग में जाते हुए उसका एक पैर विष्टा में गिर पड़ा। परंतु कामाधीन उसे उसका ख्याल भी नहीं आया। उस समय उसे प्रतिबोध करने के लिए उसकी कुलदेवी ने मार्ग में एक गाय और एक बछड़े की विकुर्वणा की। बछड़े को देखकर अपना पैर वह उस पर घिसने लगा। इतने में वह वत्स मनुष्यवाणी में गाय को कहने लगा माता! देखो यह कोई धर्मरहित निर्दयी पुरुष अपना विष्टा से भरा पैर मेरे साथ घिस रहा है।' यह सुनकर गाय बोली-'वत्स! खेद मत कर इसका यह अपकृत्य कुछ विशेष नहीं है। क्योंकि कामदेव का गधेड़ा होकर यह अपनी माता के साथ विलास करने के लिए त्वरित गति से जा रहा है।' यह सुनकर उसने सोचा कि, 'यह गाय मनुष्य वाणी में कैसे बोल रही है? इसलिए पहले तो मैं उस वेश्या के विषय में जानकारी तो लूं।' ऐसा विचार करके वह वेश्या के घर आया। वेश्या ने अभ्युत्थान आदि करके उसका सत्कार किया। परंतु उस गाय की वाणी से शंकित उस पुरूष के चित्त में कामव्यापार अवरुद्ध हो गया था। उसने क्षणभर रहकर वेश्या से कहा कि 'भद्रे! तुम्हारी जो परंपरा हो वह कहो।' उसके ये वचन मानो उसने सुने ही न हों ऐसा दिखावा करके वह वेश्या उसे अनेक प्रकार के हावभाव से लुभाने लगी। ''वेश्याओं का प्रथम कामशासन ही होता है।'' पुनः वह बोली कि 'यदि तुम तुम्हारी हकीकत कहोगी तो मैं तुमको दुगुना द्रव्य दूंगा। अतः तुम वास्तविक हकीकत कहो तुमको तुम्हारे माता-पिता की सौगन्ध है।'' इस प्रकार जब उसने बारम्बार कहा तब उसने जो यथार्थ था, वह कह सुनाया। यह सुनकर शंका होने से वह वहाँ से उठ गया और शीघ्र ही अपने गांव गया। वहाँ जाकर उसने उस अहीर माता पिता से पूछा कि 'मैं तुम्हारा अंगजात हूँ या खरीद किया हुआ हूँ अथवा मिला हुआ पुत्र हूँ? जो यथार्थ हो, वह कहो। उन्होंने कहा कि ''तू हमारा अंगजात पुत्र ही है।'' ऐसा असत्य कहने पर पीड़ित होकर रीस चढ़ाकर वह बाहर जाने लगा। तब उन्होंने जिस प्रकार वह प्राप्त हुआ था, वह वृत्तांत यथास्थित कह सुनाया। उसे वास्तविकता का पता चला कि 'वेशिका वेश्या वस्तुतः उसकी माता ही है।' तब वह पुनः चंपापुरी गया और वेशिका के पास जाकर अपना वृत्तांत बताया।

अपने पुत्र को पहचान कर वह वेश्या लज्जा से मुँह नीचा करके रूदन करने लगी। पश्चात् उसकी कुट्टिनी को बहुत सा द्रव्य देकर अपनी मां को छुड़ाकर और गांव में ले जाकर उसे धर्म मार्ग में स्थापित की।

(गा. 89 से 108)

उस वेशिका का पुत्र 'वैशिकायन' के नाम से पहचाना जाने लगा। वहाँ से आने के पश्चात् विषयों से उद्वेग होने के कारण उसने तुरंत ही तापस व्रत ग्रहण कर दिया। अपने शास्त्र के अध्ययन में तत्पर एवं स्वधर्म में कुशल वह तापस घूमता-घूमता श्री वीरप्रभु के आगमन से पहले कूर्म गांव में आया था। वह गांव के बाहर रहकर मध्याह्न के समय दोनों हाथ ऊँचा करके, सूर्यमंडल के सामने दृष्टि रखकर वटवृक्ष की बड़वाई की तरह लंबायमान जटा रखकर स्थिर था। स्वभाव से ही विनीत, दया, दाक्षिण्य से युक्त और समतावान ऐसा वह धर्मध्यान में तत्पर होकर मध्याह्न के समय आतापना लेता था। वह कृपानिधि तापस सूर्यकिरणों के ताप से पृथ्वी पर खिरी हुई जूओं की बीन-बीन कर पुनः अपने मस्तक में डाल रहा था। ऐसे वैशिकायन तापस को देखकर गोशाला प्रभु के पास से वहाँ आया और उसने पूछा कि, अरे तापस! तू क्या तत्त्व जानता है? अथवा क्या तू जूं का शय्यातर है? तू स्त्री या पुरुष? यह भी समझ नहीं पड़ती? 'वैशिकायन नाम से जूं मस्तक में डालता था। ऐसे वैशिकायन तापस को देखकर गोशाला प्रभु के पास से वहां आया और उसने पूछा कि, अरे तब उस तापस को कोप चढ़ा। तब उसने उसके ऊपर तेजोलेश्या छोड़ी। ''अतिशय धर्षण से चंदन के काष्ट में से भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है।'' ज्वालाओं से विकराल ऐसी तेजोलेश्या के भय से त्रस्त वह गोशाला दावानल से त्रस्त हस्ती जैसे नदी के पास जाता है, वैसे वह प्रभु के पास आ गया। गोशाला की रक्षा करने के लिए प्रभु ने शीतलेश्या फैंकी; इससे जल से अग्नि की भांति तजोलेश्या का शमन हो गया। प्रभु की ऐसी समृद्धि (शक्ति) देखकर वैशिकायन विस्मित हुआ। इससे वह श्री महावीर प्रभु के समीप आकर नम्रता से बोला कि 'हे भगवान् आपका ऐसा प्रभाव मुझे ज्ञात नहीं था, अतः मेरे इस विपरीत आचरण के लिए क्षमा करें। ऐसा कहकर वह तापस चला गया। उसके पश्चात् गोशाला ने प्रभु से पूछा कि 'हे भगवंत! यह तेजोलेश्या लब्धि किस प्रकार प्राप्त होती? प्रभु ने फरमाया कि 'जो मनुष्य नियम से छट्ठ की तपस्या करे और एक मुष्टि

कुलमाष तथा अंजलि मात्र जल का सेवन करे उसे छः महिने के अन्तराल में अस्खलित और प्रतिपक्षी को भयंकर ऐसी महातेजोलेश्या उत्पन्न होवे।

पश्चात् कूर्मग्राम से विहार करके प्रभु गोशाला सहित सिद्धार्थपुर नामक उत्तम गांव की ओर चल दिये। मार्ग में तिल का पौधा जहाँ पड़ा था, वह प्रदेश आया। तब गोशाला ने कहा कि, हे स्वामी! आपने जो तिल का पौधा उगने का कहा था, वह तो उगा ही नहीं? प्रभु ने कहा, उगा है और वह यहीं है। गोशाला ने वह बात मानी नहीं। बाद में उसने उस तिल के पौधे को लेकर उसकी फली को चीरा तो उसमें से ठीक सात दाने ही उगे हुए देखे। तब गोशाला बोला कि 'शरीर का परावर्तन करके पुनः जंतु वहाँ ही उत्पन्न होते हैं।'

(गा. 109 से 121)

प्रभु ने तेजोलेश्या की जो विधि बताई थी, उसी प्रकार उसे साधने के लिए गोशाला प्रभु को छोड़कर श्रावस्ती नगरी में गया। वहाँ कुंभा की एक शाला में रह कर प्रभु के निर्देशानुसार उसने छः महिने पर्यन्त तप किया और तेजोलेश्या सिद्ध की। फिर उसकी परीक्षा करने के लिए वह कुए की मुंडेर पर गया। वहाँ कुपित होने के लिए किसी दासी का घड़ा कंकर मार कर फोड़ दिया। दासी उसे गालियां देने लगी। तब उसने तत्काल ही क्रोध करके उस पर तेजोलेश्या फेंकी। फलस्वरूप वह दासी बिजली गिरने से जले उसी प्रकार जलकर भस्म हो गई और उसे तेजोलेश्या की प्रतीति हो गई। पश्चात् कौतुक देखने की प्रीतिवाला गोशाला लोग से परिवृत्त होकर विहार कहने लगा।

(गा. 122 से 133)

एक बार श्री पार्श्वनाथ प्रभु के छः शिष्य जिन्होंने चारित्र का त्याग कर दिया था और जो अष्टांग निमित्त के ज्ञान में पंडित थे, वे गोशाला को मिले। उनके शोण, कलिंद कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान और अर्जुन ऐसे नाम थे। उन्होंने सौहार्दभाव से गोशाला को अष्टांग निमित्त का ज्ञान बताया। "समान शीलवाले पुरुषों की मैत्री सद्य हो जाती हैं।" इस प्रकार तेजोलेश्या एवं अष्टांग निमित्त का ज्ञान मिलने के गर्व से गोशाला 'मैं जिनेश्वर हूँ' ऐसा कहता हुआ पृथ्वीपर विचरण करने लगा।

(गा. 134 से 136)

प्रभु सिद्धार्थपुर से विहार करके वैशाली नगरी में पधारे। वहाँ प्रभु के पिता का मित्र शंख गणराज विशाल ने परिवार लेकर प्रभु के सम्मुख आकर पूजा की। वहाँ से विहार करके भगवंत ने वणिजक ग्राम की ओर कदम बढ़ाये। मार्ग में मंडिकीका नामक एक नदी को नाव द्वारा पार करने लगे। प्रभु नाव से उतरने लगे, तब नाविक ने तप्त रेतवाले तट पर नाव स्थित करके नदी पार करने का मूल्य मांगा। उस समय शंख गणराज का भाणजा चित्र नौका सैन्य लेकर उधर घूम रहा था, उसने प्रभु को रोकते हुए देखा। इससे उसने शीघ्र ही आकर उन नाविकों को तिरस्कार करके प्रभु को छुड़ाया। परम भक्ति से प्रभु की पूजा करके चित्र अपने नगर की ओर चल दिया और भगवंत भी वाणिजक ग्राम में पधारे। बाहर ही प्रभु प्रतिमा धारण करके रहे। वहाँ आनंद नामक श्रावक निवास करता था। जो कि निरन्तर छट्ठ तप करके आतापना लेता था। उसे अवधिज्ञान होने से वह प्रभु को वंदन करने आया। प्रभु को वंदन करके अंजलिबद्ध होकर बोला–'हे भगवन्! आपने दुःसह परीषह एवं दारुण उपसर्ग सहन किये है। आपका तन और मन दोनों वज्रतुल्य है, कि इस प्रकार के परीषहों और उपसर्गों से भी भग्न नहीं हुए। हे प्रभु! अब आपको शीघ्र ही कैवल्यलाभ होने वाला है। इस प्रकार का कथन करके, पुनः पुनः प्रभु को वंदन करके वह आनंद श्रावक स्वस्थान चला गया। तत्पश्चात् कायोत्सर्ग पूर्ण करके प्रभु श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहाँ दीक्षा के पश्चात् दशम चातुर्मास निर्गमन किया।

(गा. 137 से 148)

चातुर्मास संपन्न होने पर नगर के बाहर पारणा करके प्रभु सानुयष्टिक गांव में आए। वहाँ प्रभु ने भद्रा प्रतिमा अंगीकार की। उस प्रतिमा में अशन त्यज कर पूर्वाभिमुख होकर एक पुद्‌गल पर दृष्टि स्थिर करके सम्पूर्ण दिन रहे। उस रात्रि को दक्षिणाभिमुख, दूसरी रात्रि को उत्तराभिमुख, इस प्रकार छट्ठ तप द्वारा वह प्रतिमा पूर्ण की। उस प्रतिमा को पारे बिना ही प्रभु ने महाभद्रा प्रतिमा अंगीकार की एवं पूर्वादि दिशाओं के क्रम से चार अहोरात्र प्रतिमा पूर्ण की। इस प्रकार दशम (चार उपवास) द्वारा महाभद्रा प्रतिमा पूर्ण करके तुरंत ही बावीसम (दस उपवास) के तप द्वारा सर्वतोभद्रा प्रतिमा अंगीकार की। उस प्रतिमा की आराधना करते हुए प्रभु दसों दिशाओं में एक–एक अहोरात्र रहे। उसमें उर्ध्व

और अधो दिशा के प्रसंग पर उर्ध्व और अधो दिशा भाग में स्थित द्रव्य पर दृष्टि स्थापित की। इस प्रकार तीनों ही प्रतिमा सम्पन्न करके प्रभु पारणे के लिए आनंद नाम के गृहस्थ के यहाँ पधारे। वहाँ उसकी बहुला नामक दासी पात्र धो रही थी। वह ठंडा (बचा) हुआ अन्न निकाल रही थी कि इतने में प्रभु को आता हुआ देखकर वह बोली कि, 'हे साधु! आपको यह कल्पता है? प्रभु ने हाथ पसारे तब भक्तिवश हो उसने वह अन्न प्रभु को दिया। प्रभु के पारणे से प्रसन्न होकर वहाँ देवगणों ने पंच दिव्य प्रकट किये। यह देख लोग अति हर्षित हुए। राजा ने उस बहुला को दासी भाव से मुक्त किया। "प्रभु के प्रसाद से भव्य प्राणियों का भव से ही निस्तार हो जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है?"

(गा. 149 से 159)

वहाँ से विहार करके प्रभु बहुत म्लेच्छ लोगों से भरपूर ऐसी दृढ़भूमि में आए। वहाँ पेढाल नामक गांव के नजदीक पेढाल नामक उद्यान में पोलास नाम के चैत्य में अष्टम तप करके प्रभु ने प्रवेश किया। वहाँ जंतुओं का उपरोध न हो, इस हेतु से एक शिलातल पर जानु तक भुजा पसारी। शरीर को किंचित् नमा कर, चित्त को स्थिर रखकर, निमेष रहित नेत्र से रुक्ष द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रभु ने एक रात्रि की महाप्रतिमा धारण की। उस समय शक्रेन्द्र सुधर्मा सभा में चौरासी हजार सामानिक देवताओं, तैंतीस त्रायत्रिंश देवताओं, तीन प्रकार की सभाओं चार लोकपालों, असंख्य प्रकीर्णक देवताओं, चारों दिशाओं में दृढ़ परिकर से बद्ध चौराशी हजार अंगरक्षकों, सैन्य से परिवृत्त सात सेनापतिओं, आभियोगिक देवदेवियों के गणों, और किल्विषिक आदि देवताओं के परिवार सहित सिंहासन पर आरुढ़ थे। दक्षिण लोकार्द्ध की रक्षा करने वाले वे इंद्र शक्र नामक सिंहासन पर आसीन होकर नृत्य, गीत और तीन प्रकार के विद्याविनोद द्वारा काल निर्गमन कर रहे थे। उस समय अवधिज्ञान से भगवंत को तथा प्रकार से स्थित ज्ञात करके वहाँ से तत्काल ही उठे। पैरों से पादुका त्याग कर, उत्तरासंग करके, दाहिने जानु को पृथ्वी पर स्थापित करके एवं बांये जानु को किंचित् नमाकर, पृथ्वी पर मस्तक लगाकर उन्होंने शक्रस्तव के द्वारा प्रभु को वंदना की। पश्चात् बैठकर जिनके अंग अंग में रोमांच कंचुक प्रगट हुआ है, ऐसे इंद्र ने सर्व सभा को संबोधित करते हुए इस प्रकार कहा कि– "अरे! सौधर्मलोक वासी सर्व देवताओं! श्री वीर प्रभु के अद्भुत माहात्म्य को सुनो–पंच समिति के

धारक, तीन गुप्तियों से पवित्र, क्रोध, मान, माया और लोभ से पराभव नहीं पाए हुए, आस्रव रहित, द्रव्य–क्षेत्र काल–भाव संबंधी प्रतिबंध से रहित, प्रभु एक रुक्ष पुदगल पर दृष्टि को स्थिर करके अभी महाध्यान में स्थित हैं। उनको इस ध्यान से चलायमान करने में देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, उरग, मनुष्य या त्रैलोक्य भी शक्तिमान् नहीं हैं।'' इस प्रकार इंद्र के वचन सुनकर उस सभा में बैठा इंद्र का सामानिक संगम नामक देव कि जो अभव्य और गाढ़ मिथ्यात्व युक्त था। वह ललाट पर भृकुटी चढ़ाकर भयंकर दिखाई देता हुआ अधरों को कंपाता हुआ, कोप से नेत्रों के रक्त करता हुआ बोला कि ''हे देवेन्द्र! एक श्रमण हुए मनुष्य की इतनी क्या प्रशंसा करते हो? उसका कारण सत् असत् बोलने में स्वच्छन्दता प्रगट करने वाली आपकी प्रभुता ही है। हे सुरेन्द्र! 'यह साधु देवताओं से भी ध्यान से चलित कर सके क्या वैसा नहीं है?' ऐसा विचार क्या आप हृदय में धरते हो? और यदि धारण करते हो तो ऐसा किसलिए कहते हो? जिसके शिखर आकाश को भी अवरुद्ध कर रहे हैं और जिसके मूल रसातल को भी रुद्ध कर रहे है ऐसे सुमेरु गिरि को भी जो एक ढ़ेले की तरह भुजाओं से फेंकने में समर्थ है। कुलगिरि सहित समग्र पृथ्वी को डुबा देने में जिसका स्पष्ट वैभव है, ऐसे सागर को भी जो एक गंडूष (कुल्ले) मात्र कर देने में सक्षम हैं और अनेक पर्वतों वाली इस प्रचंड पृथ्वी को जो छत्र की भांति एक भुजा में उठा लेने की शक्ति धारण करते हैं ऐसे अतुल समृद्धिवाले, अमित पराक्रमी और इच्छानुसार सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवताओं के आगे यह मनुष्य साधु क्या है? मैं स्वयं ही उसको ध्यान से चलायमान करूंगा।'' इस प्रकार कहकर पृथ्वीपर हाथ पछाड़कर वह सभामंडप से उठ खड़ा हुआ। उस समय 'अर्हन्त प्रभु अन्य की सहायता बिना अखंडित तप करते है, उसे यह दुर्बुद्धि जानता नहीं है ऐसा सोचकर शक्र इंद्र ने उसकी उपेक्षा की।

(गा. 160 से 185)

पश्चात् वेग से उठे प्रलयकाल की अग्नि जैसा और निबिड़ मेघ जैसे प्रतापी, रौद्र आकृति युक्त कि जिसके समक्ष देखा भी न जा सके ऐसा, भय से अप्सराओं को भगाता हुआ और भयंकर विकट उरस्थल के आघात से ग्रहमंडल को भी एकत्रित करता हुआ वह पापी देव जहाँ प्रभु स्थित थे वहाँ आया। निष्कारण जगत् के बंधु और निराबाध रूप से यथास्थित रहे हुए वीर प्रभु को देखते ही उसे और अधिक द्वेष उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही उस दुष्ट देव ने प्रभु के

ऊपर अकाल में अरिष्ट को उत्पन्न करने वाली महादुःखदायक रज की वृष्टि की। उस रज के प्रवाह ने चंद्र को राहू एवं सूर्य को दुर्दिन की भांति प्रभु के सर्व अंगों को ढक दिया। उस रज से उसने सब तरफ से प्रभु के शरीर के द्वारों को ऐसे भरा कि जिससे प्रभु श्वासोश्वस लेने में अशक्त हो गये। तथापि जगद्गुरु एक तिलमात्र भी ध्यान से चलित हुए नहीं।'' चाहे जितने शक्तिमान् गजेन्द्रों से भी क्या कुलगिरि चलित होवे ?'' तब रज को दूर करके उस दुष्ट ने प्रभु के सर्व अंग को पीड़ित करने वाली वज्रमुखी चींटियाँ उत्पन्न की। वे चींटियाँ प्रभु के अंगों में एक तरफ से घुसकर स्वेच्छा से दूसरी ओर आर–पार वस्त्र में सुई निकले वैसे निकलकर तीक्ष्ण मुखाग्र से प्रभु के अंगों को बींधने लगी। निर्भागियों की इच्छाएँ निष्फल होती है, वैसे ही जब चींटियों का उपसर्ग भी निष्फल गया, तब उसने प्रचंड पारषदों (डांसो) की विकुर्वणा की। ''दुरात्मा पुरुषों के अपकृत्यों का अंत नहीं होता।'' उनके एक–एक प्रहार से निकलने वाले गाय के दूध जैसे रुधिर से प्रभु निर्झरणावाले गिरि के जैसे दिखने लगे। जब उनसे भी प्रभु क्षुब्ध नहीं हुए, तब उसने प्रचंड चोंचवाली दुर्निवार घीमेलों की विकुर्वणा की। प्रभु के शरीर के साथ ही उठी हुई रोमपंक्ति हो, ऐसी दिखाई देने लगी। इससे भी योगसाधना के ज्ञानी जगद्गुरु चलित नहीं हुए। इससे प्रभु को ध्यान से विचलित करने के निश्चय वाले उस दुष्ट ने बिच्छुओं की विकुर्वणा की। वे प्रलयकाल की अग्नि के तिनकों जैसे और तप्त भाले के समान अपने पूंछ के कांटों से भगवंत के शरीर को भेदने लगे।

(गा. 186 से 200)

उससे भी प्रभु आकुलित नहीं हुए। तब दुष्ट संकल्पी उसने बहु दांतवाले नकुल (नेवले) विकुर्वित किए। खी! खी! ऐसे विरस शब्द करते हुए वे अपनी उग्र दाढ़ों से भगवंत के शरीर में से मांस तोड़ तोड़ कर अलग करने लगे। इससे भी वह कृतार्थ नहीं हुआ। इसलिए यमराज के भुजदंड जैसे भयंकर और बड़े बड़े फण वाले सर्पों को उसने महाकोप से उत्पन्न किया। विशाल वृक्ष को जैसे कोंचे की लता लिपट जाती है वैसे वे सर्प महावीर प्रभु को पैरों से मस्तक तक लिपट गए। फिर वे अपने फणों को मानो वे फटे जा रहे हो, इतने जोर से प्रभु के ऊपर उन फणों से प्रहार करने लगे एवं दाढ़ें टूट जाए इतनी जोर से अपनी दाढ़ों से प्रभु को डंसने लगे। जब अधिक जहर वमन करके वे रस्सी के समान लटके रहे तब उस दुष्ट ने वज्र जैसे दांतवाले चूहे उत्पन्न कर दिये, जो कि नखों

से, दांतों से, मुख से और करों से प्रभु के अंगों को खोदने लगे और उस पर मूत्र करके क्षत ऊपर क्षार डालने लगे। जब उनसे भी कुछ नहीं हुआ, तब क्रोधित होकर भूत जैसा हुआ उस देव ने विशाल दंतमूशल वाला एक हाथी विकुर्वित किया। पैर के पटकने से मानो पृथ्वी को नमाता हो और उसी प्रकार ऊंची की हुई सूंड से मानो आकाश को तोड़ कर नक्षत्रों नीचे गिराना चाहता हो, ऐसा वह गजेन्द्र प्रभु के सन्मुख दौड़ता हुआ आया। उसने दुर्वार सूंड से प्रभु के शरीर को पकड़ कर आकाश में दूर उछाल दिया। फिर प्रभु का शरीर कण–कण में बिखर जाय तो अच्छा, ऐसा सोचकर वह दुराशय दांत ऊंचे करके पुनः उनको झेलने के लिए दौड़ा। इस प्रकार झेलने के बाद वह दांतों से बार–बार इस प्रकार प्रहार करने लगा कि जिससे प्रभु की वज्र जैसी छाती में से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगी। तथापि वह वराक हाथी प्रभु को कुछ भी कर नहीं सका। इसलिए उस दुष्ट ने जाने वैरिणी हो ऐसी एक हथिनी विकुर्वी। उसने अखंड मस्तक से और दांतों से प्रभु को बींध डाला एवं विष के समान अपने शरीर के जल से उस भाग का सिंचन करने लगी। जब वह हथिनी भी प्रभु के शरीर पर रेणु जैसी हो गई, तब उस अधम देव ने मगर के जैसे उग्र दाढ़वाले एक पिशाच के रूप की विकुर्वणा की। ज्वालाओं से आकुलित उसका विकराल मुख प्रज्वलित अग्निकुंड के जैसा भयंकर दृष्टिगत हो रहा था। उसकी भुजाएँ यमराज के गृह के ऊंचे तोरणस्तंभ के सदृश थी। उसकी जँघा और उर प्रदेश ऊंचे ताड़वृक्ष के समान थे। चर्म के वस्त्र धारण करके अट्टहास करता हुआ और किल किल शब्दों से फुत्कार करता हुआ वह पिशाच हाथ में करवत लेकर भगवंत को उपद्रव करने के लिए सम्मुख दौड़ा।

(गा. 201 से 218)

वह भी क्षीण तेल के दीपक के समान जब बुझ गया, तब उस निर्दय देव ने तुरंत ही बाघ/शेर का रूप धारण किया। पूंछ छटा के आच्छोटन से पृथ्वी को फाड़ता हुआ और घुर्राहट के प्रतिछंद से भूमि तथा अंतरिक्ष को फोड़ता हो, ऐसा वह शेर वज्र जैसी दाढ़ों से और त्रिशूल जैसे नखाग्रों से भुवनपति को अव्यग्ररूप से उपद्रव करने लगा। वह भी जब दावानल में दग्ध हुए वृक्ष की भांति निस्तेज हो गया, तब वह अधम देव सिद्धार्थ राजा का रूप धारण करके वहाँ आया। वह बोला–' हे तात! यह अति दुष्कर काम तूने किसलिए आरंभ किया है? तू यह दीक्षा छोड़ दे। हमारी अवगणना मत करना, तेरा भाई

नंदीवर्धन मुझे वृद्धावस्था में अशरण छोड़कर चला गया है।' फिर उसने त्रिशला महादेवी की विकुर्वणा की। उसने भी अनेक बार वैसा ही विलाप किया। उनके विलाप से भी जब प्रभु का मन लिप्त नहीं हुआ, तब उस दुराचारी ने एक छावनी की विकुर्वणा की। उसके एक रसोईये को चावल पकाने का विचार आया, उसे चूल्हे के लिए पाषाण नहीं मिले, तब उसने प्रभु के दोनों चरणों को चूल्हा बनाकर उस पर चावल का भोजन रखा और दोनों पैरों के बीच में अग्नि प्रज्वलित की। अनुक्रम से उसने वह अग्नि इतनी अधिक बढ़ाई कि पर्वत पर दावानल की तरह प्रभु के चरण उस अग्नि से तप्त हो गए। तथापि अग्नि में डाले सुवर्ण के तरह उनकी शोभा हीन नहीं हुई, बल्कि वृद्धि को प्राप्त हुई। पश्चात् निष्फल हुए उस अधम देव ने एक भयंकर पकवण (चंडाल) विकुर्वा। उसने आकर प्रभु के कंठ में, दोनों कानों में, दोनों भुजाओं में, और जंघा पर क्षूद्र पक्षियों के पिंजरे लटकाए। उन पक्षियों ने चोंच तथा नख से इतने सारे प्रहार किये कि प्रभु का सारा शरीर उन पिंजरों के जैसे सैंकड़ों छिद्रवाला हो गया। उसमें भी पक्व पत्तों की भांति उस चंडाल को असारता ही मिली। तब उस दुष्ट ने महाउत्पातकारी प्रचंड पवन उत्पन्न की। बड़े वृक्षों को तृण की तरह आकाश में उछालता हुआ और दिशाओं में पत्थर और कंकर फेंकता हुआ वह पवन चारों ओर विपुल रज (धूल) उड़ाने लगा। धमनी की तरह अंतरीक्ष और भूमि को सब ओर से भरकर उस पवन ने प्रभु को उठा उठा कर नीचे पछाड़ा। ऐसे उग्र पवन से भी जब उसका धारा हुआ काम हुआ नहीं, तब देवताओं में कलंक रूप उस दुष्ट ने तत्काल ही चक्रवात की विकुर्वणा की। पर्वतों को भी घुमाने में परिपूर्ण पराक्रम वाले उस चक्रवात ने चक्र पर रहे मिट्टी के पिंड की तरह प्रभु को खूब घुमाया। समुद्र में हुए आवर्त की भांति उस चक्रवात से एक तान में तल्लीन रहे प्रभु ने किंचित् भी ध्यान छोड़ा नहीं। तब उस संगम ने विचार किया कि, 'अहो! इस वज्र जैसे कठिन मनवाले मुनि को मैंने अनेक प्रकार से हैरान किया, तो भी वे किंचिन्मात्र भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए। परंतु अब भग्नवाचावाला मैं इंद्र सभा में कैसे जाऊं ? इसलिए अब तो इसके प्राण का नाश करने से ही इसका ध्यान नाश होगा, इसके अतिरिक्त अब अन्य कोई उपाय नहीं है। ऐसा विचार करके उस अधम देव ने एक कालचक्र उत्पन्न किया। हजार टन के भारवाला लोहे से घड़ा हुआ वह कालचक्र कैलाश पर्वत को जिस प्रकार रावण ने उठाया था, उसी प्रकार उसे देव ने ऊंचा उठाया। पीछे मानो

पृथ्वी को संपुट करने के लिए अन्य उतने ही प्रमाणवाला पुट हो वैसा वह कालचक्र उसने जोर से प्रभु के ऊपर फेंका। उछलती ज्वालाओं से सर्वदिशाओं को विकराल करता वह चक्र समुद्र में वडवानल की तरह प्रभु के ऊपर गिरा। (गा. 219 से 241)

कुलपर्वतों को भी चूर्ण करने में समर्थ ऐसे उस चक्र के प्रहार से प्रभु जानु (घुटने) तक पृथ्वी में मग्न (धंस) हो गए। इस प्रकार अन्यथा होने पर भी भगवंत मिष्ट दृष्टि पात कर रहे थे। इससे ये अवश्य ही विश्व को तारने के इच्छुक हैं और हम संसार के कारण हैं। जब ऐसे कालचक्र से भी ये पंचतत्व को प्राप्त नहीं हुए, तब तो ये अस्त्रों से अगोचर हैं। अब तो अन्य क्या उपाय रहे? अब तो ये अनुकूल उपसर्गों से किसी प्रकार क्षोभ को प्राप्त करें, ऐसा करना चाहिए। ऐसी बुद्धि से वह देव विमान में बैठकर प्रभु के सम्मुख आकर बोला कि, ''हे महर्षि! आपके उग्र तप से, सत्त्व से, पराक्रम से प्राणों की भी टेक से मैं आपके ऊपर संतुष्ट हुआ हूँ, इसलिए ऐसे शरीर को क्लेश कराने वाले तप की क्या जरुरत है? तुम को जो भी चाहिये, सो मांग लो। मैं तुमको क्या दूँ? तुम जरा भी शंका करना नहीं। कहो तो 'जयनित्यां' (इच्छा मात्र करने से) सर्व मनोरथ पूर्ण होते हैं, ऐसे स्वर्ग में इसी देह से तुमको ले जाऊं? अथवा कहो तो अनादि भव से संरुढ हुए सर्व कर्मों से मुक्त करके एकांत परमानंद वाले मोक्ष में तुमको ले जाऊं? अथवा कहो तो मंडलाधीश राजा अपने मुकुट से जिनके शासन का पालन करते हैं, ऐसे समृद्धि वाले साम्राज्य को इस लोक में ही दूं। इस प्रकार के लुभावने वचनों से भी प्रभु किंचित्मात्र भी क्षुभित नहीं हुए और कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं मिला। तब उसने इस प्रकार विचार किया कि, 'इस मुनि ने मेरी सर्व शक्ति का प्रभाव निष्फल किया है, परंतु अभी भी कामदेव का एक अमोघ शासन बाकी रहा हुआ हैं, क्योंकि कामदेव का अस्त्र रूप रमणियों के कटाक्ष में आए महान् पुरुष भी अपने पुरुषव्रत को लोप करते देखे गए हैं। ऐसा निश्चय करके उस देवता ने देवांगनाओं को आज्ञा दी और उनको विभ्रम में सहायक छः ऋतुओं को प्रगट की। उन्मत्त कोकिला के मधुर कूंजन से प्रस्तावना करती हुई कामनाटक की दिग्वधू के लिए सैरंध्री दासी के समान मुखवास सज्ज करती ग्रीष्मऋतु की लक्ष्मी विस्तृत हो गई। श्वेत अक्षरों सी नवीन मोगरे की कलियों से कामदेव की जयप्रशस्ति लिख रही हो ऐसी हेमंत लक्ष्मी खिल उठी।

मोगरे और सिंदुवार के पुष्पों से हेमंत और बसंतऋतु को गणिका की तरह साथ में निभाती शिशिर लक्ष्मी वृद्धि को प्राप्त हुई। इस प्रकार क्षणमात्र में सर्वऋतुएं एक साथ प्रगट होते ही कामदेव की सेना जैसी देवांगनाएं प्रगट हो गई। भगवंत के सम्मुख आकर उन रम्य अंगवाली रमणियों ने कामदेव के विजयी मंत्रास्त्र के जैसा संगीत प्रारंभ किया। कोई शुद्ध चित्त से लय के साथ गांधारग्राम से अनेक रागों की जातियों को गाने लगी। कोई प्रवीण देवांगना क्रम और उत्क्रम से व्यंजन और धातुओं को स्पष्ट करती मधुर वीणा बजाने लगी। कोई कूट, नकार और घोंकर इन तीन प्रकार के मेघ जैसी ध्वनि करती हुई त्रिविध मृदंग को बजाने लगी। कोई आकाश और पृथ्वी में उछलती, विविध हावभाव और नए नए दृष्टिभाव करती हुई नाचने लगी। दृढ़ अंगहार और अभिनय से कंचुकी को तोड़ता एवं शिथिल केशपाश को बांधती हुई, अपनी भुजा के मूल को बताने लगी। कोई दंडपाद आदि अभिनव के मिष से अपनी गोरुचंदन जैसी और सांथल (जंघा) के मूल को बारबार बता रही थी। कोई शिथिल हुए अधोवस्त्र की ग्रंथी को दृढ करने की लीला से अपने वापी जैसे नाभिमंडल को बता रही थी। कोई ईभदंत नामक हस्ताभिनय का मिष करके बारम्बार गाढ़ालिंगन की संज्ञा को कर रही थी। कोई नीवी को दृढ़ करने के छल से उत्तरीय वस्त्र को चलाकर अपने नितंबिब को दिखा रही थी। कोई विशाल लोचना देवी अंगभंग के बहाने से पुष्ट और उन्नत स्तनवाले अपने वक्षस्थल को चिरकाल तक दर्शा रही थी। "अरे भद्र! यदि तुम वास्तव में वीतराग हो तो, क्या तुम किसी वस्तु पर राग का विस्तार नहीं करते? यदि तुम शरीर पर भी निरपेक्ष हो तो वह हमको क्यों नहीं अर्पण करते? यदि दयालु हो तो अकस्मात् उत्कृष्ट धनुष लेकर हम पर उठे उस विषमायुध कामदेव से हमारी रक्षा क्यों नहीं करते? प्रेम के लालची होने पर भी यदि हमारी कौतुक से उपेक्षा करते हो तो वह कौतुक क्षणमात्र के लिए करना तो घटित है, किन्तु हमारे मरणांत तक करना योग्य नहीं है। हे स्वामिन्! अब कठिनता छोड़ दो और हमारे मनोरथ को पूर्ण करो। प्रार्थना से विमुख मत होओ। इस प्रकार कोई स्त्री तो बारम्बार कहने लगी। इस प्रकार देवांगनाओं के गीत, वाद्य, नृत्य, अंगविकार और चाटुकारी वचनों से भी प्रभु जरा भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए।

(गा. 242 से 280)

इस प्रकार एक रात्रि में कायोत्सर्ग में स्थित प्रभु के ऊपर उस अधम देव संगम ने बीस बड़े बड़े उपसर्ग किये। प्रातःकाल में उसने विचार किया कि 'अहो! ये महाशय मर्यादा से समुद्र की तरह जरा भी चलित नहीं हुए, तो अब प्रतिज्ञा भ्रष्ट होकर क्या मैं वापिस स्वर्ग में जाऊं? परंतु ऐसे तो कैसे जाया जाय? इसलिए चिरकाल तक यहीं रहकर इस मुनि को अनेक उपसर्ग करके किसी भी प्रकार से क्षुभित करूं।

(गा. 281 से 283)

प्रातःकाल में सूर्य की किरणों से व्याप्त ऐसा मार्ग होने पर प्रभु युगमात्र दृष्टि डालते हुए वालुक नामक गांव की ओर चल दिये। मार्ग में उस अधम संगम ने पाँच सौ चोर और वेलु के सागर जैसी बहुत सी रेत विकुर्वित कर दी। वे पाँचसौ चोर प्रभु को 'मामा! मामा!' ऐसे उच्च स्वर से कहते हुए प्रभु को इस प्रकार आलिंगन देते हुए लिपट गए कि जिससे पर्वत हो तो फूट जाय। किन्तु उससे क्षोभ पाए बिना समता रस के सागर प्रभु, जानु तक धूल में पैरों को धंसाते धंसाते बालुका गाँव आए। इस प्रकार स्वभाव से ही क्रूर बुद्धि वाला वह देव नगर में, गाँव में, वन में या जहाँ कहीं भी प्रभु पधारते उनके पीछे पीछे जाकर अनेक प्रकार के उपसर्ग करता था। इस तरह उपसर्ग करते करते उस संगम देव के छः महिने व्यतीत हो गए। अन्यदा प्रभु विहार करते हुए किसी गोकुल में पधारे। उस समय वहाँ गोकुल में कोई उत्सव हो रहा था। प्रभु ने छः महिने तक उपवास किये थे। तो प्रभु पारणा करने हेतु गोकुल में भिक्षा के लिए पधारे। परंतु जिस जिस घर में स्वामी भिक्षा के लिए पधारते, वह अधम देव वहाँ आहार को दूषित करने लगा। प्रभु ने उपयोग लगा कर देखा तो 'वह अधम देव अभी निवृत्त नहीं हुआ' ऐसा जानकर प्रभु उस गोकुल गाँव से बाहर आकर प्रतिमा धारण करके स्थित हो गये। उस देवता ने अवधिज्ञान से देखा कि 'अब भी इस मुनि के परिणाम भग्न हुए या नहीं?' तो उसे ज्ञात हुआ कि 'अरे! अभी भी वे क्षोभ प्राप्त नहीं हुए।' तो उसने विचार किया कि, 'छः महिने तक मैंने लगातार इनको उपसर्ग दिये, तो भी समुद्र के जल से सह्यगिरि के समान ये मुनि 'कंपित नहीं हुए, और अभी भी अधिक समय तक भी इनको उपसर्ग दूं तो भी ये ध्यान से चलायमान नहीं होंगे। पर्वत को तोड़ने में जैसे हाथी निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार इसमें मेरा प्रयास भी व्यर्थ गया। हा! हा!

मेरी दुर्बुद्धि से ठगकर स्वर्ग के विलास सुख को छोड़कर शाप से भ्रष्ट हुए के समान मैं कितने समय तक पृथ्वी पर फिरा।'' ऐसा विचार करके वह देव प्रभु को नमन करके अंजलिबद्ध होकर लज्जित हुआ और म्लान मुख से इस प्रकार बोला कि 'हे स्वामिन्! शक्र इंद्र ने सुधर्म सभा में जैसी आपकी प्रशंसा की थी, वैसे ही प्रभु आप हो। उनके वचनों पर श्रद्धा न करके मैंने आप पर बहुत से उपद्रव किये, तथापि आप सत्य प्रतिज्ञ और मैं भ्रष्ट प्रतिज्ञ हुआ हूँ। मैंने यह अच्छा नहीं किया। इसलिए हे क्षमानिधि! आप मेरा यह अपराध क्षमा करें। अब मैं उपसर्ग देना छोड़कर खेदित होकर देवलोक में जा रहा हूँ। आप भी निःशंक होकर ग्राम, आगर और पुर आदि में सुखपूर्वक विहार करो। अब आप इस गाँव में भी भिक्षा के लिए खुशी से प्रवेश करो और अदूषित आहार ग्रहण करो। पूर्व में जो दूषित आहार मिलता था, वह दोष मुझ से ही उत्पन्न किया हुआ था।' प्रभु ने फरमाया 'हे संगमदेव! तू हमारी चिंता छोड़ दे। हम किसी के भी आधीन नहीं हैं। हम तो स्वेच्छा से विहार करते हैं। इस प्रकार कहकर वीरप्रभु को प्रणाम करके वह अधम देव पश्चात्ताप करता हुआ इंद्रपुरी की ओर चल दिया। इधर सौधर्म देवलोक में इतने समय तक सर्व देवगण आनंद और उत्साह रहित होकर उद्वेग के साथ रहे। शक्रेन्द्र भी सुंदर वेष और अंगराग छोड़कर तथा संगीतादिक से विमुख होकर अति दुःखी होता हुआ मन में चिंतन करने लगा कि– 'अहो! प्रभु को हुए इन सभी उपसर्गों का निमित्त मैं हूँ। क्योंकि जब मैंने प्रभु की प्रशंसा की, तब ही वह देव कोपायमान हुआ। इस प्रकार चिंता करते हुए प्रभु को छः महिने बीत गये, तब पाप रूपी पंक से मलिन, जल स्पर्शवाले दर्पण की तरह कांति के प्राग्भार रहित, प्रतिज्ञा भ्रष्ट, मंद इंद्रियों वाला, और लज्जा से नेत्रों को भींचता हुआ वह संगम इंद्र से अधिष्ठित ऐसी सुधर्मा सभा में आया। संगमक को देखकर इंद्र उससे पराङ्मुख हो गए और उच्च स्वर में बोले–''अहो! सर्व देवों! मेरे वचन सुनो– यह संगमक महापापी और कर्मचंडाल है। इसका मुख देखने में भी पाप लगे, इससे यह देखने योग्य भी नहीं है। इसने अपने स्वामी की बहुत कदर्थना करके मेरा बड़ा अपराध किया है। परंतु अब जब यह संसार से ही भयभीत नहीं हुआ तो भला मुझ से कैसे भय लगेगा ? मैं जानता हूँ कि, अर्हन्त प्रभु अन्य की सहायता से तप करते नहीं है, इसलिए इस पापी को मैने इतने समय तक दंड दिया नहीं। परंतु अब तो इस दुष्ट देव को इस देवलोक से ही निकाल देना योग्य हैं।'' इस प्रकार

कहकर क्रोधित हुए इंद्र ने वज्र द्वारा पर्वत के जैसे उस अधम देव को बांये पैर से प्रहार किया। तब विविध आयुधों को धारण किये हुए इंद्र के सुभट ने उसे धक्का मार कर बाहर निकालने लगे। देवताओं की स्त्रियाँ हाथ के कड़ाके मोडकर उस पर आक्रोश करने लगी। इसी प्रकार सामानिक देवता भी उसका हास्य करने लगे। इस प्रकार तिरस्कृत वह अधम देव यानक नामक विमान में बैठकर शेष रहा हुआ एक सागरोपम का आयुष्य भोगने के लिए मेरुगिरि की चूलिका पर चला गया। तब उस संगमक की स्त्रियों ने आकर इंद्र को विज्ञप्ति की कि 'हे स्वामी! यदि आपकी आज्ञा हो तो हम हमारे पति के पीछे जावे? दीनवदन वाली उन स्त्रियों को संगमक के पीछे जाने की इंद्र ने आज्ञा दे दी और अन्य सर्व परिवार को पीछे जाने से रोक लिया।

(गा. 284 से 318)

इधर वीर भगवंत दूसरे दिन पारणे के लिए गोकुल गांव में गोचरी के लिए निकले। वहाँ एक वृद्ध वत्सपालिका नामक गोपी ने भक्तिपूर्वक प्रभु को कल्पित परम अन्न से प्रतिलाभित किया। चिरकाल से प्रभु का पारणा होने पर हर्षित हुए समीपस्थ देवताओं ने वहाँ पंच दिव्य प्रगट किये। वहाँ से विहार करके प्रभु आलंभिका नामक नगरी में पधारे। वहाँ प्रतिमा धारण करके चित्ररथ की भांति स्थिर हुए। वहाँ हरि नामक विद्युत कुमार के इन्द्र प्रभु के समीप आकर प्रदक्षिणा देकर नमन करके इस प्रकार बोले कि–'हे नाथ! आपने जो उपसर्ग सहन करे, वह श्रवण करके से भी हमारा हृदय विदीर्ण हो जाता है,। प्रभु आप तो वज्र से भी अधिक दृढ़ हो। हे प्रभु! अब तो मात्र थोड़े ही उपसर्ग सहन करके आप चार घाति कर्मों का क्षय करेंगे।'' इस प्रकार कथन करके भगवंत को भक्ति से नमस्कार करके वह विद्युत्कमार निकाय का इंद्र अपने स्थान पर चला गया। वहाँ से विहार करके प्रभु श्वेतांबी नगरी में पधारे। वहाँ हरि नाम के विद्युत्कुमार इंद्र ने आकर वंदना की। वह भी हरिचंद्र की तरह अपने स्थान पर चले गया।

(गा. 319 से 327)

प्रभु वहाँ से विहार करके श्रावस्ती नगरी में आकर प्रतिमा धारण करके रहे। उस दिन सम्पूर्ण नगरी में लोगों ने कार्तिक स्वामी की रथयात्रा का उत्सव बड़े आडम्बर से किया था। इससे प्रतिमाधारी प्रभु को छोड़कर नगरजन पूजा

की सर्व सामग्री लेकर कार्तिक स्वामी की पूजा करने के लिए जाने लगे। कार्तिक स्वामी की प्रतिमा को स्नान अर्चन करके विधिपूर्वक रथ में बैठाने के लिए तैयार होने लगे। उस समय देवलोक में शक्रेन्द्र ने विचार किया कि 'इस समय वीरप्रभु कहाँ विचरण कर रहे होगे? अवधिज्ञान से देखा तो वीरप्रभु को और नगरजनों की स्थिति को देखा। तब 'अरे ये अविवेकी नगरजन प्रभु का उल्लंघन करके कार्तिक की पूजा क्यों कर रहे हैं? ऐसी ईर्ष्या करके इंद्र शीघ्र ही वहाँ आया और कर्तिक की प्रतिमा में प्रवेश किया। पश्चात् यंत्रमय पुतली की तरह वह प्रतिमा जहाँ भगवंत प्रतिमा धारण करके रहे थे उस ओर चल दी। परंतु नगरजन तो उसे चलती हुई देखकर कहने लगे, 'अहो! ये कार्तिक कुमार स्वयमेव चलकर रथ में बैठेगे।' इतने में तो वह प्रतिमा प्रभु के पास आई और प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया। फिर प्रभु की उपासना करने के लिए वह पृथ्वी पर बैठी। तब 'ये अपने इष्टदेव को भी पूज्य हैं, इससे अपन ने इसका उल्लंघन किया, यह योग्य नहीं किया। इस प्रकार कहते हुए नगरजनों ने विस्मय और आनंद से प्रभु की महिमा की।

(गा. 328 से 337)

वहाँ से विहार करके प्रभु कौशांबी नगरी में आए। वहाँ प्रतिमा धारण करके स्थित प्रभु को सूर्य चंद्र ने मूल विमान के साथ आकर भक्ति से सुख पृच्छा पूछ कर वंदना की। वहाँ से अनुक्रम से विहार करके प्रभु वाराणसी नगरी में आए। वहाँ शक्रेन्द्र ने आकर हर्ष से प्रभु को वंदना की। वहाँ से राजगृही नगरी आकर प्रभु प्रतिमा धारण करके रहे। वहाँ ईशानेन्द्र ने आकर भक्ति से सुखपृच्छा पूर्वक वंदना की। वहाँ से प्रभु मिथिलापुरी पधारे। वहाँ जनकराजा और धरणेन्द्र ने आकर प्रियप्रश्नपूर्वक पूजा की। वहाँ से विहार करके प्रभु विशाला नगरी में गये। वहाँ प्रभु ने दीक्षा के पश्चात् ग्यारहवाँ चौमासा किया। वहाँ समर नामक उद्यान में बलदेव के मंदिर में प्रभु ने चार मासक्षमण अंगीकार करके प्रतिमा धारण की। उस समय भूतानंद नामक नागकुमार इंद्र ने आकर प्रभु को वंदना की और प्रभु को केवलज्ञान नजदीक में होने का ज्ञात करवाकर स्वस्थान पर गया।

(गा. 338 से 346)

विशालापुरी में जिनदत्त नामक एक परम श्रावक रहता था। वह दयालु था और वैभव के क्षय होने से 'जीर्णश्रेष्ठी' ऐसे नाम से प्रख्यात था। किसी समय

वह उद्यान में गया, वहाँ बलदेव के मंदिर में उसने प्रतिमा में रहे हुए प्रभु को देखा। उस समय 'ये छद्मस्थ रूप में रहे हुए चरम तीर्थंकर हैं' ऐसे निश्चय से उसने भक्ति से प्रभु वंदना की। फिर अपने चित्त में विचार करने लगा कि– 'प्रभु आज उपवास करके प्रतिमा धारण करके रहे हुए लगते है, ये यदि कल मेरे गृह पर पारणा करें तो अत्युत्तम हो।' ऐसी आशा करके उसने चार मास तक हमेशा प्रभु की सेवा की, अंतिम दिन प्रभु को आमंत्रण करके वह स्वगृह गया एवं स्वयं के निमित्त श्रेष्ठ मनवाला उसने पहले से ही संप्राप्त प्रासुक एवं ऐषणीय भोजन तैयार करके रखा। पश्चात् वह जिनदत्त श्रेष्ठी प्रभु के मार्ग की ओर दृष्टि रखकर आंगण में खड़ा होकर चिंतन करने लगा कि, ''यह भोजन मैं प्रभु का वहोराऊँगा। मैं कैसा धन्य हूँ कि मेरे घर अर्हत् प्रभु स्वयमेव पधारेंगे और संसार सागर से तिरानेवाला पारणा करेंगे। जब प्रभु पधारेंगे तब मैं उनके सन्मुख जाऊँगा और तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणकमल में वंदना करूंगा। अहो! मेरा जन्म अबपुनर्जन्म के लिए नहीं होगा। क्योंकि प्रभु का दर्शन भी मोक्ष के लिए होता है, तो पारणे की तो बात ही क्या करनी? इस प्रकार जीर्ण श्रेष्ठी चिंतन कर रहे थे, कि 'इतने में तो प्रभु वहाँ के नवीन श्रेष्ठी के यहाँ पधारे। वह नवीन सेठ मिथ्यादृष्टि था। उसने लक्ष्मी के मद से ऊँची ग्रीवा रखकर दासी को आज्ञा की कि, भद्रे! इस भिक्षुक को भिक्षा देकर शीघ्र ही विदा कर दे।' वह हाथ में काष्ट का भाजन लेकर उसमें कुल्माष (उड़द के बाकुले) धान्य लेकर आई एवं प्रभु के पसारे हुए करपात्र में वे वहरा दिये। उसी समय देवताओं ने आकाश में दुंदुंभी का नाद किया, चेलोत्क्षेप (वस्त्र की वृष्टि) की, वसुधारा (द्रव्य की वृष्टि) की तथा पुष्प की और सुगंधी जल की वृष्टि की। लोग एकत्रित होकर उस अभिनव श्रेष्ठी को पूछने लगे, तब उसने कहा कि 'मैंने स्वयं ने प्रभु को पायसान्न (खीर) द्वारा पारणा कराया। 'अहो दानं, अहो दानं' ऐसा देवता की ध्वनि सुनकर लोक और राजा उस नवीन श्रेष्ठी की बारंबार स्तुति करने लगे। इधर जीर्णश्रेष्ठी तो प्रभु के आगमन संबंधी विचार करता हुआ वहीं खड़ा था, इतने में तो देवताओं की दुंदुंभी की ध्वनि सुनकर वह इस प्रकार चिंतन करने लगा कि 'अहो! मुझ जैसे मंदभाग्यवाले को धिक्कार है, मेरा मनोरथ वृथा हुआ, क्योंकि प्रभु ने मेरे गृह का त्याग करके अन्यत्र पारणा किया।'

(गा. 347 से 363)

पारणा करने के पश्चात् प्रभु ने अन्यत्र विहार किया। उस उद्यान में श्री पार्श्वनाथ भगवंत के एक केवली शिष्य पधारे। तब राजा और लोगों ने उनके पास आकर पूछा कि, 'भगवन्! इस नगरी में महान् पुण्य उपार्जन करने वाला कौन है? केवली भगवंत ने फरमाया कि– जीर्णश्रेष्ठी सर्वाधिक पुण्यवान है। लोगों ने पूछा कि जीर्ण श्रेष्ठी ने महान् पुण्य किस प्रकार उपार्जन किया? क्योंकि उसने कोई प्रभु को पारणा तो कराया नहीं, यह कार्य करनेवाला तो नवीन सेठ है। साथ ही वसुधारा वृष्टि भी नवीन सेठ के यहाँ हुई है, तो यह नवीन सेठ महापुण्य उपार्जन करने वाला क्यों नहीं है? केवली भगवंत ने फरमाया– 'भाव से तो जीर्ण श्रेष्ठी जिनदत्त ने अर्हन्त प्रभु को पारणा कराया है। उसने उस भाव से अच्युत देवलोक में जन्म उपार्जन करके संसार को तोड़ दिया है। यदि उसी भावों में उसने दुंदुभी की ध्वनि न सुनी होती तो ध्यानान्तर में उसने केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया होता। यह नवीन श्रेष्ठी तो शुद्ध भाव से रहित है। इसने तो मात्र अर्हन्त प्रभु के पारणे का, वसुधारा रूप इस लोक संबंधी फल ही प्राप्त किया है। इस प्रकार भक्तिपूर्वक और भक्ति रहित अर्हन्त प्रभु के पारणे का फल सुनकर सब लोग विस्मित होते हुए स्वस्थान गये। इधर वीरभगवंत नगर, गाँव, खाण ओर द्रोणमुख आदि स्थानों में विहार करते हुए सुसुमारपुर में पधारे। वहाँ अशोकखंड नाम के उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे एक शिलातल पर रहकर अट्ठम तप करके प्रभु ने एक रात्रि की प्रतिमा धारणा की।

(गा. 364 से 373)

इसी अरसे में जो बनाव बना वह इस प्रकार है– इस भरतक्षेत्र में विंध्याचल की तलेटी में बसे विभेल नाम के गांव में पूरण नामका एक गृहस्थ रहता था। एक बार अर्ध रात्रि में उठकर उसने सोचा कि "मैंने पूर्व भव में कोई बड़ा तप किया होगा कि जिसके फलस्वरूप मुझे इस भव में इस प्रकार की लक्ष्मी एवं ऐसी मान्यता प्राप्त हुई। पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म का फल इस लोक में प्राप्त होता है, वैसे ही लोक में सेव्य और सेवक पन का अनुमान होता है। तो अब गृहवास छोड़कर, स्वजनों को समझाकर, आगामी भव में फल प्राप्त करने के लिए मैं बड़ा तपचरण करूं। कहा भी है कि "आठ महिने तक ऐसा कार्य करना, कि जिससे चौमासे के चार महिने सुख पूर्वक सोया जाय। पूर्व वय में ऐसा कार्य करना कि जिससे वृद्ध वय में सुख से रहा जाय और इस जिंदगी में

ऐसा कार्य करना चाहिये कि आगामी भव में सुख प्राप्त होय।'' इस प्रकार चिंतन करके प्रातः काल में स्वजनों को प्रीतिभोज देकर व्रत लेने की आज्ञा मांगी और अपने पुत्र को अपने स्थान पर स्थापित किया। पश्चात् व्रत लेकर प्रणाम जाति का तापस होकर तप करने लगा। उसने भिक्षा लेने के लिए चार पडवाला एक काष्टमय भिक्षापात्र ग्रहण किया। तथा उस दिन से लेकर निरंतर छट्ठ छट्ठ का तप करने लगा। उसी के साथ प्रतिदिन आतापना लेकर शरीर को कृश करने लगा। जब पारणे का दिन आता तब उस चार पड़वाले भिक्षापात्र को लेकर मध्याह्नकाल में भिक्षा लेने जाता। पहले पड़वाली भिक्षा को वह पांथजनों को देता, दूसरे पड़ में आई भिक्षा वह कौवे आदि को डालता, तीसरे पड़ में आई भिक्षा को मत्स्यादिक जलचर प्राणियों को देता और चौथे पड़ में आई भिक्षा का रागद्वेष रहित चित्त से स्वयं खाता। इस प्रकार बाहर वर्ष तक बाल (अज्ञान) तप करके अंत में उसने बिभेल गांव की ईशान दिशा में अनशन ग्रहण किया। एक मास का अनशन करके मृत्यु के पश्चात् बालतप के प्रभाव से वह चमरंचचा नगरी में एक सागरोपम की आयुष्यवाला चमरेन्द्र हुआ। उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान रूप नेत्र से वह अन्य भुवनों का निरीक्षण करने लगा। अनुक्रम से उर्ध्व भाग में दृष्टिपात करते हुए उसने सौधर्मेन्द्र को देखा। सौधर्मावतंसक नामक विमान में सुधर्मासभा में स्थित महर्द्धिक वज्रधारी शक्रेन्द्र को देखते ही वह क्रोधित होकर अपने स्वजनों को इस प्रकार कहने लगा कि– अरे! अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाला यह कौन दुरात्मा अधम देव मेरे मस्तक पर पैर रखकर, निर्लज्ज होकर विलास कर रहा है? उसके उत्तर में उसके सामानिक आदि देवता मस्तक पर अंजली रखकर बोले– ''हे स्वामी! महा पराक्रमी और प्रचण्ड शासनवाले सौधर्म कल्प के वे इंद्र है।'' यह सुनकर उसको विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ, ऐसा वह चमरेन्द्र भृकुटी से भयंकर मुखाकृति से नासिका के फुंफाड़े से चमर को उड़ाता हुआ बोला कि ''अरे! देवताओं! तुम मेरे पराक्रम को जानते नहीं हो, इससे उसकी प्रशंसा कर रहे हो? अब मैं उसे नीचे गिरा कर तुमको अपना बल बताऊंगा? वहाँ निर्विघ्न रूप से इतने समय तक यदि दैवयोग से ऊँचे स्थान में उत्पन्न हो गया तो इतने मात्र से वह कोई अधिक समर्थ नहीं हो गया। यदि कौआ हाथी की पीठ पर बैठ जाय तो उसे क्या रथी माना जाय? अब मेरे क्रोध से वह वहाँ रह नहीं सकेगा। क्योंकि सूर्य उदय होते ही अन्य का तेज या अंधकार रह सकता नहीं है।'' पश्चात् सामानिक

देवताओं ने पुनः कहा कि "हे स्वामिन्! यह सौधर्माधिपति पूर्व भव में उपार्जित किये हुए पुण्य से देवाधिपति हुआ है और उनकी समृद्धि और पराक्रम आपसे बहुत अधिक है। आप आपके पुण्य के अनुसार हमारे स्वामी हुए हो। इससे पुण्य के आधीन ऐसे वैभव में आपको ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। फिर भी यदि आप उनके प्रति आपका कुछ भी पराक्रम बताना प्रारंभ करेंगे तो, मेघ के समाने होने वाले अष्टापद पशु की तरह वह आपके हास्य और अधःपतन के लिए होगी। अतः आप शांत हो जाएँ। सुखपूर्वक रहकर यथेच्छ सुख–भोग करो एवं हमारी सेवा से विविध विनोद का अवलोकन किया करो। तब चमरेन्द्र बोला कि, –"अरे! यदि तुम उससे डरते हो तो तुम सुख से यहीं रहो, मैं एकाकी ही उससे युद्ध करने जाऊंगा। असुरों का वह या मैं एक ही इंद्र होना चाहिये। एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। इससे प्रकार कहकर उग्र गर्जना करके आकाश मार्ग में उड़ने की इच्छा करते हुए उसे एक विवेक आया, तो वह पुनः इस प्रकार चिंतन करने लगा कि– "ये मेरे सामानिक देव शक्रेन्द्र को जैसा शक्तिवान् मान्य करते हैं, वैसा यदि वह हो तो हो, क्योंकि ये देवता लेशमात्र भी मेरा अहित चाहते नहीं है, और फिर कार्य की गति विषम होती है। दैवयोग से यदि मेरी पराजय हो जाय तो फिर इससे भी अधिक पराक्रम वाले किसकी शरण में मुझे जाना? इस प्रकार विचार करके उसने अवधिज्ञान के उपयोग से ज्ञात किया, तो सुसुमारपुर में श्री वीरप्रभु को प्रतिमाधारण किये हुए देखा। तब वह वीरप्रभु की शरण लेने का निश्चय करके खड़ा हुआ व तुंबालय नामक अपनी आयुधशाला में गया। वहाँ से मानो मृत्यु का दूसरा हाथ हो वैसा एक मुद्गर उसने उठाया एवं ऊंचा नीचा एवं आडा उसे दो तीन बार फिराया। तब असुर स्त्रियाँ उन्हें शूरवीर जाने इस कामना से कौतुक देखते हुए भुवनपति देवों द्वारा उत्साहित किया हुआ और सामानिक देवताओं को 'अज्ञ है' ऐसा जानकर उपेक्षित करता हुआ वह चमरासुर चमरचंचा नगरी से निकला।

(गा. 374 से 407)

क्षणभर में श्री वीरप्रभु के समीप आकर, परिघ आयुध को दूर रखकर तीन प्रदक्षिणा देकर, नमन करके इस प्रकार बोला "हे भगवान्! मैं आपके प्रभाव से अति दुर्जय शक्रेन्द्र को जीत लूंगा, कारण कि वह इंद्र मेरे मस्तक पर

रहा होने से मेरे चित्त में अति बाधा पहुँचाता है।'' इस प्रकार कहकर परिघ आयुध को लेकर ईशान दिशा में आया और वैक्रिय समुद्घात द्वारा सद्य ही अपना रूप एक लाख योजन का विकुर्वित किया। श्याम कांति वाला महाशरीर मानो मूर्तिमन्त आकाश हो अथवा नंदीश्वर महाद्वीप का जंगम अंजनगिरि हो, वैसा दिखाई देने लगा। उसका मुख दाढरूप करवत सा भयंकर उसके श्याम और चपल केश थे, मुखरूप कुंड में से उछलती ज्वालाओं से आकाश भी पल्लवित हो रहा था, उसके विकराल वक्षस्थल से सूर्यमंडल भी आच्छादित हो रहा था, भुजादंड के हिलने से ग्रह, नक्षत्र और तारे खिर रहे थे, नाभिमंडल पर लीन हुए सर्प की फुंकार से भयंकर दिखाई दे रहा था, उसके अति लंबे जानु गिरि की चुलिका के अग्र भाग को स्पर्श करने से विस्मय उत्पन्न कर रहे थे और वह मानो पैर के अबृंभ से भूमंडल को विधुर कर रहा हो। ऐसा भयंकर रूप करके वह चमरासुर गर्वान्ध होकर सौधर्मपति की ओर उत्पतित हुआ।

(गा. 408 से 416)

उग्र गर्जना से सम्पूर्ण ब्रह्मांड को फोड़ता हुआ, मानो दूसरा यमराज हो वैसा व्यंतरों को डराता हुआ और सिंह जैसे हिरणों को त्रास देता है वैसा, ज्शोतिष्क देवों को त्रास देता हुआ वह क्षणमात्र में सूर्य चंद्र के मंडल का उल्लंघन करके शुक्र से मंडल में आ पहुँचा। उस भयंकर महामूर्ति को अकस्मात और वेग से आते हुए देखकर ही किल्विष देवता छिप गये। आभियोगिक देवता भी त्रासित हो गए, सैन्य सहित सेनापति शीघ्र पलायन कर गये, और सोम और कुबेर प्रमुख दिक्पाल भाग गये। आत्मरक्षकों से अस्खलित और छड़ीदार से भी अवारित इस असुर को त्रायस्त्रिंश देवों ने यह क्या है? ऐसे संभ्रांत चित्त से देखा। समकाल में उत्पन्न हुआ कोप और विस्मय द्वारा सामानिक देवताओं के द्वारा देखते हुए उसने एक पैर पद्मवेदिका पर और दूसरा पैर सुधर्म सभा में रखा। फिर परिघ आयुध द्वारा इंद्रकील पर तीन बार ताड़न करके, उत्कट भृकुटी चढ़ाकर वह अति दुर्मद चमर शक्रेन्द्र के प्रति इस प्रकार बोला– हे इंद्र! तू ऐसे खुशामदी देवताओं के वृंद से कि उनके पराक्रम से अद्यापि मेरे ऊपर रह रहा है। परंतु अब मैं तुझे नीचे गिरा देता हूँ। पर्वत पर कौवे की तरह तू यहाँ चित्रकाल तक मुफ्त में ही रहा है। अरे चमरचंचा नगरी के स्वामी और विश्व को भी असह्य पराक्रम वाले मुझ चमरासुर को क्या तू नहीं जानता? शिकारी की आवाज को केशरीसिंह सुने वैसे ही जिसने ऐसा कठोर वचन पूर्व में कभी

भी सुना नहीं था, वह सुन शक्रेन्द्र कुछ हंसे और विस्मित हुए। पश्चात् अवधिज्ञान से उसने चमरेन्द्र को जानकर कहा 'अरे चमर! तू भाग जा' ऐसा बोलकर भृकुटी चढ़ाकर शक्रेन्द्र ने वज्र हाथ में लिया, और प्रलयकाल की अग्नि का सार हो, विद्युत का मानो संचय हो एवं एकत्रित हुआ वडवानल हो ऐसे उस प्रज्वलित वज्र को इंद्र ने उस पर छोड़ा। तड् तड् शब्द करता और देवताओं को त्रास देता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर दौड़ा। सूर्य को तेज को उलूक की तरह उस वज्र को देखने में भी असमर्थ ऐसा वह चमरासुर वज्र को आते देखते ही वडवानरी की तरह ऊपर पैर और नीचे सिर हो गया और तत्काल चित्रा से चमरी मृग भागे वैसे श्री महावीर भगवंत के शरण में आने की इच्छा से वहाँ से भागा। उस वक्त 'अरे सुराधम! जैसे विशाल सर्प के साथ मेढ़क, हाथी के साथ भेड़, अष्टापद के साथ हाथी, और गरुड़ के साथ सर्प युद्ध करना चाहे वैसे अनात्मज्ञ जैसा तूं हमारे इंद्र के साथ युद्ध करना चाहता है, परन्तु तुझे बुरे हाल के साथ भागना पड़ा। ऐसा कहकर देवता लोग उस पर हंसने लगे। जैसा महादेह धारण कर वह आया था, वैसा ही लघु देही होकर पवन से चले मेघ के जैसे शीघ्रता से भागने लगा। रूप को छोटा करते उस असुर के पीछे धो के जैसे चला आता वज्र ज्वालाओं से श्रेणी द्वारा शोभायमान होने लगा।

(गा. 417 से 436)

इधर वज्र को छोड़ने के पश्चात् इंद्र को विचार हुआ कि 'किसी भी असुर की स्वयं की यहाँ तक आने की शक्ति होती नहीं, इस उपरान्त भी यह असुर यहाँ आया तो यह अवश्य ही किसी अर्हन्त, अर्हन्त का चैत्य, या किसी महर्षि को मन में स्मरण करके उनसे शक्ति प्राप्त करके यहाँ आया होगा। ऐसा सोच कर अवधिज्ञान द्वारा इंद्र ने देखा तो ज्ञात हुआ कि वह वीरप्रभु के प्रभाव से यहाँ आया था और वापिस वह वीर प्रभु की शरण में ही गया है, ऐसा जाना। इससे अरे! मैं मारा गया, ऐसा बोलता हुआ इंद्र कि जिसके हार आदि आभूषण टूट रहे थे, वैसे वज्र के मार्ग का अनुसरण कर उसकी तरफ दौड़ा। चमरेन्द्र का निवास साथ ही प्रभु का विहार स्थान अघोभूमि में होने से आगे चमरेन्द्र पीछे वज्र और उसके पीछे शक्रेन्द्र पूर्ण वेग से चल दिया। क्षणभर में प्रतिकार करने वाले के पीछे हाथी की तरह शक्रेन्द्र उनके नजदीक आ पहुँचा। इतने में दावानल से पीड़ित हाथी की तरह नदी के पास आ जाती है वैसे ही वह चमरेन्द्र प्रतिमाधारी प्रभु के पास पहुँच गया एवं शरण! शरण! ऐसा बोलता

हुआ अत्यन्त लघु शरीर करके प्रभु के दोनों चरणों के बीच कुंथुए के जैसे छिप गया। उस समय वज्र प्रभु के चरण कमल से चार अंगुल दूर था। इतने में तो सर्प को वादी पकड़े वैसे इंद्र ने वज्र को मुट्ठी में ले लिया। पश्चात् प्रभु को प्रदक्षिणा पूर्वक वंदना करके इंद्र अंजलीबद्ध होकर भक्ति सभर वाणी से इस प्रकार बोले कि– "हे नाथ! यह चमरेन्द्र उद्धत होकर मुझे उपद्रव करने के लिए आपके चरणकमल के प्रभाव से मेरे देवलोक तक आया था, यह मेरे जानने में आया नहीं था, इससे अज्ञानता से मैंने यह वज्र उस पर छोड़ा था। उसके पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा उसे आपके चरणकमल में लीन हुआ मैंने जाना। इसलिए मेरा अपराध क्षमा करे। इस प्रकार कहकर शक्रेन्द्र ने ईशानकोण में जाकर अपना रोष उतारने के लिए अपना वाम चरण पृथ्वी पर तीन बार पछाड़ा। फिर चमरेन्द्र को कहा कि– 'हे चमर! तू विश्व को अभय प्रदान करने वाले श्री वीरप्रभु के शरण में आया, वह बहुत अच्छा किया। क्योंकि ये सर्वगुरुओं के भी गुरु हैं। अब मैंने वैर का त्याग करके तुझे छोड़ दिया है। इसलिए तू खुशी से वापिस चमरचंचा नगरी में जाकर तेरी समृद्धि के सुख का भोक्ता बन।' इस प्रकार चमर को आश्वासन देकर पुनः प्रभु को नमन करके इंद्र अपने स्थान पर चले गये।

(गा. 437 से 451)

सूर्यास्त होने पर गुफा में से जैसे उलूक निकले वैसे चमरेन्द्र प्रभु के दोनों चरणों के अन्तर से बाहर निकला एवं प्रभु को नमन करके अंजली जोड़कर बोला कि –"सर्व जीवों के जीवन औषधरूप हे प्रभु! आप मुझे जीवनदान देने वाले हैं। आपके चरण की शरण में आने पर अनेक दुःख के स्थान रूप इस संसार से भी मुक्त हो जाते हैं, तो वज्र से मुक्त होना तो क्या बात है? हे नाथ! मैंने अज्ञता से पूर्व भव में बालतप किया था, उसके फलस्वरूप अज्ञान सहित असुरेन्द्र का फल मुझे प्राप्त हुआ। मैंने अज्ञानता से ये सर्व प्रयत्न करके मेरी आत्मा को ही अनर्थकारी किया हैं। परंतु अंत में आपकी शरण में आया, वह अच्छा किया। यदि पूर्व भव में ही मैंने आपका शरण ले लिया होता तो भी अच्युतेन्द्र या अहमिन्द्र पन प्राप्त करता। अथवा हे नाथ! मुझे इन्द्रपने की भी अब क्या जरुरत है? क्योंकि अभी तो तीन जगत्पति आप मुझे नाथ रूप में प्राप्त हुए हो, इससे मुझे सबकुछ प्राप्त हो गया है। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक कहकर प्रभु को नमन करके चमरेन्द्र चमरचंचा नगरी में आया। वहाँ अपने सिंहासन

पर बैठकर लज्ञा से मुख नीचा करके वह अपने स्वागतार्थ आए हुए सामानिक देवताओं से बोला कि, हे देवों! आपने मध्यस्थ रूप से शक्रेन्द्र के लिए जैसा कहा था, वह वैसा ही है। परंतु उस वक्त अज्ञानता से यह सब मैंने जाना नहीं। जैसे प्रथम सिंह की गुफा में सियार जाय वैसे मैं भी उनकी सभा में गया, वहाँ उनके अभियोगिक देवों ने कौतुक देखने की इच्छा से मेरी उपेक्षा करके जाने दिया। परंतु इंद्र ने मेरी ओर वज्र छोड़ा। उससे भयभीत होकर महाकष्ट से मैं सुरासुरों से नमित श्री वीरप्रभु ने चरण–शरण में गया। श्री वीरप्रभु की शरण में जाने से इंद्र ने मुझे जीवित छोड़ दिया। इसलिए मैं यहाँ आया हूँ। अब आप सब चलो, अपन श्री वीरप्रभु के पास जाकर वंदन करें। इस प्रकार चमरेन्द्र अपने सर्व परिवार के साथ प्रभु के पास आया और प्रभु को नमन करके संगीत करके पश्चात् अपनी नगरी की ओर गया।

(गा. 452 से 466)

प्रातःकाल में प्रभु एक रात्रि की प्रतिमा संपन्न करके अनुक्रम से विहार करके भोगपुर नामक नगर में आए। वहाँ माहेन्द्र नामक एक क्षत्रिय था, वह दुर्मति प्रभु को देखकर एक खजूर की यष्टि लेकर प्रभु पर प्रहार करने को दौड़ा। उस वक्त सनत्कुमारेन्द्र कि जो बहुत समय से प्रभु के दर्शन को उत्कंठित थे, वे प्रभु को वंदन करने के लिए वहाँ आये। तब उन्होंने उस शठ को उपद्रव करते हुए देखा। इससे उस क्षत्रिय का तिरस्कार करके इंद्र ने प्रभु को वंदना की एवं भक्तिपूर्वक सुखपृच्छा करके स्वस्थान चले गये। भगवंत भी वहाँ से विहार करके नंदीग्राम आए। वहाँ नंदी नामक भगवंत के पिता का मित्र था, उसने भक्ति से प्रभु की पूजा की। वहां से प्रस्थान करके प्रभु मेढक गांव में आए। वहाँ एक ग्वाला बालों की डोरी लेकर प्रभु को मारने के लिए दौड़ा। वहाँ पर भी कुर्मार गांव की तरह इंद्र ने आकर उस गोप का निवारण किया एवं प्रभु को भक्ति से वंदना की। वहाँ से विहार करके प्रभु कौशांबी नगरी में आए।

(गा. 467 से 474)

कौशांबी में शत्रुओं के सैन्य से भयंकर शतानीक नाम का राजा था। उनके चेटक राजा की पुत्री मृगावती नामकी रानी थी। वह सदा तीर्थंकर प्रभु के चरण की पूजा में एक निष्ठावाली परम श्राविका थी। शतानीक राजा के सुगुप्त नामका मंत्री थी, उसके नंदा नामक स्त्री थी। वह भी परम श्राविका और

मृगावती की सखी थी। उसी नगर में धनावह नामका एक सेठ रहता था, वह अति धनाढ्य था, उसके गृहकार्य में कुशल मूला नामकी पत्नि थी। यहाँ वीर प्रभु पधारे उस समय पोष माह की कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा (एकम) थी। उस दिन प्रभु ने अत्यंत अशक्य अभिग्रह धारण किया कि 'कोई सती और सुन्दर राजकुमारी दासत्व को प्राप्त हुई, पैरों में लोहे की बेड़ी डाली हुई हो, मस्तक मुंडित हो, भूखी हो, रुदन करती हो, एक पैर देहली (उंबर) पर और दूसरा बाहर रखा हो, सर्व भिक्षुक उसके घर आ चुके हो, वैसी स्त्री सूपड़े (छाजले) के एक कोने में रहे कुलमाष (उड़द) यदि मुझे वहरावे तो मैं पारणा करूंगा इसके सिवा नहीं करूंगा। ऐसा अभिग्रह लेकर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के समय उच्च–नीच गृहों में गोचरी के लिए विचरने लगे। परंतु प्रभु के उक्त अभिग्रह होने से कोई भिक्षा दे भी तो प्रभु लेते नहीं थे। नगरजन अत्यन्त शोक करते और अपनी निंदा करते थे। इस प्रकार अशक्य अभिग्रह होने के कारण भिक्षा लिए बिना बावीस परीषह को सहन करते हुए प्रभु ने चार प्रहर की भांति चार महिने निर्गमन किये। एक वक्त प्रभु सुगुप्त मंत्री के घर भिक्षा के लिए पधारे। उसकी स्त्री नंदा ने प्रभु को दूर से ही देखा, तब 'ये महावीर अर्हत् प्रभु सद्भाग्य से मेरे घर पधारे हैं' ऐसा बोलती हुई नंदा आनंदित होती हुई प्रभु के सामने आई एवं उस बुद्धिमान् श्राविका ने कल्पनीय भोज्य सामग्री प्रभु के समक्ष रखी, परंतु अभिग्रह होने से प्रभु कुछ भी लिए बिना चले गये। नंदा का हृदय दुःखी हो गया। और मैं अभागिनी हूँ, मुझे धिक्कार है, मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ, इस प्रकार शोक करने लगी। इस प्रकार खेद करती हुई नंदा को उसकी दासी ने कहा कि, 'हे भद्रे! ये देवार्य प्रतिदिन इसी प्रकार भिक्षा लिए बिना ही चले जाते हैं। आज ही कोई ऐसा नहीं बना है। यह बात सुनकर नंदा ने विचार किया कि 'प्रभु ने कोई अपूर्व अभिग्रह धारण किया लगता है, इससे प्रासुक अन्न भी प्रभु ग्रहण कर रहे नहीं हैं। अब किसी भी रीति से प्रभु का अभिग्रह ज्ञात कर लेना चाहिये। ऐसी चिंतामग्न होकर आनंद रहित होकर बैठी थी, इतने में सुगुप्त मंत्री घर आए, उन्होंने उसे चिंता करते हुए देखा। सुगुप्त ने कहा, 'प्रिये! उद्विग्न चित्त वाली कैसे दिखाई दे रही हो? क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा खंडित की है? अथवा मैंने कोई तुम्हारा अपराध किया है?, 'नंदा बोली–'स्वामी! किसी ने भी मेरी आज्ञा खंडित नहीं की है, न ही आपका कोई अपराध हैं। परंतु मैं श्री वीरप्रभु को पारणा न करवा सकी, इसका मुझे अत्यंत खेद है। भगवान् नित्य

प्रतिदिन आहार ग्रहण करने हेतु अपने नगर में आते हैं और कोई अपूर्व अभिग्रह के कारण भिक्षा लिए बिना लौट जाते हैं। इसलिए हे महामंत्री! आप प्रभु का वह अभिग्रह ज्ञात कर लो। यदि नहीं जान पाते हो तो अन्य के चित्त को पहचानने वाली आपकी बुद्धि वृथा है। सुगुप्त ने कहा 'हे प्रिय! उन प्रभु का अभिग्रह किसी भी प्रकार से जानने का मैं प्रातः काल में प्रयत्न करूंगा। उस समय मृगावती रानी की विजया नामक छड़ीदार की स्त्री वहाँ आई थी। उसने इन दम्पत्ती की बात सुन ली। उसने यह सब बात अपनी स्वामिनी मृगावती को जाकर कह सुनाई। यह सुनकर मृगावती को भी अत्यन्त खेद हुआ। शतानिक राजा ने संभ्रमता से उसके खेद का कारण पूछा। तब मृगावती भृकुटी ऊँची करके अंतर के खेद और क्षोभ के उद्‌गार से व्याप्त ऐसी वाणी से बोली कि– ''राजा तो इस चराचर जगत् को अपने बातमीदारों से जान सकते हैं और आप तो एक शहर को भी जान सकते नहीं है, तो उनके पास क्या बात करनी? राज्य सुख में ही प्रमादी बने हे नाथ! तीन लोक में पूजित चरम तीर्थंकर श्री वीर भगवंत इसी गांव में विचर रहे हैं, यह आप जानते है? वे कोई अभिग्रह धारण करके घर–घर भिक्षाटन कर रहे हैं। परंतु भिक्षा ग्रहण किये बिना वापिस लौट जाते हैं, यह आप जानते हैं? मुझे, आपको और आपके अमात्य को धिक्कार है, कि जहाँ वीरप्रभु अज्ञात अभिग्रह से इतने दिनों तक भिक्षा के बिना विचर रहे हैं।' राजा ने कहा– 'हे शुभाशये! हे धर्मचतुरे! धन्यवाद शाबास है तुमको। जो तुमको मुझ जैसे प्रमादी को योग्य समय पर शिक्षा दी। अब प्रभु का अभिग्रह ज्ञात करके प्रातः काल में उनको पारणा कराऊंगा। ऐसा कहकर शीघ्र ही उन्होंने मंत्री को बुलाया एवं कहा कि हे भद्र! मेरी नगरी में श्री वीरप्रभु चार महिने हुए आहार के बिना विचर रहे हैं। इससे अपने को धिक्कार है। इससे आपको किसी भी प्रकार से उनका अभिग्रह ज्ञात कर लेना है कि जिससे मैं प्रभु का अभिग्रह पूर्ण करवा कर मेरी आत्मा की शुद्धता प्राप्त करूं। मंत्री बोले– हे महाराज! उनका अभिग्रह जाना जा सके, ऐसा नहीं है। मैं भी उसी से खेदित हूँ। इसके लिए कुछ उपाय करना चाहिए। पश्चात् राजा ने धर्मशास्त्र में विचक्षण ऐसे तथ्यकंदी नाम के उपाध्याय को बुलाकर कहा कि, 'हे महामति! आपके धर्मशास्त्र में सर्व धर्मों के आचार कथित है, तो उसमें से श्री जिनेश्वर प्रभु के अभिग्रह की बात ज्ञात करो।' उपाध्याय बोले कि, 'हे राजन्! महर्षियों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार

भेदों से बहुत से अभिग्रह कहे हुए हैं। इन भगवंत ने जो अभिग्रह लिया है, वह विशिष्ट ज्ञान के अभाव में जाना नहीं जा सकता। पश्चात् राजा ने नगरी में आघोषणा कराई कि 'अभिग्रहधारी वीरप्रभु जब भिक्षा लेने आवें तब लोगों को अनेक प्रकार की भिक्षा देनी।' राजा की आज्ञा से और श्रद्धा से प्रभु ने किसी भी स्थान से भिक्षा ग्रहण नहीं की। इस प्रकार आहार बिना रहते हुए भी विशुद्ध ध्यान में लीन प्रभु अम्लान मुख से रहते थे और लोग दिनों दिन लज्ञा और खेद से विशेष रूप से आकुलव्याकुल हो उनको देखते रहते थे।

(गा. 475 से 497)

इसी समय में शतानीक राजा ने सैन्य के साथ चक्रवात के समान वेग से एक रात्रि में जाकर चंपानगरी को घेर लिया। चंपापति दधिवाहन राजा उनसे भयभीत होकर भाग गये। क्योंकि "अति बलवान पुरुष से अवरुद्ध मनुष्य का पलायान के सिवा अन्य कोई स्वरक्षण का उपाय नहीं है। पश्चात् शतानीक राजा ने 'इस नगरी में से जो लेना हो सो ले लो' ऐसी अपने सैन्य में अघोषणा कराई, तो उसके सैन्य के सुभट चंपानगरी को लूंटने लगे। दधिवाहन राजा की धारिणी नाम की रानी को, उसकी वसुमती नाम की पुत्री सहित कोई ऊँटवाला हरण करके ले गया। शत्रुरूप कुमुद में सूर्य के जैसा शतानीक राजा कृतार्थ होकर सैन्य के परिवार के साथ कौशांबी नगरी वापिस आया। धारिणी देवी के रूप से मोहित ऊँटवाला सुभट लोगों के सामने उच्च स्वर से कहने लगा कि यह जो प्रोढ रूपवती स्त्री है, वह मेरी स्त्री होगी और इस कन्या को कौशांबी के चौटै में जाकर बेच दूंगा। यह सुनकर धारिणी देवी ने मन में सोचा कि 'मैं चंद्र से भी निर्मल ऐसे वंश में जन्मी हूँ और जैन धर्म में उत्पन्न हुए दधिवाहन राजा की पत्नि हूँ और जैन धर्म मुझे परिणमित हुआ है। ऐसे वचन सुनकर भी मैं पाप का भाजन होकर अभी भी जीवित हूँ, इससे मुझे धिक्कार है। अरे स्वभाव से चपल ऐसा जीव! अभी भी इस देह में कैसे बैठा है ? यदि तू स्वयमेव नहीं निकलेगा तो नीड़ (घोंसले) में से पक्षी को निकाले वैसे मैं तुझे बलात्कार ही निकालूंगी। इस तिरस्कार से मानो उद्वेग पाए वैसे खेद से फटे हुए हृदय से क्षणभर में ही उसके प्राण निकल गये। उसकी मृत्यु हुई जानकर ऊंटवाले सुभट को भी खेद हुआ कि 'ऐसी सती स्त्री के लिए मैंने कहा कि "यह मेरी पत्नि होगी" यह मैंनें उचित नहीं किया, मुझे धिक्कार है! अंगली से बताए हुए कुष्मांडफल (कोले) की तरह मेरी दुष्ट वाणी से यह सती जैसे मरण पाई, वैसे कहीं यह कन्या भी मर न

जाए? इसलिए इसे मधुर वाणी से बोलता हुआ कौशांबी नगरी में ले आया। तथा उसे राजमार्ग पर बेचने के लिए खड़ी कर दी। दैवयोग से वहाँ धनावह सेठ आ पहुँचे। उन्होंने वसुमती को देखकर सोचा कि ''इसकी आकृति को देखने पर यह कोई सामान्य मनुष्य की पुत्री नहीं लगती है। परन्तु यूथ से भ्रष्ट मृगली पारधी के हाथ में आई हो वैसे माता–पिता से विखूटी हुई यह कन्या निर्दय मनुष्य के हाथ लग गई लगती है एवं इसे मूल्य लेने के लिए बेचने के लिए खड़ी कर दी है। यह बेचारी अवश्य ही किसी हीन मनुष्य के हाथ में फंस जाएगी। बेहतर यही होगा कि मैं ही अधिक द्रव्य देकर इस कृपापात्र कन्या को खरीद लूँ। अपनी पुत्री की तरह मैं इसकी उपेक्षा करने में अशक्त हूँ। किसी भी अड़चन के बिना मेरे घर रहते हुए दैवयोग से कदाच् इस बाला का उसके स्वजनों का संयोग हो भी जाय।'' इस प्रकार विचार करके सुभट की इच्छानुसार उसे मूल्य देकर धनावह सेठ अनुकंपा से उस बाला को अपने घर ले गये। उन्होंने स्वच्छ बुद्धि से कहा कि हे वत्से! तू किसकी कन्या है? तेरे, स्वजन वर्ग कौन है, यह भय छोड़कर कह तू मेरी पुत्री ही है।' वह अपने कुल की अति महत्ता होने से कुछ भी कह नहीं सकी। इससे कुछ भी न बोलकर सायंकाल की कमलिनी की भांति अधोमुख खड़ी रही। सेठ ने अपनी पत्नि मूला को बुलाकर कर कहा कि, 'प्रिया! यह कन्या अपनी दुहिता है। उसका अति यत्नपूर्वक पुष्प की भांति पालन पोषण करना। श्रेष्ठी के इन वचनों को सुनकर वह बाला वहाँ अपने घर की तरह ही रहने लगी और बालचन्द्र की लेखा के समान सबके नेत्र को आनंद देने लगी। उसके चंदन जैसे शीतल, विनय युक्त वचन और शील से रंजित होकर श्रेष्ठी के परिवार ने उसका 'चंदना' नामकरण कर दिया।

(गा. 498 से 541)

अनुक्रम से करभ जैसे उरुवाली वह बाला यौवनवय को प्राप्त हुई। उस समय जैसे समुद्र पूर्णिमा की रात्रि को आनंददायक होता है, वैसे ही श्रेष्ठी को हर्षित करने लगी। स्वभाव से ही रूपवती उपरान्त यौवन को प्राप्त कर विशेष स्वरूपवान् हुई उस चंदना को देखकर मूला सेठानी मन में ईर्ष्या भाव लाकर सोचने लगी कि, 'सेठ जी ने इस कन्या को पुत्रीवत् रखा है, परंतु अब उसके रूप से मोहित होकर कहीं सेठ उसके साथ परण जाए तो जीतेजी मैं तो मरे जैसी हो जाऊंगी। इस प्रकार स्त्रीत्व के अनुरूप तुच्छ हृदय के कारण वह मूला तब से ही उदास रहने लगी। एक बार सेठ जी ग्रीष्म ऋतु के ताप से पीड़ित

होकर दुकान से घर आए, उस वक्त दैवयोग से कोई सेवक पैर धोने के लिए हाजिर नहीं था, इसलिए अति विनीत चंदना खड़ी हुई। तब सेठ जी के मना करने पर भी वह पितृभक्ति से सेठजी के पैर धोने में प्रवृत्त हुई। उस समय उसके स्निग्ध श्याम और कोमल केशपाश अंग की शिथिलता से छूटकर जलपंकिल भूमि में गिर पड़ा। तब 'इस पुत्री का केशपाश भूमि के कीच से मलिन न हो जाए' ऐसा सोचकर सेठ ने सहजभाव से यष्टिसे उसे ऊंचा किया और फिर आदर से बांध दिया। गवाक्ष से मूला ने यह सब देखा, तो उसने सोचा कि ''मुझे पहले ही ऐसा विचार आया था, वह वैसा ही लग रहा है। इस युवा स्त्री का केशपाश सेठ ने स्वयं ने बांधा। ये उसके पत्निरूप का प्रथम चिह्न सूचित करता है। क्योंकि पिता का कार्य इस प्रकार करने का होता नहीं है। इसलिए अब इस बाला का मूल से ही उच्छेद करना चाहिये। ऐसा निश्चय करके दुराशा डाकण की तरह ऐसे समय की राह देखने लगी। सेठ क्षणमात्र विश्राम करके पुनः बाहर गये, तब मूला ने नापित (नाई) को बुलाकर चंदना का मस्तक मुंडा दिया। फिर उसके पैरों में बेड़ी डालकर क्रोध रूपी राक्षस के वश में हुई उस मूला ने लता से जैसे हथिनी की वैसे चंदना को अत्यन्त ताड़ना दी। पश्चात् घर से दूर के विभाग में चन्दना को डालकर द्वार बंद करके मूला ने अपने परिवार आर्थत् सेवक आदि को कहा कि 'सेठ यदि इस विषय में पूछे तो कुछ भी कहना नहीं। इस उपरांत भी यदि कोई कहेगा तो वह मेरी कोप रूपी अग्नि में आहुति रूप हो जाएगा।' इस प्रकार की नियंत्रणा करके मूला अपने पीहर चली गई। सायंकाल में सेठ ने आकर पूछा कि चंदना कहाँ है ? तो मूला के भय से किसी ने भी उत्तर नहीं दिया। सेठ ने सोचा 'वत्सा चंदना कहीं खेलती होगी अथवा ऊपर होगी।' इसी प्रकार रात्रि में भी पूछा, तो भी किसी ने कुछ भी जवाब नहीं दिया। तब सरल बुद्धि वाले सेठ ने सोचा कि चंदना सो गई होगी।' किन्तु दूसरे दिन भी उसे चंदना दिखाई नहीं दी। इसी प्रकार तीसरे दिन भी उसे नहीं देखा, तब शंका और कोप से आकुलव्याकुल हुए सेठ ने परिजनों से पूछा, 'अरे सेवकों। बताओगे नहीं तो मैं तुम सबका निग्रह करूंगा।' यह सुनकर वृद्ध दासी ने सोचा कि 'मैने तो बहुत सा जीवन व्यतीत कर लिया, अब तो मृत्यु नजदीक है, इसलिए यदि मैं चंदना का वृत्तांत बता भी दूंगी, तो मूला मेरा क्या कर लेगी ?' ऐसा विचार करके उसने मूला और चंदना का सर्व वृत्तांत सेठ को कह सुनाया। फिर उस वृद्धाने जाकर जहाँ चंदना को रखा था,

वह स्थान सेठ को बता दिया। तब धनावह सेठ ने स्वयं ही जाकर द्वार खोला। वहाँ चोरों द्वारा खींची हुई लता के समान क्षुधा, तृषा से पीड़ित नई पकड़ी हुई हथिनी की तरह बेड़ियों से बद्ध, भिक्षुकी की भांति मुंडित मस्तक एवं अश्रुपुरित नेत्रकमल वाली चंदना का धनावह सेठ ने अवलोकन किया। सेठ ने उसे कहा, वत्से! तू स्वस्थ हो जा, ऐसा कहकर नेत्रों से आंसू टपक रहे हैं जिनके ऐसे सेठ उसे भोजन कराने के लिए रसवती लेने के लिए जल्दी जल्दी रसोई में गये। परंतु दैवयोग से रसोईगृह में किंचित् मात्र भी अवशेष भोजन दृष्टिगत नहीं हुआ। एक कोने में रखे सूपड़े में कुल्माष (उड़द) दिखाई दिये। उसे लेकर सेठ ने चंदना को दिये, और कहा कि, वत्से! मैं तेरी बेड़ियाँ तुड़वाने के लिए लुहार को बुला लाता हूँ, तब तक तू इन कुल्माष का भोजन कर। ऐसा कह कर सेठ बाहर गये। तब चंदना खड़ी खड़ी ही यह विचार करने लगी कि, 'अहो! कहाँ मेरा राजकुल में जन्म ? और कहाँ इस समय यह स्थिति ? इस नाटक जैसे संसार में क्षणभर में वस्तुमात्र अन्यथा हो जाती है, यह मैंने स्वयं ने अनुभव कर लिया। अहो! अब मैं इसका क्या प्रतिकार करूँ, आज अट्ठम के पारणे पर ये कुल्माष मुझे उपलब्ध हुए हैं, परंतु यदि कोई अतिथि आवे तो उनको देकर मैं आहार करूं, अन्यथा मैं नहीं खाऊंगी।' ऐसा विचार आते ही उसने द्वार पर दृष्टि डाली। इतने में तो श्री वीर प्रभु भिक्षा के लिए विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही 'अहो! कैसा शुभपात्र! अहो! कैसा उत्तम पात्र! अहो यह कैसा मेरे पुण्य का संचय। कि ये महात्मा भिक्षा के लिए अचानक ही यहाँ पधारे। ऐसा चिंतन करके वह बाला कुलमाषवाला वह सूपड़ा हाथ में लेकर एक पैर देहली के बाहर और एक पैर देहली के अंदर रखकर खड़ी रही। बेड़ियों के कारण देहली का उल्लंघन करने में अशक्त ऐसी वह बाला वहाँ से ही आर्द्रहृदयपूर्ण भक्ति से भगवंत के प्रति बोली– हे प्रभो! यद्यपि यह भोजन आपके लिए अनुचित हैं, तथापि आप परोपकारी हैं, इसलिए इसे ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह करो। द्रव्यादि चारों प्रकारों से शुद्ध रीति से अभिग्रह पूर्ण हुआ जानकर प्रभु ने उन कुल्माष की भिक्षा लेने के लिए अपने कर (हाथ) पसारे। (उस समय चंदना के नेत्र में आंसू नहीं थे, इससे अभिग्रह अपूर्ण जानकर प्रभु वापिस लौट गए। इसलिए चंदना को अपार दुःख होने पर उसके आंखों में आंसू आ गए। अभिग्रह पूर्ण हुआ जानकर प्रभु वापिस लौटे और आहार ग्रहण किया। ऐसा अन्यत्र कथन है।) उस समय 'अहो! मुझे धन्य है' ऐसा ध्यान करती हुई चंदना

ने उस सूपड़े से कुल्माष प्रभु के हाथों में वहराये। प्रभु का अभिग्रह संम्पन्न होने से देवगण प्रसन्न होकर वहाँ आये एवं उन्होंने वसुधारा आदि पाँच दिव्य प्रगट किये। शीघ्र ही चंदना की बेड़ियाँ टूट गई, उसके स्थान पर स्वर्णजटित नुपूर बन गए। केशपाश भी पूर्व की भांति सुशोभित हो गया। श्री वीरप्रभु के भक्त देवताओं ने आकर चंदना के सर्व अंगों को वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर दिया। पश्चात् देवतागण पृथ्वी और अंतरीक्ष के उदर को भरे ऐसा उत्कृष्ट नाद करके सूत्रधार के समान हर्षित होकर गीत नृत्यादि करने लगे। दुंदुंभि की ध्वनि सुनकर मृगावती और शतानिक राजा तथा सुगुप्त मंत्री और नंदा आदि बड़े परिवार के साथ वहाँ आये। देवपति शक्रेन्द्र भी पूर्ण अभिग्रही प्रभु को वंदन करने के लिए मन में हर्षित होते हुए वेग से वहाँ आये। दधिवाहन राजा का संपुल नामका एक कंचुकी था। उसे जब चंपानगरी को लूटा गया। तब वहाँ से शतानिक राजा पकड़ कर ले आए थे। उसे उसी समय मुक्त किया था। इससे छूटकर वह भी वहाँ आया, तब उसने अपने राजा की पुत्री वसुमती को देखकर उसके पैरों में गिर पड़ा और मुक्त कंठ से जोर जोर से रुदन करने लगा। इससे उस बाला को भी रुदन आ गया। शतानीक राजा ने उससे पूछा कि 'तू क्यों रो रहा है?' तब वह कंचुकी अश्रुधारा सहित बोला कि हे महाराज! दधिवाहन राजा की धारिणी रानी की ये पुत्री हैं। अहो! उस वैभव से भ्रष्ट होकर माता पिता बिना की यह बाला दासीवत् रह रही है। इसे देखकर मुझे रुदन आ रहा है।' शतानीक राजा ने कहा– हे भद्र! यह कुमारी शोक करने योग्य नहीं है, कारण कि इसने तीन जगत् का रक्षण करने में शूरवीर ऐसे वीरप्रभु का अभिग्रह पूर्ण कर प्रतिलाभित किया है।' उस समय मृगावती रानी बोली, अरे! धारिणी तो मेरी बहन है, उसकी यह पुत्री है, तो यह मेरी भी पुत्री ही है। पश्चात् छः महिने में पाँच दिन कम तप का पारणा करवाकर धनावह के गृह से बाहर निकले।

(गा. 542 से 592)

प्रभु के जाने के पश्चात् लोभ की प्रबलता से शतानीक राजा ने धन लेने की इच्छा की, तब सौधर्माधिपति ने राजा शतानीक को कहा कि, हे राजन्! आप इस रत्नवृष्टि को लेने की इच्छा कर रहे हो, परंतु इस द्रव्य पर आपका स्वामित्व नहीं है, इसके लिए यह कन्या जिसे दे, वह यह द्रव्य ले सकता है। राजा ने चंदना से पूछा कि 'चंदना! यह द्रव्य कौन लेवे?' चंदना बोली कि 'यह धनावह सेठ ग्रहण करे,

क्योंकि वे मेरा पालन पोषण करने से मेरे पिता है।' पश्चात् धनावह सेठ ने वह द्रव्य ग्रहण किया। पश्चात् इंद्र ने पुनः शतानीक राजा को कहा कि 'यह बाला चरमदेही है, भोगतृष्णा से विमुख है।' इससे जब वीरप्रभु को केवलज्ञान, उत्पन्न होगा, तब वह उनकी प्रथम शिष्या होगी, इसलिए जब प्रभु को केवलज्ञान हो, तब तक तुमको इसका रक्षण करना होगा। ऐसा कहकर इंद्र प्रभु को नमन करके देवलोक में गये। राजा शतानीक ने चंदना को अपने यहाँ ले जाकर कन्याओं के अंतःपुर में रखी। चंदना भी प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति का ध्यान करती हुई वहाँ रही। वह मूला सेठानी जो अनर्थ का मूल थी, उसे घनावह सेठ ने निकाल दी। वह दुर्ध्यान से मृत्यु प्राप्त कर नरक में गई।

(गा. 593 से 600)

प्रातः काल में प्रभु वहाँ से विहार करके सुमंगल गाँव में आए। वहाँ सनत्कुमार इंद्र ने आकर प्रभु को वंदना की। वहाँ से प्रभु सत्क्षेत्र नामक गांव में आए। वहाँ माहेन्द्र कल्प के इंद्र ने आकर प्रभु को भक्ति से नमन किया। वहाँ से प्रभु पालक गाँव में आए। वहाँ भायल नामक कोई वणिक यात्रा करने जा रहा था, उसने प्रभु को सन्मुख आते हुए देखा। तब 'इस भिक्षुक का अपशकुन हुआ, इसलिए इसके मस्तक पर खड्ग से प्रहार करूँ।'' ऐसा सोचकर खड्ग निकालकर वह प्रभु को मारने के लिए दौड़ा। उस समय सिद्धार्थ व्यंतर ने आकर उसी खड्ग से उसका ही मस्तक छेद डाला।

(गा. 601 से 604)

प्रभु वहाँ से विहार करके चंपानगरी में आए। वहाँ स्वादिदत्त नाम के किसी ब्राह्मण की अग्निहोत्र की शाला में प्रभु चार महिने के उपवास करके बारहवें चौमासे में वहाँ रहे। वहाँ पूर्णभद्र और माणिभद्र नामके दो महर्द्धिक यक्ष प्रतिदिन रात्रि में आकर प्रभु की पूजा करते थे। यह देखकर स्वादिदत्त ने विचार किया कि 'ये देवार्य कुछ जानते होंगे, जिससे प्रत्येक रात्रि में उनके पास आकर देवतागण उनको पूजते हैं।' ऐसा चिंतन करके जिज्ञासु स्वादिदत्त प्रभु के पास में आया, एवं पूछा कि 'देवार्य! सिर आदि अंगों से पूर्ण इस देह में जीव किसे कहा जाय? प्रभु ने फरमाया कि 'देह में रहने पर भी जो अहं (मैं) ऐसा मानते हैं, वह जीव है।' स्वादिदत्त ने कहा कि 'वह किस प्रकार समझना?' भगवंत बोले– 'हे द्विज! मस्तक, हाथ, आदि जो अवयव हैं, उससे वह भिन्न है

और सूक्ष्म है।' स्वादिदत्त ने पुनः प्रश्न किया कि 'वह सूक्ष्म है, परंतु है कहाँ? वह स्पष्ट रूप से बताओ।' प्रभु ने कहा कि, 'वह इंद्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रश्नोत्तर से उस ब्राह्मण ने प्रभु को तत्त्ववेत्ता जानकर, भक्ति से प्रभु की पूजा की और प्रभु ने भी भव्य जानकर उसे प्रतिबोध दिया। चातुर्मास सम्पन्न करके प्रभु जृंभक गाँव में आए। वहाँ इंद्र नाट्यविधि प्रदर्शित करके बोले कि 'हे जगद्गुरु! अब अल्प दिनों के पश्चात् आपको उज्ज्वल केवल ज्ञान उत्पन्न होगा।' प्रभु भी वहाँ से प्रस्थान करके मेढक गाँव में आए। वहाँ चमरेन्द्र ने आकर प्रभु को वंदना की एवं सुखविहार पूछकर अपने स्थान पर गये।

(गा. 605 से 617)

पश्चात् वहाँ से प्रस्थान करके प्रभु षड्गमानि गाँव में गए। वहाँ कायोत्सर्ग करके ध्यानपरायण होकर गांव के बाहर रहे। इस समय वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में तपाहुआ शीशा डालकर उपार्जित किया अशातावेदनीय कर्म उदय में आया। वह शय्यापालक का जीव यहाँ एक ग्वाला बना था। वह प्रभु के समीप अपने बैल रखकर गायें दुहने के लिए गया। वे बैल स्वेच्छा से चरते चरते किसी अटवी में दूर चले गये। क्षणभर में वह ग्वाला वापिस आया। उसे वहाँ बैल दिखाई नहीं दिये। तब उसने प्रभु से कहा कि, 'अरे! अधम देवार्य। मेरे बैल कहाँ गये? तू बोलता क्यों नहीं है? क्या मेरे वचन तुझे सुनाई नहीं दिये? ये तेरे कान के छिद्र क्या मुफ्त के हैं?' ऐसा कहने पर भी जब प्रभु बोले नहीं, तब उसने अत्यन्त क्रोध करके प्रभु के दोनों कर्णरंध्र में काशडा की शलाकाएँ डाली। वे शलाकाएँ ताड़न करने से परस्पर ऐसी मिल गई कि मानो वह अखंड एक ही कील हो, ऐसी दिखाई देने लगी। पश्चात् ये कीलें कोई निकाल न सके, ऐसा सोच कर, वह दुष्ट ग्वाला उसका बाहर दिखाई देने वाला भाग काट कर चला गया। माया और मिथ्यात्व रूपी शल्य जिनके नाश हो गए ऐसे प्रभु के कान में डाले उन शल्यों से प्रभु शुभ ध्यान से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए। वहाँ से प्रभु मध्यम अपापा नगरी में पधारे। वहां पारणे के लिए प्रभु सिद्धार्थ वणिक के आवास पर आए। उसने भक्ति से प्रभु को प्रतिलाभित किया। वहाँ उस सिद्धार्थ का एक खरक नाम का प्रियमित्र वैद्य पहले से ही आया हुआ था। सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न होने से प्रभु को देखते ही वह विचार करके बोला कि, 'अहो! भगवंत की मूर्तिमन्त देह सर्व लक्षणों से संपूर्ण है, परंतु किंचित् म्लानभूत ज्ञात होती है। मानों शल्ययुक्त हो ऐसा लगता है।' सिद्धार्थ ने

संभ्रम से कहा, 'यदि ऐसा है तो अच्छी तरह से तलाश करके कह कि भगवंत के शरीर में किस स्थान में कीलें हैं? फिर उस वैद्य ने प्रभु के संपूर्ण शरीर की निपुणता से तलाश की तब दोनों कानों में उसे कीलें दृष्टिगत हुई। तब उसने वे सिद्धार्थ को भी बताई। सिद्धार्थ बोला कि 'अरे! किसी अपवाद से या नरक से भी भयभीत नहीं होने वाले किसी पापी ने यह दारुण कर्म किया लगता है। परंतु हे महामति मित्र! उस पापी की बात करना जरुरी नहीं, अब तो प्रभु के शरीर में से शल्योद्धार करने का प्रयत्न कर ये शल्य तो प्रभु के कान में है, परंतु मुझे अत्यन्त पीड़ा हो रही है। इस विषय में मैं किंचित् मात्र भी विलम्ब सहन नहीं कर सकता। मेरा सर्वस्व भले ही नाश पाए, परंतु इन जगत्पति के कान में से किसी भी प्रकार से शल्य का उद्धार हो जाय तो अपन दोनों का इस भवसागर से उद्धार हुआ ऐसा मैं मानता हूँ। वैद्य बोले– 'यद्यपि ये प्रभु विश्व का रक्षण और क्षय करने में समर्थ हैं, तथापि कर्मक्षय करने के लिए उन्होंने उस अपकारी पुरुष की उपेक्षा की है, ऐसे प्रभु कि जो अपने शरीर की भी अपेक्षा रहित हैं, मुझ से उनकी चिकित्सा किस प्रकार हो? क्योंकि ये कर्म की निर्जरा के लिए इस प्रकार की वेदना को भी अच्छी मानते हैं।' सिद्धार्थ बोला– हे मित्र! इस प्रकार की वचनयुक्ति इस समय किसलिए करते हो? ऐसी बात करने का यह समय नहीं है, इसलिए शीघ्र ही भगवंत की चिकित्सा करो।' ये दोनों इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि इतने में तो शरीर से भी निरपेक्ष प्रभु वहाँ से चले गये। बाहर उद्यान में आकर शुभ ध्यान में परायण हुए। सिद्धार्थ और खरक वैद्य औषध आदि लेकर शीघ्र ही उद्यान में आए। प्रभु को एक तेल की कुंडी में बिठाया, उनके शरीर में तेल का अभ्यंगन किया, और बलवान् चंपी करने वाले मनुष्यों से मर्दन कराया। उन बलिष्ट पुरुषों ने प्रभु के शरीर के तमाम सांधों (जोड़ो) को शिथिल कर डाले। पश्चात् उन्होंने दो संडासी लेकर प्रभु के दोनों कानों से दोनों कीलें एक साथ खींची। तब रुधिर सहित दोनों कानों से दोनों कीलें मानों प्रत्यक्ष अवशेष वेदनीय कर्म निकलता हो, वैसे निकल आये। उन कीलों को खींचते समय प्रभु को ऐसी वेदना हुई कि उस समय वज्र से आहत पर्वत की भांति प्रभु के मुख से भयंकर चीख निकल गई। प्रभु के महात्म्य से ही उस चीख के नाद से वह पृथ्वी फूटी नहीं। "अर्हन्त प्रभुजी विपत्ति में भी अन्य को उपद्रवकारी नहीं होते।" पश्चात् संरोहिणी औषधि द्वारा प्रभुजी के कान को तत्काल ही सुखा दिया। खमाकर तथा नमन करके सिद्धार्थ और खरक वैद्य अपने घर गए। वे शुभाशय

पुरुष प्रभु को वेदना करने पर भी देवसंबंधी लक्ष्मी को भोगने वाले हुए। वह दुराशयी ग्वाला प्रभु को वेदना देने से मरकर सातवी नरक के दुःखों का पात्र हुआ। प्रभुजी के भैरव (भयंकर) नाद से वह उद्यान महाभैरव नाम से प्रख्यात हुआ। एवं लोगों ने वहाँ एक देवालय बंधाया।

(गा. 618 से 649)

इस प्रकार श्री वीरप्रभु जी को जो जो उपसर्ग हुए, उसमें जघन्य उपसर्गों में कटपूतना ने जो शीत उपसर्ग किया वह, उत्कष्ट मध्यम उपसर्गों में संगम ने जो कालचक्र फैंका वह, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट उपसर्गों में कानों से कीलों का उद्धार किया वह, इस प्रकार प्रभुजी को उपसर्गों का प्रारंभ भी ग्वाले से हुई अर्थात् ग्वाले का उपसर्ग अंतिम हुआ।

(गा. 650 से 652)

प्रभु ने तपस्या में एक छमासिक, नव चातुर्मासक्षपण, छ द्विमासिक, बारह मासिक, बहत्तर अर्धमासिक, एक षण्मासिक, दो त्रिमासिक, दो अढीमासिक, तीन भद्रादिक प्रतिमा (भद्र, महाभद्र, सर्वतोभद्र– दो, चार और दस दिन की), कौशांबी नगरी में छः मास में पांच दिन कम तक अभिग्रह धारण (उपवास), बारह अष्टमभक्त, अंतिम रात्रि में कायोत्सर्ग युक्त एक रात्रि की बारह प्रतिमा, एवं दौ सो उनत्तीस छट्ठ–इस प्रकार तपस्या हुई एवं तीन सौ उनपचास पारणे हुए। इस प्रकार व्रत लिया उस दिन से लेकर साढे बारह वर्ष और एक पखवाड़े में तपस्याएँ हुई। उन्होंने नित्यभक्त या चतुर्थभक्त (एक उपवास) किया ही नहीं। इस प्रकार जलरहित सर्व तपस्या करते हुए, उपसर्गों को जीतते हुए और छद्मस्थ रूप में विचरते हुए श्री वीर प्रभु ऋजुवालिका नामक बड़ी नदी के तट पर स्थित जंभृक नाम के गांव के समीप आए।

(गा. 653 से 658)

दशम पर्व का श्री महावीर द्वितीय साग्रषड्वार्षिक छद्मस्थ विहार वर्णन नामक चतुर्थ सर्ग।

पंचम सर्ग

श्री महावीर स्वामी को केवलज्ञान और चतुर्विध संघ की स्थापना

जंभृक गांव के बहिर्भाग में ऋजुवालिका नदी के उत्तर तट पर शामाक नाम के किसी गृहस्थ का क्षेत्र था। वहाँ किसी गुप्त–अस्पष्ट चैत्य के निकट शालवृक्ष के नीचे प्रभु छट्ठ तप करके उत्कटिक आसन में आतापना करने लगे। (गा. 1 से 2)

वहाँ विजय मुहूर्त्त में शुक्लध्यान में वर्तते एवं क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए प्रभु के चार घाति कर्म जीर्ण डोरी की भांति तत्काल टूट गये। वैशाख महिने के शुक्ल दशमी को चंद्र के हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर दिन के चतुर्थ प्रहर में प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इंद्रगण आसनकंप से प्रभु के केवलज्ञान को जानकर हर्षित होते हुए देवताओं के साथ वहां आए। इस अवसर पर कोई देवता कूदने लगे कोई नाचने लगे, कोई हंसने लगे, कोई गाने लगे, कोई सिंह की भांति गर्जना करने लगे, कोई अश्व के सदृश हेषारव करने लगे, कोई हस्ति के समान नाद करने लगे। कोई रथ की तरह चीत्कार करने लगे एवं कोई सर्प की तरह फुत्कार करने लगे। प्रभु के केवलज्ञान से हर्ष के कारण चारों निकायों के देवता अन्य भी विविध चेष्टाएँ करने लगे। तत्पश्चात् देवताओं ने तीन किलेवाला एवं प्रत्येक किले में चार चार द्वार वाला समवसरण रचा। 'यहाँ (रत्न सिंहासन पर विराज कर देशना देना आदि) सर्व विरति के कोई योग्य नहीं है, ऐसा जानने पर भी प्रभु ने अपना कल्प जानकर उस समवसरण में बैठकर देशना दी। उनके तीर्थ में हाथी के वाहन वाले, कृष्णवर्णी, वामभुजा में बिजोरा और दक्षिण भुजा में नकुल को धारण करता हुआ मातंग नाम का यक्ष और सिंह के आसन वाली, नीलवर्णी, दो वाम भुजा में बिजोरा और वीणा तथा दो दक्षिण भुजा में पुस्तक और अभय को धारण करती हुई सिद्धायिका नामक देवी–ये

दोनों नित्य प्रभु के पास रहनेवाले शासन देवता हुए। उस समय वहाँ उपकार के योग्य ऐसे लोगों के बिल्कुल अभाव से परोपकार परायण और जिनका प्रेमबंधन क्षीण हो गया ऐसे प्रभु ने वहाँ से विहार किया। (तीर्थंकर प्रभु की देशना निष्फल नहीं जाती, फिर भी वीर प्रभु की प्रथम देशना में किसी ने भी विरतिभाव ग्रहण न करने से निष्फल गई, यह आश्चर्य समझना।)

(गा. 3 से 14)

पश्चात् 'मेरे तीर्थंकर नाम गोत्र नामक बड़ा कर्म वेदना हैं, वह भव्य जंतुओं को प्रतिबोध देन से अनुभव करने योग्य है' ऐसा विचार करके असंख्य कोटि देवताओं से परिवृत और देवताओं से संचरित सुवर्णकमल पर न्यास करते प्रभु दिन की भांति देवताओं के उद्योत से रात्रि भी प्रकाशित होने पर, बाहर योजन के विस्तार वाली, भव्य प्रणियों से अलंकृत एवं यज्ञ के लिए एकत्रित हुए प्रबोध के योग्य गौतमादिक अनेक शिष्यों से सेवित अपापा नामक नगरी में आए। उस पुरी के नजदीक महासेनवन नामक उद्यान में देवताओं ने एक सुंदर समवसरण की रचना की। पश्चात् जिन्होंने सर्व अतिशय प्राप्त किये हैं, ऐसे और सुर और असुरों से स्तुत्य प्रभु ने पूर्व द्वार से उस समवसरण में प्रवेश किया। बत्तीस धनुष ऊंचे रत्नों के प्रतिच्छंद जैसे चैत्यवृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दी। 'तीर्थाय नमः' ऐसा उच्चारण करके, आर्हती मर्यादा को पालकर प्रभु पादपीठ युक्त पूर्व सिंहासन पर बिराजे। भक्तिवंत देवताओं ने प्रभु की महिमा से ही अन्य तीन दिशाओं में प्रभु के प्रतिरूप किये। इस अवसर पर सर्व देवता तथा मनुष्य आदि योग्य द्वार से समवसरण में प्रवेश करके प्रभु के बदन को निरखते निरखते अपने योग्य स्थान पर बैठे। तब इंद्र ने भक्ति से रोमांचित शरीर से प्रभु को नमन करके अंजलीबद्ध होकर निम्न प्रकार से स्तुति की।

(गा. 15 से 25)

हे प्रभु! लावण्य से पवित्र शरीर वाले और नेत्र को अमृतांजन रूप ऐसे आपके विषय में मध्यस्थ रहना वह भी दोष का हेतु है, तो द्वेष रखने की तो बात ही क्या करनी? 'कोपादिक से उपद्रव करने वाले (क्रोधी आदि) वे भी आपके प्रतिपक्षी है ऐसी लोकवार्ता क्या विवेकी लोग करते हैं? अर्थात् नहीं करते आप विरक्त हैं, इससे जो रागवान आपके विपक्षी हों, वे विपक्ष ही नहीं। क्योंकि सूर्य की विपक्षी क्या जुगनु हो सकता है? लवसत्तम (अनुत्तर वासी)

देवता भी आपके संयोग को चाहते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते, तो योगमुद्रा बिना के अन्यों की तो बात ही क्या करनी ? हे स्वामी! हम आप समान नाथ की शरण को ही अंगीकार करते हैं, आपकी ही उपासना करते हैं। आपके सिवा अन्य कोई त्राता नहीं है, इसलिए कहाँ जाकर कहें और क्या करें ? अपने आचार द्वारा ही मलिन एवं दूसरों को ठगने में तत्पर ऐसे अन्य देवों से ही जगत् ठगा जा रहा है। अहो! इसकी पुकार किसके सामने करें नित्यमुक्त कहलाने पर भी इस जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय करने में उद्यत होने वाले और इससे ही वंध्या स्त्री के बालक समान देवों का कौन सचेत पुरुष आश्रय करे? हे देव! अन्य कितनेक मूढ़ पुरुष उदर पूर्ति करने वाले एवं विषयेन्द्रिय द्वारा दुराचार करने वाले देवताओं से आपके जैसे देवाधिदेव का निन्हव करते हैं, वह कैसी खेद की बात है ? अहो! कितनेक घर में रहे हुए गर्जना करने वाले मिथ्यात्वी यह सब आकाशपुष्पवत् हैं, ऐसी उत्प्रेक्षा करके और उसका कुछ प्रमाण कल्पित कर देह और गेह में आनंद मानते रहते हैं। कामराग और स्नेह राग का निवारण करना यह तो सहज बन सकता है, परंतु दृष्टिराग तो इतना पापी है कि जो सत्पुरुषों के द्वारा भी इसका उच्छेद करना। यह मुश्किल होता है। हे नाथ! प्रसन्नमुख, मध्यस्थ दृष्टि और लोक को प्रीति उपजाने वाले वचन ये सर्व आपके अत्यन्त प्रीति के स्थान रूप होने पर भी मूढ़ लोग व्यर्थ ही आपसे उदास रहते हैं। कभी वायु स्थिर हो जाय, पर्वत द्रवित हो जाय, जल जाज्वल्यमान हो जाय, तथापि रागादि द्वारा ग्रसित पुरुष कभी भी आप्त होने योग्य नहीं हैं।'' इस प्रकार से स्तुति करके इंद्र ने विराम लिया। पश्चात् प्रभु जी ने सर्वभाषा में समझी जा सके वाणी से निम्न प्रकार से देशना दी।

(गा. 26 से 38)

''अहो! यह संसार समुद्र के समान दारुण है, एवं उसका कारण वृक्ष के बीज के समान कर्म ही है। अपने ही कृत कर्म से विवेक रहित हुआ प्राणी कुआ खोदने वाले के समान अधोगति को पाते हैं एवं शुद्ध हृदय वाले पुरुष अपने ही कर्म से महल बांधने वाले की तरह उर्ध्वगति को पाते हैं। कर्म बंध के कारणभूत प्राणियों को हिंसा कभी भी नहीं करना चाहिये। सदैव अपने प्राणों की भांति अन्य के प्राणियों की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए। आत्मपीड़ा की तरह पर जीव

की पीड़ा का परिहार करने के इच्छुक प्राणी को असत्य न बोलकर सत्य ही बोलना चाहिए। मनुष्य के बहिः प्राण लेने जैसा अदत्त द्रव्य कभी भी नहीं लेना चाहिये। कारण कि उसका द्रव्य हरण करना उसका वध किया ही कहलाता हैं। बहुत जीवों का उपमर्दन करने जैसा मैथुन का सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये। प्राज्ञ पुरुषों को परब्रह्म (मोक्ष) दायक बह्मचर्य ही धारण करना चाहिये। परिग्रह धारण नहीं चाहिये। अति परिग्रह के कारण अधिक भार से बैल के समान प्राणी विधुर होकर अधोगति के गर्त में गिर जाता है। प्राणातिपात आदि के दो भेद हैं। उसमें से सूक्ष्म को यदि न छोड़ा जाय तो सूक्ष्म के त्याग में अनुरागी होकर बादर का त्याग तो अवश्यमेव करना चाहिये।

(गा. 39 से 47)

इस प्रकार प्रभु की देशना श्रवण कर सर्व लोग आनंद में मग्न होकर चित्रवत् स्थिर हो गए। इसी समय में मगधदेश में आए गोबर नामक गांव में वसुभूति नामक एक गौतम गोत्री ब्राह्मण रहता था। उसके पृथ्वी नामकी स्त्री से इंद्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम के तीन गौतम गोत्रीय पुत्र थे। कोल्लाक गांव में धनुर्मित्र और धम्मिल्ल नामके दो ब्राह्मण थे। उनके वारुणी और भद्दिला नाम की स्त्रियों से व्यक्त और सुधर्मा नाम के दो पुत्र थे। मौर्य गांव में धनदेव और मौर्य नाम के दो विप्र थे। वे परस्पर मौसेरे भाई होते थे। धनदेव के विजयदेवी नामकी पत्नि से मंडिक नामक एक पुत्र हुआ था, उसका जन्म होते ही धनदेव की मृत्यु हो गई। वहाँ के लोकाचार के अनुसार स्त्री रहित मौर्य विजयदेवी के साथ परणा "देशाचार लज्ञा के लिए नहीं होता।" अनुक्रम से मौर्य से विजय देवी को एक पुत्र हुआ, वह लोगों में मौयपुत्र इस नाम से ही प्रख्यात हुआ। इसी प्रकार विमलापुरी में देव नामक ब्राह्मण के जयंती नाम ही भार्या से अकंपित नामका एक पुत्र हुआ। कोशलानगरी में वसु नामक ब्राह्मण के नंदा नामक स्त्री से अचलभ्राता नामका पुत्र हुआ। वत्स देश में आए तुंगिर नाम के गाँव में दत्त नाम के ब्राह्मण के करूणा नाम की स्त्री से तैतर्य नामक पुत्र हुआ। राजगृह नगर में बल नामक ब्राह्मण के अतिभद्र नामक स्त्री से प्रभास नामक पुत्र हुआ। ये ग्यारह ही विप्रकुमार चार वेद रूपी सागर के पारगामी हुए थे एवं गौतम आदिक उपाध्याय होकर अन्य अन्य सैंकड़ों शिष्यों से परिवृत्त थे।

(गा. 48 से 60)

इसी समय अपापा नगरी में सोमिल नामके एक धनाढ्य ब्राह्मण ने यज्ञकर्म में विचक्षण ऐसे ग्यारह द्विजों को यज्ञ करने हेतु बुलाए थे। उस समय वहाँ समवसरे श्री वीरप्रभु को वन्दनार्थ आते देवताओं को देखकर गौतम ने अन्य ब्राह्मणों को कहा कि, 'इस यज्ञ का प्रभाव तो देखो! अपने मंत्रों से अभिमंत्रित ये देवता प्रत्यक्ष होकर यहाँ यज्ञ में आ रहे हैं। उस समय चंडालगृह की भांति यज्ञ का वाडा छोड़कर देवताओं को समवसरण में जाते देखकर लोग कहने लगे–'हे नगरजनों अतिशय सहित उद्यान में सर्वज्ञ प्रभु समवसरे हैं, उनको वंदन करने के लिए ये देवगण हर्ष से वहाँ जा रहे हैं।' सर्वज्ञ ये शब्द सुनते ही किसी ने आक्रोश किया हो वैसे इंद्रभूति कुपित होकर अपने स्वजनों से बोले– अरे धिक्कार! धिक्कार मरुदेश के मनुष्य जैसे आम को छोड़कर कैर के पास जाते हैं, वैसे ही ये लोग मुझे छोड़कर इस पाखंडी के पास जा रहे हैं। क्या मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा सर्वज्ञ है ? सिंह के समक्ष कोई दूसरा पराक्रमी हो ही नहीं सकता। मनुष्य तो मूर्ख होने से उसके पास जाते हैं तो भले जाएं परंतु देवतागण क्यों जा रहे हैं ? इससे उस पाखंडी का दंभ कोई महान् लगता है। परंतु जैसा यह सर्वज्ञ होगा, वैसे ही देवता भी लगते हैं। क्योंकि जैसे यक्ष होते हैं वैसी ही बलि दी जाती है। अब इन देवताओं और मनुष्यों के देखते हुए उसकी सर्वज्ञता का खंडन कर देता हूँ। इस अहंकार से बोलते हुए गौतम अपने पांच सौ शिष्यों से परिवृत्त होकर जहाँ श्री वीरप्रभु सुरनरों से घिरे हुए थे, वहाँ समवसरण में आए। प्रभु की समृद्धि और तादृश तेज देखकर 'यह क्या ?' इस प्रकार इंद्रभूति आश्चर्य– चकित हो गए। इतने में तो 'हे गौतम! इंद्रभूति! तुम्हारा स्वागत हैं। इस प्रकार जगद्गुरु ने अमृत जैसी मधुर वाणी से कहा। यह सुनकर गौतम विचाराधीन हो गए 'क्या ये मेरा नाम और गोत्र भी जानते हैं ? अथवा मेरे जैसा जगत्प्रसिद्ध मनुष्य को कौन नहीं जानता ? परंतु यदि मेरे हृदय में स्थित संशय को ये बतावें और अपनी ज्ञानसंपत्ति के द्वारा उसका जो छेदन कर दें, तो वे वास्तव में आश्चर्यकारी है ऐसा मैं मानता हूँ।' इस प्रकार हृदय में विचार कर ही रहे थे कि संशयधारी इंद्रभूति को प्रभु ने कहा कि, 'हे विप्र! जीव है या नहीं ? ऐसा तुम्हारे हृदय में संशय है। परंतु हे गौतम! जीव है, वह चित्त चैतन्य, विज्ञान और संज्ञा आदि लक्षणों से ज्ञात किया जा सकता है। यदि जीव न हो तो पुण्य पाप का पात्र कौन है ? और तुमको ये याग, दान आदि करने का निमित्त भी क्या ? इस प्रकार प्रभु के वचन सुनकर उन्होंने मिथ्यात्व

के साथ संदेह को भी छोड़ दिया, तथा प्रभु के चरण में नमस्कार करके बोले कि, हे स्वामी! ऊंचे वृक्ष का माप लेने के लिए नीचे पुरुष के समान मैं दुबुर्द्धि आपकी परीक्षा लेने के लिए यहाँ आया था। नाथ! मैं दोषयुक्त हूँ। इस उपरान्त भी आपने आज मुझे उत्तम प्रकार से प्रतिबोध दिया है, तो अब संसार से विरक्त हुए मुझे दीक्षा देकर अनुग्रहित करो।' जगद्गुरु वीरप्रभु ने उनको अपने पहले गणधर होंगे, ऐसा जानकर पाँच सौ शिष्यों के साथ स्वयं ने ही दीक्षा प्रदान की।

(गा. 61 से 83)

उस समय कुबेर ने चारित्रधर्म के उपकरण लाकर दिये। निःसंग होने पर भी उनको ग्रहण करते समय गौतम ने विचार किया कि, "निरवद्य व्रत की रक्षा करने में ये वस्त्रपात्रादि उपयोग में आते हैं, इसलिए ये ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि ये धर्म के उपकरण हैं, इनके बिना छः प्रकार के जीवनिकाय की यतना करने में उद्यत छद्मस्थ मुनियों से भली प्रकार से जीवदया का पालन कैसे होगा? इससे उद्गम, उत्पादादिक (गोचरी के ४२ दोष) एषणा द्वारा गुणवान् और शुद्ध उपगरण विवेकी पुरुषों को अहिंसा के पालन के लिए ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में आचरणवान् शक्तिशाली पुरुष को आदि, अंत और मध्य में मूढ़पने समय (सिद्धान्त) में कथित अथवा अवसरोचित अर्थ को साध लेना चाहिए। ज्ञान, दर्शन से रहित अभिमानी पुरुष ऐसे उपकरणों में परिग्रह की शंका करें तो उसे हिंसक जानना चाहिए। जो धर्म के उपकरणों में परिग्रह की बुद्धि धारण करे, वह तत्त्व को नहीं जानने वाले मूर्खों को ही राजी करना चाहता हैं। पृथ्वीकाय अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय आदि बहुत से जीवों की धर्म के उपकरणों के बिना किस प्रकार रक्षा हो? उपकरण ग्रहण करने पर भी यदि वह अपनी आत्मा को मन, वचन, काया से दूषित और असंतोषी रखे तो वह केवल अपनी आत्मा को ही ठगता है" इस प्रकार विचार करके इंद्रभूति ने पांचसौ शिष्यों के साथ देवताओं ने अर्पित करे हुए धर्म के उपकरण ग्रहण किये।

(गा. 84 से 93)

इंद्रभूति को दीक्षित हुआ सुनकर अग्निभूति ने विचार किया कि, "उस इंद्रजालिक ने अवश्य ही इंद्रभूति को ठग लिया लगता है। इसलिए मैं वहाँ जाकर सर्वज्ञ नहीं होने पर भी अपने को सर्वज्ञ मानने वाले उस धुतारे को जीत

लूँ। और माया से पराजित किये मेरे भाई को वापिस ले आऊँ। सर्व शास्त्रों के ज्ञाता एवं विशाल बुद्धि वाले इंद्रभूति को माया के बिना जीतने में कौन समर्थ है? परंतु यदि यह मायावी मेरे हृदय का संशय जानकर उसका निवारण कर दे, तो मैं भी इंद्रभूति के समान शिष्यों के सहित उसका शिष्य हो जाऊँगा।'' ऐसा विचार करके अग्निभूति भी अपने पाँचसौ शिष्यों के साथ समवसरण में गये तथा जिनेश्वर प्रभु के सन्निकट बैठे। उसे देखते ही प्रभु ने फरमाया–है गौतमगोत्री अग्निभूति! तेरे हृदय में ऐसा संशय है कि 'कर्म है या नहीं? और यदि कर्म है तो वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से अगम्य होने पर भी मूर्तिमान् है, ऐसे कर्म को अमूर्तिमान् जीव किस प्रकार बांध सकता है? अमूर्तिमान् जीव को मूर्तिवाले कर्म से उपघात और अनुग्रह किस प्रकार हो? ऐसा तेरे हृदय में संशय है, वह वृथा ही है। कारण कि अतिशय ज्ञानी पुरुषों को कर्म तो प्रत्यक्ष ही ज्ञात होता है। कर्म की विचित्रता से ही प्राणियों को सुख दुःख आदि विचित्र भाव प्राप्त होते रहते हैं। इससे कर्म हैं ऐसा तू निश्चय ही रख। कितनेक जीव राजा होते हैं, और कितनेक हाथी, अश्व और रथ के वाहन रूप को प्राप्त करते हैं। कितनेक उसके पास उपानह बिना पैदल चलने वाले होते हैं। कोई हजारों प्राणियों के उदर पोषण करने वाले महर्द्धिक होते हैं, तो कोई भिक्षा मांगकर भी अपना उदर भर सकते नहीं हैं। देश और काल एक समान होने पर भी एक व्यापारी को बहुत लाभ होता है, तो दूसरे की मूल–मूडी का भी नाश हो जाता हैं। इन कार्यों का कारण वह कर्म ही हैं। क्योंकि कारण के बिना कार्य की विचित्रता होती नहीं है। मूर्तिमान् कर्म का अमूर्तिमान् जीव के साथ जो संगम है, वह भी आकाश और घड़े के समान मिलता हैं। और फिर विविध जाति के शहद और औषधि से अमूर्त ऐसे जीव को भी उपघात और अनुग्रह होता है। उसी प्रकार कर्मों के द्वारा जीव को उपघात और अनुग्रह होते हैं, वह भी निर्दोष है।'' इस प्रकार प्रभु ने उनका संशय छेद डाला। तब अग्निभूति ने ईर्षा को छोड़कर पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ले ली।

(गा. 94 से 110)

अग्निभूति ने भी दीक्षा ले ली, यह बात सुनकर वायुभूति ने विचार किया कि, ''जिसने मेरे दोनों भाईयों को जीत लिया है, वह वास्तव में सर्वज्ञ ही होना चाहिये। इसलिए उन भगवंत के पास जाकर उनको वंदन करके मेरे पाप धो

डालूं। साथ ही मैं भी मेरा संशय दूर करूं।'' इस प्रकार विचार करके वायुभूति प्रभु के पास आए एवं प्रणाम करके बैठे। उसे देखकर प्रभु बोले कि, ''हे वायुभूति! तुमको जीव और शरीर के विषय में एक बड़ा भ्रम है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ग्रहण न होने के कारण जीव शरीर से भिन्न लगता नहीं हैं। इससे जल में बुद्बुदे की तरह जीव शरीर में से ही उत्पन्न होकर शरीर में ही मूर्च्छा प्राप्त करता है ऐसा तेरा आशय है, परंतु वह मिथ्या है। क्योंकि सर्व प्राणियों को जीव देश से तो प्रत्यक्ष ही हैं, क्योंकि उसकी इच्छा आदि गुण प्रत्यक्ष होने से जीव स्वसंविद् है। अर्थात् उसको स्वयं ही उसका अनुभव होता है वह जीव देह और इन्द्रियों से भिन्न है और जब इन्द्रियों का नाश होता है तब भी वह इन्द्रियों से उसका पहले भोगों हुए अर्थ का स्मरण करती है।'' इस प्रकार प्रभु की वाणी से अपना संशय नाश होने पर वायुभूति ने संसार से विमुख होकर पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(गा. 111 से 117)

पश्चात् व्यक्त ने स्पष्टता से विचार किया कि ''वास्तव में सर्वज्ञ भगवान् ही है कि जिन्होंने तीन वेदों की भांति इंद्रभूति आदि को जीत लिया। ये भगवंत मेरे संशय भी जरूर नाश करेंगे और फिर मैं भी इनका शिष्य हो जाऊंगा। ऐसा विचार करके व्यक्त प्रभु के पास आये ? उसे आया देख प्रभु बोले– ''हे व्यक्त! तेरे चित्त में ऐसा संशय है कि पृथ्वी आदि पंच भूत है ही नहीं, जिसकी यह प्रतीति होती है, वह भ्रम से जलचंद्रवत् हैं। यह सब शून्य ही है, ऐसा तुम्हारा दृढ आशय है। परंतु वह मिथ्या हैं। क्योंकि यदि सर्वशून्यता का पक्ष लें तो फिर भुवन में विख्यात हुए स्वप्न, अस्वप्न, गंधर्वपुर आदि भेद ही नहीं हों।'' इस प्रकार सुनकर व्यक्त के संशय का छेद हो गया। इससे उसने व्यक्त वासना बताकर पाँच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ली। ये समाचार सुनकर उपाध्याय सुधर्मा भी अपना संशय निर्मूल करने की इच्छा से लोकालोक का स्वरूप देखने में सूर्य के समान श्री वीर प्रभु के पास आये। उनको आया देख प्रभु ने कहा, ''हे सुधर्मा! तुम्हारी बुद्धि में ऐसा विचार वर्त रहा है कि, यह जीव जैसा इस भव में है, वैसा ही परभव में होता है। क्योंकि संसार में कारण के अनुसार ही कार्य होता है। शालि बीज बोने पर उसमें से कोई यवांकुर होते नहीं है। परंतु तेरा यह विचार गलत एवं अघटित है। क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य मृदुता व सरलता आदि द्वारा मानुषी आयुष्य का बंध करते हैं, वह पुनः

मनुष्य होते हैं, परंतु जो माया आदि करता है, वह यहाँ पशु रूप में रहता है, वह मनुष्य आगामी भव में पशु होता है। इससे जीव की पृथक् पृथक् गति में उत्पत्ति कर्म के आधीन हैं। इसी से प्राणियों में विविधता दिखाई देती है। फिर कारण के अनुसार ही कार्य होता है, यह कहना भी असंगत हैं। कारण कि शृंग आदि में से शर प्रमुख उग जाते हैं।'' ऐसी प्रभु की वाणी सुनकर सुधर्मा ने पांच सौ शिष्यों सहित प्रभु के चरणकमल में दीक्षा ली।

(गा. 118 से 130)

पश्चात् अपना संशय निवारण करने के लिए मंडिक प्रभु के पास आये। उनको प्रभु ने कहा कि, ''तुझे बंध और मोक्ष के विषय में संशय हैं। परंतु बंध और मोक्ष आत्मा को होता है, यह बात प्रसिद्ध है। मिथ्यात्वादि द्वारा किया हुआ कर्म का जो संबंध है, वह बंध कहलाता है, उस बंध के कारण प्राणी डोरी से बंधा हुआ हो, वैसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता रूपी चार गति में परिभ्रमण करता हुआ परम दारुण दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रमुख हेतु से जो कर्म का वियोग होता है, वही ही तो मोक्ष है। वह प्राणी को अनंत सुख प्रदान करता है। यद्यपि जीव और कर्म का परस्पर संयोग अनादि सिद्ध है, वैसे ही ज्ञानादि से जीव और कर्म का वियोग हो जाता हैं।'' इस प्रकार प्रभु के वचन सुनकर उसका संशय दूर हो गया, उस मंडिक ने साढ़े तीन सौ शिष्यों के साथ व्रत ग्रहण किया। इसके पश्चात् मौर्यपुत्र अपना संदेह निवारण करने के लिए प्रभु के पास आये। प्रभु ने फरमाया– ''मौर्यपुत्र! तुमको देवता के विषय में संदेह है, परंतु वह मिथ्या है। देखो, ये समवसरण में स्वयमेव आए इंद्रादिक देवता प्रत्यक्ष है। शेषकाल में संगीत कार्यादि की व्यग्रता से और मनुष्य लोक की दुःसह गंध से वे यहाँ आते नहीं हैं। परंतु इससे उनका अभाव है यह नहीं समझना। वे अर्हन्त के जन्माभिषेक आदि अनेक प्रसंगों पर पृथ्वी पर आते हैं। उसका कारण श्रीमत् अरिहंत का अति श्रेष्ठ प्रभाव हैं।'' इस प्रकार भगवन्त की वाणी से मौर्यपुत्र ने तत्काल प्रतिबोध का प्राप्त कर अपने ३५० शिष्यों के साथ दीक्षा अंगीकार की।

(गा. 131 से 141)

इसके पश्चात् अकंपित प्रभु के पास आए। प्रभु ने कहा कि, ''नजर से नहीं दिखाई देने के कारण नारकी नहीं है, ऐसी तेरी बुद्धि है। परंतु नारकी

जीव हैं, अत्यन्त परवशता के कारण वे यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। इसी प्रकार तुम्हारे जैसे मनुष्य भी वहाँ जाने में समर्थ नहीं है। नारकी जीव तुम जैसे को देखने में प्रत्यक्ष उपलभ्य नहीं। छद्मस्थ जीवों को वे युक्ति गम्य हैं और जो क्षायिक ज्ञानी हैं, उनको वे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। और फिर 'इस लोक में कोई क्षायिक ज्ञानी ही नहीं है' ऐसा भी तुम बोलना नहीं, कारण कि उस शंका का व्यभिचार मुझ में ही स्फुट रीति से है (अर्थात् मैं ही क्षायिक ज्ञानी हूँ)।'' प्रभु के इस प्रकार के वचनों को सुनकर संशय नष्ट होने से अकंपित ने भी प्रतिबोध को प्राप्त करके ३०० शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ली।

(गा. 142 से 146)

उसके बाद अचल भ्राता आए। प्रभु ने उसे स्फुट रीति से कहा, ''अचलभ्राता! तुझे पुण्य और पाप में संदेह है। परंतु तू उसमें जरा भी संदेह करना नहीं। क्योंकि इस लोक में पुण्य पाप का फल प्रत्यक्ष दिखाई देता है। साथ ही यह व्यवहार से भी सिद्ध होता है। दीर्ध आयुष्य, लक्ष्मी, रूप, आरोग्य और सत्कुल में जन्म– ये पुण्य का फल है और इससे विपरीत पाप का फल है। इस प्रकार प्रभु के वचनों से संशय दूर होने पर अचलभ्राता ने तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ली।

(गा. 147 से 150)

इसके बाद मेतार्य नाम के द्विज प्रभु के पास आए। प्रभु बोले– ''तुमको यह संशय है कि 'भवांतर में प्राप्त होने वाला परलोक नहीं है। कारण कि चिदात्मारूप जीव का स्वरूप सर्वभूत का एक संदोह रूप हैं। उन भूतों का अभाव होने पर बिखर जाने पर जीव का भी अभाव होतो फिर परलोक किस प्रकार हो? परंतु यह मिथ्या है। जीव की स्थिति सर्व भूतों से भिन्न है। क्योंकि सर्व भूतों के एकत्रित होने पर भी उसमें से कोई चेतना उत्पन्न नहीं होती। इससे चेतना जो जीव का धर्म है, वह भूत से भिन्न है। वह चेतनावाला जीव परलोक में जाता है और वहाँ भी उसे जातिस्मरण आदि से पूर्व भव का स्मरण होता है।'' इस प्रकार प्रभु को वचनों से प्रतिबोध प्राप्त कर मेतार्य ने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ली।

(गा. 151 से 155)

इसके पश्चात् प्रभास आए। उसे देख प्रभु ने कहा– "प्रभास! मोक्ष है या नहीं? ऐसा तुझे संदेह है। परंतु इस विषय में तू जरा भी संदेह रखना नहीं। कर्म का क्षय वह मोक्ष है। वेद से और जीव की अवस्था की विचित्रता से कर्म सिद्ध ही है। शुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र से कर्म का क्षय होता है, इससे अतिशय ज्ञान वाले पुरुषों को मोक्ष प्रत्यक्ष भी होता है।" स्वामी के इन वचनों से प्रतिबोधित होकर प्रभास ने भी तीन सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

इसी समय शतानीक राजा के घर में स्थित चंदना ने आकाश मार्ग से जाते–आते देवताओं को देखा। इससे वीर प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति होने का निश्चय होने पर व्रत लेने की इच्छा हुई। पश्चात् समीपस्थ देवता उसे श्री वीर प्रभु की पर्षदा में ले आए।

(गा. 156 से 162)

प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर नमन करके दीक्षा लेने को उत्सुक होकर खड़ी रही। उस समय अन्य अनेक राजाओं तथा आमात्यों की पुत्रियाँ भी दीक्षा लेने को तैयार हुई। प्रभु ने चंदना को अग्रणी बनाकर उन सबको दीक्षा दी एवं हजारों नर नारियों को श्रावकत्व में स्थापित किये। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना होने के पश्चात् प्रभु ने इंद्रभूति आदि को ध्रौव्य, उत्पादक और व्ययात्मक त्रिपदी का उपदेश दिया। उस त्रिपदी से उन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती अंग, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक, अंतकृत, अनुत्तरोपपादिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद इस प्रकार बाहर अंगों की रचना की। एवं दृष्टिवाद में चौदह पूर्व भी रचे। उनके नाम हैं– उत्पाद, आग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्याप्रवाद, कल्याण, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिंदुसार–इस प्रकार ये चौदह पूर्व गणधरों ने अंगों से पूर्व रचे इससे ये पूर्व कहलाये। इस प्रकार रचना करते गणधरों की सूत्रवांचना परस्पर भिन्न हुई और अकंपित, एवं अचलभ्राता की, इसी प्रकार मेतार्य और प्रभास की परस्पर एक समान वांचना हुई। श्री वीरप्रभु को ग्यारह गणधर होने पर भी उनकी दो दो वांचना समान होने से गण (मुनि समुदाय) नौ हुए।

(गा. 163 से 174)

इसी समय इंद्र तत्काल सुगन्धित रत्नचूर्ण से परिपूर्ण पात्र लेकर उठे और प्रभु के समक्ष खड़े हुए। तब इंद्रभूति आदि भी प्रभु की अनुज्ञा लेने के लिए

किंचित् मस्तक नमाकर अनुक्रम से परिपाटी के अनुसार उपस्थित हुए। तब 'द्रव्य, गुण और पर्याय से तुमको तीर्थ की अनुज्ञा है' ऐसा कहते हुए प्रभु ने प्रथम इंद्रभूति गौतम के मस्तक पर वह चूर्ण डाला। पश्चात् अनुक्रम से अन्य के मस्तक पर वह चूर्ण डाला। तब देवताओं ने प्रसन्न होकर चूर्ण और पुष्पों की वृष्टि ग्यारह ही गणधरों पर की। 'यह चिरंजीवी होकर धर्म का चिरकाल तक उद्योत करेगा', ऐसा कहकर प्रभु ने सुधर्मा गणघर को सर्वमुनियों में मुख्य करके गण की अनुज्ञा दी। तब साध्वियों में संयम के उद्योग की घटना के लिए प्रभु ने उस समय चंदना को प्रवर्तिनी पद पर स्थापित किया।

(गा. 175 से 181)

इस प्रकार प्रथम पौरुषी पूर्ण हुई, तब प्रभु ने देशना समाप्त की। तब राजाओं ने तैयार किया हुआ बली पूर्व द्वार से सेवक पुरुष लाए। वह बली आकाश में उड़ाते हुए उनमें से अर्ध बली आकाश में से ही देवगण ले गए एवं अर्ध भूमि पर गिरे। उसमें से आधा भाग राजा एवं शेषभाग अन्य लोग ले गए। पश्चात् प्रभु सिंहासन से उठकर देवच्छंद में विराजे। तब गौतम गणधर ने प्रभु के चरणपीठ पर विराजित होकर देशना दी। दूसरी पौरुषी पूर्ण होने पर वृष्टि से नवीन मेघ की तरह गौतम ने भी देशना से विराम लिया। सर्व विश्व का उपकार करने में तत्पर और सुरअसुर तथा राजावृंद जिनके चरणकमल की सेवा कर रहे हैं, ऐसे श्री वीरप्रभु कितनेक दिन तक वहीं पर रहकर लोगों को प्रतिबोध देकर वहाँ से अन्यत्र पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

(गा. 182 से 186)

इति आचार्य श्री हेमचंद्रसूरि विरचित त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र महाकाव्य के दशम पर्व में श्री महावीर केवलज्ञान चतुर्विध संघोत्पत्ति वर्णन नामक पंचम सर्ग

षष्टम् सर्ग

श्रेणिक राजा को समकित लाभ और मेघकुमार तथा नंदीषेण की दीक्षा

इस भरतक्षेत्र में कुशाग्रपुर नामक नगर में कुशाग्रबुद्धि वाला प्रसेनजित् राजा था। सर्व दिशाओं को अलंकृत करता उसका अपार कीर्तिसागर शत्रुओं की कीर्ति रूप सरिता को ग्रसित करता था। उसके सैन्य का संग्रह मात्र राज्य शोभा के लिए था। क्योंकि उसके वैरी रूप बाघ तो उसके प्रताप रूपी अग्नि से ही नष्ट हो गये थे। वह हाथ लंबे करने वाले सर्व याचकों को द्रव्य देता था, परंतु उनके साथ स्पर्धा हो वैसे वह उनको देते हुए अपने हाथ संकुचित नहीं करता। रणभूमि में उड़ी हुई रज से अंधकार होने पर विजयलक्ष्मी अभिसारिका होकर अपने अपने पतियों को छोड़कर वह राजा को ही सर्वांग आलिंगन करती थी। सदाचारी में शिरोमणि ऐसे उस राजा के शुद्ध हृदय में घट्ट केशपाश में अधिवास के समान जिनधर्म स्थिर रहा हुआ था। श्री पार्श्वनाथ प्रभु के शासन रूपी कमल में भ्रमर जैसा वह सम्यग्दर्शन से पुण्यात्मा होकर अणुव्रतधारी था। राजशिरोमणि प्रसेनजित् राजा के इंद्र की देवियों के समान विवाहित राजकन्याओं का विशाल अंतःपुर था। पृथ्वी पर राज्य करते वे इंद्र के समान राजा की मानो दूसरी मूर्तियाँ हो वैसे अनेक पुत्र हुए थे।

(गा. 1 से 10)

इसी समय में भरतक्षेत्र में वसंतपुर नामक नगर में जितशत्रु नामक यथार्थ नामवाला राजा था। उसके पृथ्वी पर उतरी हुई देवी हो वैसी गुणरत्नों की खान अमरसुंदरी नाम की पट्टरानी थी। उस दम्पत्ति के सुमंगल नामका एक पुत्र था, जो कि मंगल का निवास स्थान, रूप में कंदर्प जैसा और कलानिधि चंद्र जैसा था। सेनक नामक मंत्रीपुत्र उसका मित्र था। वह शारीरिक सर्व लक्षणों का प्रथम दृष्टान्त रूप था। उसके केश पीले थे, जिससे जिसके शिखर पर दावानल

लगा हो, वैसा पर्वत के समान वह दिखाई देता था। उलूक के समान चिपटा नाक था मार्जार की भांति उसके पिंगल नेत्र थे। ऊंट के जैसी उसकी लंबी गर्दन और लम्बे होठ थे। मूषक जैसे छोटे–छोटे कान थे, कंद के अंकुर जैसी दंतपंक्ति मुख से बाहर निकली हुई थी। जलोदर वाले के समान उसका पेट था, गांव के सूअरों जैसी छोटी २ सांथल थी। मंडल स्थानवत् आसन लगाया हो वैसी उसकी वांकी जंघा थी और सूपड़े के जैसे उसके पैर थे। ये बिचारा दुराचारी जहाँ जहाँ घूमता वहाँ वहाँ हास्य का ही एक छत्र राज्य होता था। जब जब यह सेनक दूर से आता था तब तब राजपुत्र सुमंगल उसके विकृतरूप को देखकर हंसता था।

(गा. 11 से 19)

इस प्रकार रातदिन राजपुत्र उसका उपहास्य करता, जिससे उसे अंत में अपमान रूप वृक्ष के महाफल रुप वैराग्य उत्पन्न हुआ और वैराग्य होते ही यह मंदभागी सेनक उन्मत्त की तरह हृदयशून्य होकर शहर में से निकल गया। मंत्रीपुत्र के जाने के पश्चात् कुछ समय में राजा जितशत्रु ने सुमंगल कुमार को अपने राज्यसिंहासन पर आरुढ़ किया। सेनक ने जंगल में घूमते हुए किसी एक कुलपति तापस को देखा। उनके पास तापस बनकर उसने उष्ट्रिका व्रत ग्रहण किया। तीव्र तप से सदैव अपनी आत्मा को कदर्थना देता हुआ सेनक एकदा बंसतपुर नगर मे आया।

(गा. 20 से 24)

उस मंत्रीपुत्र को तापस रूप में देखकर सर्वलोग उसकी पूजा करने लगे। लोगों ने उसे वैराग्य उत्पन्न होने का कारण पूछा, तो वह कहने लगा कि, 'सुमंगलकुमार बार–बार मेरे विरुप का हास्य करता था, इससे मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया एवं वह हास्य मेरे तपलक्ष्मी की जमानत रूप हो गया है।' यह समाचार सुनकर सुमंगलकुमार भी उसे नमन करने के लिए आया और उससे अनेक प्रकार से क्षमापना करके आदर सहित उसे पारणे को निमन्त्रण दिया। सेनक तापस ने राजा को आशीष देकर उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया, इससे राजा कृतार्थ हुआ हो, वैसे हर्षित होता हुआ अपने घर गया। जब मासक्षमण संपूर्ण हुआ, तब राजा की प्रार्थना को याद करके वह तापस शांत होकर राजभवन के द्वार पर आया। उस समय राजा का स्वास्थ्य ठीक न होने

से द्वारपाल ने द्वार बंद कर रखा था, इसलिए उस भिक्षुक को कौन देखे? इसलिए सेतु से जलप्रवाह की तरह वह स्खलित होकर जिस मार्ग से आया था, वापिस उसी मार्ग से वापिस चला गया। पुनः दूसरे मासक्षमण का निश्चय करके उसने उष्ट्रिका व्रत लिया और किंचित भी कोप न करते हुए रहने लगा। क्योंकि "महर्षिजन तप की वृद्धि से हर्ष प्राप्त करते है" दसरे दिन राजा स्वस्थ हुए तब तापस को दिया आमंत्रण याद करके वह उनके पास आकर नमन करके तथा क्षमा मांगकर बोला कि, " महर्षि मैने आपको पुण्य के लिए निमन्त्रण दिया था, परन्तु इससे तो उल्टा मैंने पाप उपार्जन कर लिया। 'प्रायः पापियों का पाप ही अतिथि होता है।' हे भगवान्! मैंने तो अन्य स्थल से भी आपका पारणा अटका दिया, कारण कि अतप्ता को प्रिय आलाप अन्य स्थान से लाभ होने से भी अन्तराय करता है। परन्तु अब प्रसन्न होकर दूसरे मासक्षमण के पारणे के समय नंदनवृक्ष को कल्पवृक्ष की तरह मेरे गृहांगण को अलंकृत करिएगा।" तापस ने वह बात स्वीकार की। तब राजा स्वस्थान लौट गया।

(गा. 25 से 35)

उनके पारणे के दिन को राजा प्रतिदिन अंगुली पर गिनता रहता था। जब मासक्षमण पूर्ण हुआ, तप तापस राजा के घर आया। उस वक्त भी पूर्व की भांति राजा का शरीर व्याधिग्रस्त था। पुनः पुनः ऐसे बनाव से राजकीय व्याक्तियों ने उस समय विचार किया कि " जब जब यह तपस्वी यहाँ आता है, तब तब अपने राजा का अशिव हो जाता है।" इससे उन्होंने रक्षकों को आज्ञा दी वह तापस मंत्रीपुत्र है, परंतु जब यह राजमंदिर में प्रवेश करे तब, तुम उसे सर्प की तरह निकाल देना। रक्षकों ने वैसा ही किया। तब तापस ने क्रोधित होकर नियाणा किया कि, मैं मेरे तपोबल से राजा के वध के लिए उत्पन्न होऊं। वह मृत्यु के पश्चात् अल्प ऋद्धि वाला वाणव्यंतर देव हुआ। राजा भी तापस बनकर उसी गति को पाए। वहाँ से च्यवकर सुमंगल राजा का जीव प्रसेनजित् राजा की रानी धारिणी के उदर से श्रेणिक नामक पुत्र हुआ।

(गा. 36 से 45)

उसी नगर में नाग नाम का एक रथिक था, वह प्रसेनजित् राजा के चरणकमल में भ्रमररूप था। इसी प्रकार वह दया और दान में आदरवाला, परनारी का सहोदर, वीर, धीर और सर्व कला का अध्येता था। फल स्वरूप

वह सर्वगुणों का एक स्थानरूप मान्य किया जाता। उसके सुलसा नामकी स्त्री थी। वह पुण्यकर्म में अप्रमत्त तथा देहधारी पुण्यलक्ष्मी हो, ऐसी थी। साथ में धूलक्रीड़ा करनेवाले बालकों की तरह उसमें पतिव्रता, समकित, सरलता आदि गुण एक साथ रहते थे। एक बार नाग रथिक स्वयं अपुत्र होने की वजह से नाल सहित कमल के समान कर पर मुख रखकर चिंता करने लगा कि 'मैं पुत्र को हुलराऊँ और उसका लालन पालन करूँगा ऐसा मेरा मनोरथ पुत्र के बिना अवकेशी (वंध्य) वृत्र की तरह निष्फल हो गया। जिन्होंने बालवय में ब्रह्मचर्य का पालन किया नहीं और युवावस्था में पुत्र का मुखदर्शन किया नहीं, उनके दोनों लोकों का ठगनेवाले कामीपने को धिक्कार है।''

(गा. 46 से 52)

इस प्रकार कीचड़ में फंसे हाथी की तरह चिन्तामग्न हुए और जिनका मुख विवर्ण हो गया ऐसे पति की स्थिति को देखकर सुलसा ने उनको विनय से अंजलीबद्ध होकर कहा, कि ''हे नाथ! आपने हस्त रूपी शय्या पर मुख रखा है जो कि आपको कुछ चिंता सता रही है, यह निर्देश कर रहा है, तो आप क्या चिंता कर रहे हैं ? वह कहिये एवं मुझे भी उसमें भागीदार बनाईये।'' नागसारथी बोला कि ''मैं अपुत्र हूँ, पुत्र प्राप्ति की अति वाञ्छा है, परंतु पुत्र या पुत्री का इच्छुक मुझे उसकी प्राप्ति का कोई भी उपाय सूझता नहीं है।'' सुलसा बोली– 'स्वामी आप अन्य कन्याओं के साथ विवाह कर लीजिए। उनमें से क्या एक भी पुत्र का प्रसव करने वाली नहीं होगी ?'' नाग बोला– ''ही प्रिये! इस जन्म में मैं तुझ से ही स्त्रीवाला रहने वाला हूँ, दूसरी स्त्री से कभी भी विवाह करने वाला नहीं हूँ, तो उनसे पुत्रों की तो बात क्या करनी ? हे प्रियदर्शना! तो तेरे से ही हुए पुत्र की इच्छा करता हूँ, जो कि चिरकाल तक अपने दोनों की प्रीतिरूप वल्ली में फल रूप हो। तू ही मेरा प्राण है, शरीर मंत्री और मित्र हो तो पुत्र के लिए किसी देव की मानता करने रूप यत्न कर। सुलसा बोली– 'प्रिय स्वामी! मैं श्री अर्हन्त प्रभु की आराधना करूंगी। क्योंकि अर्हन्त की आराधना सर्वकार्य में इच्छित फल दाता हैं।'' पश्चात् सुलसा आचाम्ल आदि दुस्सह तप करके जन्म से ही पवित्र ऐसी अपनी आत्मा को विशेष रूप से पवित्र करने लगी। विकसित नव मल्लिका की तरह मोती के आभूषण पहनने लगी। कसुंबी वस्त्रों से अरुण अभ्रवाली प्रातः काल की, संध्या की जैसी दिखने लगी और वीतराग की पूजा

में साथ ही ब्रह्मचर्य में तत्पर रहने, पति के दुःख से कोमल मनवाली होकर समाधि में रहने लगी।

(गा. 53 से 63)

इधर प्रथम स्वर्ग में देवों की सभा में शक्र इंद्र ने प्रशंसा की कि– ''अभी भरतक्षेत्र में सच्ची श्राविका सुलसा है।'' यह सुनकर एक देव ने विस्मित होकर कान ऊंचे कर लिए और सुलसा के श्राविकापने की परीक्षा करने के लिए यहाँ आया। उस समय सुलसा देवार्चन करती थी, वहाँ वह साधु का रूप लेकर 'निस्सिही' बोलता हुआ घर देरासर में घुसा। अभ्र बिना की वृष्टि की भांति उन मुनि को अचानक आया हुआ देखकर सुलसा ने उसको भक्ति से वंदना की एवं उनके आने का कारण पूछा। वह बोला– ''मुझे किसी वैद्य ने कहा है कि तुम्हारे घर में लक्षपाक तेल है, तो वह ग्लान साधु के लिए मुझे दो।'' मेरा लक्षपाक तेल साधु के उपयोग में आने से सफल होगा।' ऐसा बोलती हुई वह हर्ष से तेल का कुंभ लेने को चली। कुंभ लेकर आते समय देवता ने अपनी शक्ति से उसके हाथ में से उस तेल के कुंभ को गिरा दिया। तत्काल नीड़ में से पतित हुए अंडे की तरह वह फट् से फूट गया। तो सुलसा पुनः दूसरा तेल का कुंभ लाई, तो वह भी इसी प्रकार फूट गया। तथापि उसे किंचित्मात्र भी खेद नहीं हुआ। फिर वह तीसरा लेकर आई तो वह भी फूट गया, तो उसे चिंता हुई कि 'इन मुनि की याचना निष्फल होने से अवश्य ही मैं अल्प पुण्यवाली हूँ।' इस प्रकार उसके भाव देखकर वह देव अपना स्वरूप प्रगट करके बोला कि, ''हे भद्रे! इंद्र ने तेरे श्राविकापन की प्रशंसा की, जिससे विस्मित होकर मैं तेरी परीक्षा करने के लिए यहाँ आया था, तो अब मैं तुमसे संतुष्ट हुआ हूँ। इसलिए तू वर मांग यह सुनकर सुलसा बोली– ''हे देव! यदि आप संतुष्ट हुए हो तो मैं अपुत्र हूँ, अतः मुझे पुत्र दो। इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई इच्छा नहीं है। देव ने उसे बत्तीस गुटिका देकर कहा कि– ''अनुक्रम से इन गुटिकाओं का तू भक्षण करना जिससे जितनी ये गुटिकाएँ हैं, उतने ही तुझे पुत्र होंगे। अनघे! इसके अतिरिक्त भी पुनः भी जब तुझे प्रयोजन हो, तब मेरा स्मरण करना, मैं तुरंत ही आ जाऊंगा।'' ऐसा कहकर देव अंतर्धान हो गया।

(गा. 64 से 77)

देव के जाने के बाद सुलसा ने विचार किया कि 'अनुक्रम से इतनी सारी गुटिका खाने के बहुत से बालक होंगे, तो उनकी अशुचि को कौन चूंथे।

इसलिए मैं तो एक साथ ही सारी गुटिका खा लूं कि जिससे बत्तीस लक्षणवाला एह ही पुत्र हो।' इस प्रकार अपनी बुद्धि से विचार करके सुलसा सारी गुटिका एक साथ ही खा गई जैसी भवितव्यता थी वैसी उसकी बुद्धि हो गई। "अहो! भवितव्यता बलवान है। समकाल में बत्तीस गुटिका खाने से उसके उदर में बत्तीस गर्भ उत्पन्न हो गए। उसकी वृद्धि होने से अनेक फूल वाली वल्ली की भांति वह अनेक गर्भ सहन नहीं कर सकी। वह कुशोदरी व्रत तुल्य सार वाले गर्भ को सहन न कर सकने से कायोत्सर्ग में रहकर उस देव का स्मरण करते ही वह देव हाजिर हुआ और पूछा कि 'मुझे क्यों स्मरण किया? तब उसने उन गुटिकाओं की सर्व हकीकत कह सुनाई। देव बोला तुमने एक साथ सब गुटिका क्यों खाई? वे गुटिकाएँ अमोघ हैं। इससे तुझे उतने ही गर्भ धारण करने पड़ेंगे। भद्रे! सरल बुद्धि से तूने यह अच्छा नहीं किया। ऐसा करने से तुझे 32 पुत्र समान आयु वाले होंगे। हे महाभागे! अब खेद मत कर। क्योंकि भवितव्यता बलवान है। अब मैं तेरी गर्भ पीड़ा का हरण कर लेता हूँ। इसलिए स्वस्थ हो जा। "ऐसा कहकर वह देव सुलसा की गर्भ पीड़ा का हरण करके स्वस्थान पर चला गया। सुलसा स्वस्थ होने पर भी भूमि के समान गूढगर्भा हो गई।

(गा. 78 से 87)

गर्भसमय परिपूर्ण होने पर शुभ दिन में शुभ मुहूर्त में सुलसा ने बत्तीस लक्षणवाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। धायमाताओं से लालित होते हुए वे पुत्र अनुक्रम से विंध्यगिरि में हाथी के बच्चे के जैसे अखंडित मनोरथ से बड़े हुए। गृहलक्ष्मी रूपी पक्षी के क्रीड़ा वृक्ष जैसे वे बालक आंगन में रमत गमत करके शोभने लगे। नाग रथिक उन कुमारों को उत्संग में ले लेकर स्नेह से आनंदाश्रु से स्नान कराता था। पैरों पर, गोद में, स्कंधों पर और मस्तक पर चढ़ते और लिपटते उन कुमारों से नाग रथिक सिंह के शावकों से पर्वत के समान शोभता था। नाग रथिक के सर्व कुमार वय में समान थे, इससे वे सभी श्रेणिककुमार के अनुयायी अर्थात् अंगरक्षक हुए।

(गा. 88 से 93)

एक बार प्रसेनजित् राजा ने अपने पुत्रों की राज्ययोग्यता विषयक परीक्षा करने के लिए सबको एक साथ भोजन करने बिठाकर पायसान्न (खीर) के थाल उनके पास रखाये। जब वे कुमार भोजन करने के लिए प्रवृत्त हुए, तब

राजा ने उन पर व्याघ्र जैसे मुख फाड़ कर आते हुए श्वानों को छोड़ दिया। श्वानों के आते ही दूसरे सब कुमार तो शीघ्र ही उठकर भाग गये, परंतु बुद्धि के धाम रूप श्रेणिक कुमार अकेले ही वहाँ बैठे रहे। वह दूसरी थालियों में से थोड़ा-थोड़ा पायसान्न उन श्वानों को देने लगे जैसे ही वे श्वान उसे चाटने लगते कि स्वयं अपनी थाली में से पायसान्न खाने लगे। इस प्रकार उन्होंने छककर खाया। यह देखकर राजा खूब प्रसन्न हुआ। एवं विचार किया कि 'यह श्रेणिक कुमार किसी भी उपाय से शत्रु आदि को अवरुद्ध करके स्वयं पृथ्वी का भोग करेगा।

(गा. 94 से 98)

एक बार पुनः परीक्षा करने के लिए राजा ने सर्व कुमारों को एकत्रित करके मोदक से भरे करंडक और पानी से भरे घड़े मुदित (सील) करके दिये, और कहा कि 'इन करंडकों में से मुद्रा (सील) तोड़े बिना मोदक खाओ और घड़े में छिद्र किये बिना पानी पीओ।' श्रेणिक के बिना उनमें से कोई भी मोदक खाने और पानी पीने में समर्थ नहीं हुआ। ''बलवान् पुरुष भी बुद्धि साध्य कार्य में क्या कर सकते हैं? श्रेणिक ने उस करंडक को बारबार खूब हिलाकर अंदर मोदक का चूर्ण कर डाला, उसकी शलाकाओं के छिद्र में से खिरा खिरा कर खाया और घड़े नीचे रूपा की सीप रखकर घड़े में से झरते जल बिन्दु से भरकर पानी पिया। ''बुद्धिमान पुरुष को क्या दुःसाध्य है।'' इस प्रकार श्रेणिक की बुद्धि संपत्ति की परीक्षा करके कुशाग्र बुद्धिवाले राजा ने उसमें राज्य की योग्यता का निश्चय किया।

(गा. 95 से 104)

किसी समय कुशाग्रनगर में बारबार अग्नि का उपद्रव होने लगा। तब राजा प्रसेनजित् ने यह आघोषणा करवाई कि, ''इस नगर में जिसके घर में से आग लगेगी, उसे रोगी ऊँट की भांति नगर में से बाहर निकाल दिया जाएगा। एक दिन रसोईये के प्रमाद से राजा के महल में से ही अग्नि उत्पन्न हो गई। ''ब्राह्मण की तरह अग्नि भी किसी की नहीं होती।'' जब वह अग्नि बढ़ने लगी, तब राजा ने अपने कुंवरों को आज्ञा दी कि 'मेरे महल में से जो वस्तु जो कुमार ले जाएगा, वह उसके स्वाधीन होगी।' राजा की आज्ञा से अन्य सर्व कुमार अपनी रुचि के अनुसार हाथी, घोड़े तथा अन्य वस्तुएँ ले गये और श्रेणिक कुमार तो मात्र एक भंभा का वाद्य ही लेकर निकला। यह देखकर राजा ने पूछा

कि 'तूने' मात्र वाद्य ही क्यों लिया? श्रेणिक बोला– ''यह भंभावाद्य राजाओं का प्रथम जय चिह्न है। इसके शब्द से राजाओं को दिग्विजय में मंगल होता है इससे उनको इस वाद्य की प्रथम रक्षा करनी चाहिये।'' श्रेणिक कुमार की इस प्रकार का महेच्छत्व देखकर प्रसन्न होकर राजा ने उसका भंभासार ऐसा दूसरा नाम रखा। राजा प्रसेनजित् ने पहले प्रतिज्ञा पूर्वक कहा था कि जिसके घर में से अग्नि प्रज्वलित होगी उसे नगर में रहना नहीं, वह यह बात भूला नहीं था इससे उसने विचार किया कि 'यदि मैं प्रथम मेरे ऊपर मेरी आज्ञा का अमल नहीं करूं तो दूसरों पर शासन करना किस काम का?' इस विचार के अनुसार राजा ने परिवार सहित तुरंत ही कुशाग्रनगर छोड़ दिया एवं एक कोस दूर जाकर छावणी डालकर वहाँ रहे। फिर लोग वहाँ जाते समय परस्पर पूछते कि, 'तुम कहाँ जाते रहे हो? तब वे प्रत्युत्तर देते कि हम राजगृह (राजा के घर) में जा रहे हैं। इस पर राजा प्रसेनजीत ने वहाँ राजगृह नामक नगर बसाया और उसे खाई, किल्ला, चैत्य, महल और चौरे चौटे से अत्यन्त रमणीय बनाया।

(गा. 105 से 117)

'दूसरे कुमार अपने में राज्य की योग्यता मानते हैं, इससे श्रेणिक की राज्य योग्यता वे न जाने तो ठीक रहे' ऐसा सोचकर राजा ने श्रेणिक का अनादर किया और अन्य कुमारों को अलग अलग देश किये, जबकि श्रेणिक को कुछ भी नहीं दिया। कारण कि वह तो समझता था कि परिणाम स्वरूप यह राज्य श्रेणिक का ही है। परंतु इस प्रकार अपना अपमान होने से अभिमानी श्रेणिक वन में हाथी के बच्चे के समान नगर से बाहर निकल गया अनुक्रम से घूमता हुआ वेणातटपुर में आया।

(गा. 118 से 120)

वेणातट नगर में प्रवेश करके श्रेणिककुमार भद्र नाम के किसी श्रेष्ठी के दुकान पर मानो मूर्तिमान लाभोदय कर्म हो, वैसे बैठ गया। उस समय नगर में कोई बड़ा उत्सव हो रहा था, इस कारण लोग नवीन दिव्य वस्त्रालंकार और अंगराग धारण करके धूम रहे थे। उस प्रसंग के कारण सेठ की दुकान पर बहुत से ग्राहक भिन्न २ वस्तुएँ खरीदने के लिए आने से सेठ आकुल व्याकुल हो गए। परंतु श्रेणिक उनको जो जो वस्तु मांगते उन सबको पुडिया बांध बांध कर चालाकी से देने लगा। श्रेणिक कुमार के प्रयास से सेठ ने उस

दिन अत्यधिक द्रव्योपार्जन किया। ''पुण्यवान् पुरुषों के विदेश में भी लक्ष्मी साथ में आती है।'' पश्चात् श्रेष्ठि ने श्रेणिक से पूछा कि आज तुम किस पुण्यवान गृहस्थ के अतिथि बने हो?' श्रेणिक बोले– आपका ही अतिथि बना हूँ।' श्रेष्ठी के चित्त में विचार हुआ कि 'आज रात्रि में स्वप्न में मैंने नंदा पुत्री के योग्य वर को देखा था, वह साक्षात् यही होगा।' तब सेठ ने कहा कि 'मैं धन्य हुआ कि मेरे घर आपके जैसे अतिथि पधारे।' आज तो अकस्मात् आलसी के घर पर गंगाजी आ गये। सेठ ने दुकान बंद की और श्रेणिक को साथ लेकर अपने घर आये और श्रेणिक कुमार को स्नान करवाकर उत्तम वस्त्र पहना कर बहुत आदर से अपने साथ जिमाया।

(गा. 121 से 128)

इस प्रकार उस श्रेष्ठी के घर पर रहते हुए एक दिन सेठ ने श्रेणिक के पास मांग की कि 'मेरी इस नंदा नाम की पुत्री को तुम ग्रहण करो। श्रेणिक ने कहा, मेरा कुल जाने बिना आप पुत्री कैसे दे रहे हो?' श्रेष्ठी ने कहा, तम्हारे गुणों से ही तुम्हारा कुल मैंने जान लिया है। पश्चात् सेठ के अति आग्रह से लक्ष्मी जैसे विष्णु को परणते हैं, वैसे श्रेणिक नंदा को परणा। श्रेष्ठी के गृह में धवलमंगल प्रवर्तने लगा। उस वल्लभा के साथ विविध भोगों को भोगते हुए श्रेणिक निकुंज में गजेन्द्र के समान बहुत काल तक वहाँ रहा।

(गा. 129 से 132)

इधर राजा प्रसेनजित् को अचानक रोग की पीड़ा हो गई, इससे उन्होंने अत्यधिक खेदपूर्वक शीघ्र ही श्रेणिक की शोध के लिए अनेक सांढणियाँ भेजी। वे सांढ वाले व्यक्ति घूमते–घूमते वेणातट में आकर श्रेणिक को मिले। उनके पास से पिता को हुई पीड़ा की बात सुनी। नंदा को स्नेह से समझाकर सेठ की इजाजत लेकर श्रेणिक अकेले ही वहाँ से चल दिये। निकलते समय उसने 'जिस की उज्जवल दीवारें हैं, ऐसी राजगृही नगरी का मैं गोपाल (गो=पृथ्वी गोपाल = राजा) हूँ।'' ऐसे निमंत्रण मंत्र जैसे अक्षर उसको अर्पित किया। पश्चात् पिता को रोग से पीड़ित जानकर श्रेणिक सांढ पर चढ़कर जल्दी–जल्दी राजगृह नगर की ओर चल दिये और वहाँ पहुँचे। उसे आया देखकर प्रसेनजित् राजा अत्यन्त हर्षित हुआ। हर्ष के अश्रुजल के साथ सुवर्ण कलश के निर्मल जल से राज्य पर उसका अभिषेक किया। पश्चात् प्रसेनजित् राजा ने पार्श्वप्रभु का एवं पंच नमस्कार

मंत्र का स्मरण करके, चार शरण अंगीकार कर मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में गये। श्रेणिक ने संपूर्ण पृथ्वी का भार धारण किया।

(गा. 133 से 140)

इधर नंदा ने अति दुर्वह गर्भ धारण किया। उसे एकदा ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ कि 'मैं हाथी पर चढ़कर, विपुल समृद्धि से प्राणियों पर उपकार करके अभय दान दूँ।'' उसने पिता को इस बात की जानकारी दी। उसका दोहद पूर्ण किया। गर्भ समय परिपूर्ण होने पर सूर्य को पूर्व दिशा प्रसव करती है, उसी प्रकार उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया। दोहद का अनुसरण करने वाला मातामह (माता के पिता=नाना) ने शुभ दिन में उसका 'अभयकुमार' नामकरण किया। अनुक्रम से बड़ा होने पर, निर्दोष विद्या को पढ़ता हुआ, आठ वर्ष का हो गया। एक बार समानवय के किसी बालक के साथ कलह होने पर कोप से उसका तिरस्कार करते हुए उसने कहा कि, 'तू क्या बोलता है, तेरे पिता का तो ठिकाना नहीं है।' अभयकुमार ने कहा कि, 'मेरे पिता तो भद्र सेठ है।' उसने कहा कि 'वे तो तेरी माता के पिता है।' तब घर आकर अभय ने माता को पूछा कि 'माता! मेरे पिता कौन है? नंदा ने कहा, 'ये भद्र सेठ तेरे पिता है।' अभय बोला ये भद्र सेठ तो तुम्हारे पिता है, परंतु जो मेरे पिता हों, वे बताओ।' इस प्रकार पुत्र के कहने पर नंदा आनंदरहित होकर बोली कि– वत्स! किसी ने देशांतर से आकर मुझ से विवाह किया और तू गर्भ में था, तब कोई ऊँट वाले पुरुष आकर उनको ले गए। उन्होंने एकान्त में उनको कोई बात कही और फिर वे उनके साथ शीघ्र ही चल दिये। उसके पश्चात् अद्यापि पर्यन्त विदित नहीं हुआ कि वे कहाँ गये और कौन हैं? अभयकुमार ने कहा– उन्होंने जाते समय आपको कुछ कहा था? नंदा ने कहा, 'ऐसे अक्षर अर्पण किये है' ऐसा कहकर पत्र बताया। वह पढ़कर प्रसन्न होकर वह बोला कि– 'मेरे पिता तो राजगृह नगरी के राजा है, इसलिए चलो अभी ही अपन वहाँ चले।' तब भद्रसेठ की आज्ञा लेकर अभयकुमार सामग्री सहित नंदा को लेकर राजगृही नगर में आया। परिवार सहित अपनी माता को बाहर उद्यान में ठहरा कर, स्वयं कुछ लोगों के साथ नगर में गया।

(गा. 141 से 154)

इधर श्रेणिक राजा ने एक कम पांचसौ मंत्री एकत्रित किये थे और पाँच सौ पूर्ण करने के लिए कोई उत्कृष्ट पुरुष का शोधन कर रहा था। ऐसे बुद्धिमान

मनुष्य की परीक्षा के लिए राजा ने एक सूखे कुए में अपनी अंगूठी डालकर लोगों में घोषणा कराई कि 'जो कुए की मुंडेर पर खड़ा होकर इस कुए में से अंगूठी बाहर निकाल सकेगा, वह कुशल बुद्धिमान् पुरुष मेरे पांच सौ मंत्रियों में अग्रणी होगा। लोग तो कहने लगे कि 'हमारे से ऐसा कार्य होना अशक्य है। क्योंकि जो हाथों से आकाश में से तारे खींच सकता हो, वही यह मुद्रिका भी निकाल सकेगा। इतने में तो अभयकुमार हंसता हुआ वहाँ आया एवं बोला कि ' क्या यह अंगूठी नहीं ली जा सकती? इसमें कठिनाई क्या है? उसे देखकर लोग विचार में पड़ गए 'यह कोई अतिशय बुद्धिमान लगता है।' ''समय आने पर पुरुष के मुख का रंग ही उसके पराक्रम का कथन कर देता है।'' पश्चात् वे बोले कि 'कुमार! यह अंगूठी ले लो और इसके लिए की हुई अर्ध राज्यलक्ष्मी राजपुत्री और मंत्रियों की मुख्यता ग्रहण करो।'

(गा. 155 से 162)

अभयकुमार ने कुएं की मुंडेर पर खड़े होकर तुरंत ही एक आर्द्र गोमय (गीला गोबर) का पिंड उस कूएँ में रही मुद्रिका के उपर डाला और फिर उसके ऊपर जलता हुआ तृण का पूला डाला, जिससे वह गोमय शीघ्र ही शुष्क हो गया। पश्चात् नंदाकुमार (अभयकुमार) ने तुरंत ही पानी की एक नालिका से कुएं में पानी डलवा कर उसे पूर्ण भर दिया और लोगों को विस्मय से भर दिया। वह गोमय पानी पर तिरने लगा, तब उस चतुर बालक ने तुरंत ही हाथ से वह ले लिया और उस पर चिपकी वह अंगूठी निकाल ली। 'बुद्धिमान पुरुषों द्वारा प्रयोजित उपाय के समक्ष क्या दुष्कर है?''

(गा. 163 से 166)

रक्षकों ने आकर श्रेणिक को ये समाचार दिये, तो विस्मित होते हुए उन्होंने अभयकुमार को बुलाया एवं पुत्र की तरह उसका आलिंगन किया। ''स्वजन कभी देखा हुआ न हो तो भी उस पर दृष्टि पड़ते ही हृदय हर्ष धारण करता है। श्रेणिक राजा ने उसे पूछा कि ''तुम कहाँ से आ रहे हो?'' अभय ने कहा, 'मैं वेणातट नगर से आ रहा हूँ।' राजा ने पूछा, 'हे भद्रमुख! उस शहर में सुभद्र नामक एक प्रख्यात सेठ रहता है। उसकी नंदा नामकी एक पुत्री है, वह अच्छी तरह है? अभय ने कहाँ, हाँ! वह अच्छी तरह है। राजा ने पूछा, 'उस सेठ की पुत्री सगर्भा थी, उसे क्या अपत्य हुआ? यह सुनकर अभयकुमार ने

मनोहर दांत के श्रेणि से प्रकाश करते हुए कहा कि, 'हे देव! उस नंदा ने अभयकुमार नाम के एक पुत्र को जन्म दिया है।' तब 'वह कैसा रूपवान् और कैसा गुणवान् है ? इस प्रकार राजा ने पूछा तब अभय बोला, 'स्वामी! वही मैं अभयकुमार हूँ। यह सुनते ही राजा ने उसे स्नेह से आलिंगन करके, उत्संग मैं बैठा कर और मस्तक सूंघकर स्नेह से स्नान कराता हो वैसे नयन के अश्रुजल से सिंचन करने लगा। फिर पूछा कि, हे वत्स! तेरी माता कुशल है ना? तब अभयकुमार ने अंजलि जोड़कर इस प्रकार विज्ञप्ति की कि 'हे स्वामी! भ्रमरी की तरह आपके चरण कमल का स्मरण करती मेरी आयुष्यमती माता अभी इसी नगर के बाहर उद्यान में ही है। 'यह सुनकर अमंद आनंद पाते राजा ने नंदा को लाने के लिए अभयकुमार को आगे करके सर्व सामग्री वहाँ भेजी और फिर मन में अति उत्कण्ठित होकर कमलिनी के पास राजहंस के समान स्वयं भी नंदा के पास गये। राजा ने उद्यान में आकर आनंदयुक्त चित्त से नंदा को देखा। परंतु वियोग के दुःख से नंदा के कंकण भी शिथिल हो गये थे। कपोल पर केश लटक रहे थे। नेत्र अंजनविहीन थे। सिर का केशपाश छूट गया था, मलिन वस्त्र धारण किये हुए थे और शरीर की कृशता से दूज के चंद्र कला जैसी दिखाई दे रही थी। ऐसी दशा में नंदा को मिलकर, आनंदित होकर राजा नंदा को महल में लिवा लाए एवं सीता को राम के समान उसे पटरानी पद दिया। अभय कुमार को अपनी बहन सुसेना की पुत्री एवं सर्व मंत्रियों की मुख्यता एवं अर्ध राज्य दिया। पिता पर पूर्ण भक्ति से स्वयं को एक सेवक तुल्य मानकर अभयकुमार ने अल्प समय में अपनी बुद्धि द्वारा दुःसाध्य राजाओं को भी साध लिया।

(गा. 163 से 183)

वसुधा रूपी वधू के मुकुट में माणक जैसी एवं लक्ष्मी से विशाल ऐसी वैशाली नामकी विशाल नगरी थी। उसमें इंद्र के समान अखंड़ आज्ञावाला और शत्रु राजाओं को सेवक बनाने वाला चेटक राजा राज्य कर रहा था। उसके पृथा नामकी रानी से सात पुत्रियाँ हुई, जो कि राज्य के सात अंग की अधिष्ठायिका सात देवियों हो, ऐसी लगती थी। उनके प्रभावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चिल्लणा ये अनुक्रम से नाम थे। चेटक राजा श्रावक था एवं उसने अन्य के (अपने पुत्र, पुत्री का भी) विवाह करने की बाधा (सौगन्ध) ली थी।

इससे उसने किसी को भी अपनी कन्या दी नहीं। इस बाबत में वह उदासीन वृत्ति धरता था। तब कन्याओं की माता ने उदासीन राजा की येन केन प्रकारेण सम्मत्ति लेकर उनमें से पांच कन्याएं योग्य वर को दे दी। वीतभय नगर के राजा उदायन को प्रभावती दी। चंपापति दधिवाहन राजा को पद्मावती दी। कौशांबी के राजा शतानीक को मृगावती दी। उज्ञयिनी के राजा प्रद्योतन को शिवा दी। कुंडग्राम के अधिपति नंदीवर्धन राजा, जो कि वीर भगवंत के ज्येष्ट बंधु थे उनको ज्येष्टा दी। सुज्येष्टा और चिल्लणा ये दोनों कुमारी ही रही। ये दोनों परस्पर रूप श्री की उपमा स्वरूप थी। दिव्य आकृतिवाली और दिव्य वस्त्रालंकारों को धारण करती ये दोनों पुनर्वसु नक्षत्र के दो तारों की तरह सदैव अवियोगी (साथ के साथ) रहती थी। कला कलाप में कुशल और सर्व अर्थ की ज्ञाता वे दोनों मानों मूर्तिमान् सरस्वती हो, वैसे अंदर अंदर विद्या विनोद करती थी। दोनों साथ में देवपूजा करती, साथ ही धर्मश्रवण करती और एक स्वरूप वाली हो वैसे अन्य सर्व कार्य साथ ही करती थी।

(गा. 184 से 196)

एक वक्त कोई एक स्थविरा तापसी सुज्येष्ठा और चिल्लणा से अलंकृत ऐसे कन्याओं के अंतःपुर में आई। वहाँ उसने अज्ञानियों की सभा की भांति उनके समक्ष भी शौचमूल धर्म ही पाप का नाश करने वाला है, 'ऐसा गाल फुलाकर कहा। यह सुन सुज्येष्ठा बोली–''अरे! शौच जो कि अशुभ आश्रवरूप है और अशुभ आश्रव पाप का हेतु है, तो वह पाप का छेदन किस प्रकार का सकता है?'' इस प्रकार कहकर कूए में मेंढक आदि की युक्ति वाले दृष्टान्त से गुणों में ज्येष्ठ सुज्येष्ठा ने उसके शौचमूल धर्म का खंडन किया। पश्चात् मानो उसके मुख को मुद्रित किया हो, वैसे वह तापसी निरुत्तर हो गई। तब अंतःपुर की दासियाँ मुख मोड़ मोड़ कर उस पर हंसने लगी और अपनी स्वामिनी की जय से उन्मत्त हुई उन दासियों ने खूब कोलाहल किया और उसे कंठ से पकड़ कर निकाल दिया। वह तापसी लेने की अपेक्षा खो बैठी हो, वैसे पूजा के लिए जाने पर उल्टा अनर्थ को प्राप्त हुई। तापसी ने वहाँ से निकलते समय विचार किया कि, यह सुज्येष्ठा बहुत गर्वीली है, इसलिए इसे बहुत सी सपत्नियों में डाल कर दुःख का पात्र करूं।' ऐसा सोचकर सर्व कलाओं में चतुर उस तापसी ने पिंडस्थ ध्यान की लीला से सुज्येष्ठा का रूप मन में धारण करके एक पट पर आलेखित कर लिया।

(गा. 197 से 205)

सुज्येष्ठा का रूप आलेखन करके वह क्रूर तापसी त्वरा से राजगृह नगर में आई एवं राजा श्रेणिक को वह चित्र बताया। नेत्ररूप मृग की मृगजाल रूप चित्र–लिखित रमणी को देखकर राजगृहपति श्रेणिक अनुराग से उसका वर्णन करने लगा– "अहा! इस बाला का क्या मनोहर रूप है। मयूर का कलाप तो उसके केश पाश के दासत्व को पाता है, उसका मनोहर नेत्रवाला मुख जिसमें भ्रमर लीन हो वैसा कमल जैसा है, उसका कंडा शंख का अवलम्बन करता है, स्तनभूषित उरस्थल क्रीड़ा करते काकपक्षी वाले सरोवर के तुल्य है, नितंब धनुर्धर कामदेव के खेलने योग्य भूमि जैसे सविस्तर हैं। साथल अनुक्रम से वर्तुल होने से गजबंध के विलास को हरने वाले हैं। जंघा कमल के जैसी सरल और कोमल है और सरल जंघा वाले चरण ऊँचे नाल वाले कमल जैसे हैं। अहा! इस मृगाक्षी का अद्वैत सौंदर्य, उज्ज्वल लावण्य और दूसरा सब भी अत्यधिक रम्य हैं।" इस प्रकार वर्णन करने के पश्चात् उस पर मोहित हुए श्रेणिक ने तापसी को पूछा कि, हे महाभागे! स्त्रियों में श्रेष्ठ ऐसी इस स्त्री का चित्र आपने अपनी बुद्धि से आलेखित किया है या कोई स्त्री के रूप दर्शन से आलेखित किया है?"

(गा. 206 से 213)

तापसी बोली–"जैसा रूप मैंने देखा वैसा यथाशक्ति आलेखित किया है। हे राजा! जैसा इस चित्र में है, वैसा कभी दर्पण में हो सकता है?" प्रेम से मोहित हुआ राजा उस चित्रस्थ रूप को मानो आलिंगन करने या चुंबन करने को इच्छुक हो वैसा दिखाई देने लगा। पश्चात् वह बोलाकि, "हे भद्रे! मुक्तावली के समान यह बाला किस वंश में उत्पन्न हुई है? चंद्रलेखा के तुल्य यह फिलहाल किस नगरी को अलंकृत कर रही है? क्षीरसागर को लक्ष्मी की तरह किस धन्य पुरुष की यह पुत्री है? किन पवित्र अक्षरों में इसका नाम आया है? सरस्वती ने किस किस कला से उस पर अनुग्रह किया है? और किसी पुरुष के करों ने उसके कर को चुंबित किया है या नहीं? "तापसी बोली–"हे राजन! वैशाली नगरी के अधिपति और हैहयवंश में उत्पन्न हुए चेटक राजा की यह कुमारी है, यह सर्व कला का भंडार है और सुज्येष्ठा उसका नाम है। गुण और रूप की योग्यता से तुम ही इसे वरने के योग्य होने पर भी यदि इसका अन्य पति होगा तो आप तीसरे पुरुषार्थ (काम) से ठगे जाओगे। तब राजा श्रेणिक ने उस

तापसी को विदा करके और मानो पंख प्राप्त करके वैशाली नगर में जाना चाहता हो वैसे उसका स्मरण करता हुआ रहने लगा।

(गा. 214 से 222)

दूसरे ही दिन राजगृहपति श्रेणिक ने सुज्येष्ठा की प्रार्थना करने के लिए एक दूत को शिक्षा देकर चेटक राजा के पास भेजा। संदेश देने में चतुर ऐसा वह दूत सद्य ही विशाला में आकर चेटक राजा को नमन करके बोला कि—'हे राजन्! मेरे स्वामी मगधपति श्रेणिक आपकी कन्या सुज्येष्ठा की मांग कर रहे हैं। महान् पुरुषों को कन्या की मांग करना लज्जास्पद नहीं है।'' चेटक राजा बोले कि— ''अरे दूत! तेरे स्वामी स्वयं से ही अनजान लगता है कि जो वाही कुल में उत्पन्न होकर भी हैहयवँश की कन्या की इच्छा कर रहा है। समान कुल के वरकन्या का विवाह होना योग्य है। अन्य का नहीं। इसलिए मैं श्रेणिक को कन्या नहीं दूंगा। तू चला जा।'' दूत ने आकर यह सर्व वृतांत श्रेणिक राजा को कहा। इससे शत्रुओं से पराभव हुआ हो वैसे वह बहुत खेद को प्राप्त हुआ। उस समय अभयकुमार पिता के चरणकमल में भ्रमर रूप होकर खड़ा था, वह बोला कि, 'पिताजी! शोक मत करो, मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूंगा।'

(गा. 223 से 229)

तब कलाकलाप के सागर अभयकुमार ने घर जाकर एक पट्टिका पर मगधपति श्रेणिक का चित्र आलेखित किया और गुटिका से वर्ण तथा स्वर बदल कर वणिक का वेश बनाकर वैशाली नगरी में गया। वहाँ चेटक राजा के अंतःपुर के पास एक दुकान किराये से ली और अंतःपुर की दासियों को जो वस्तु लेने आती वह किफायत से देने लगा। साथ ही वे दासियाँ देख सके वैसे पट पर आलेखित श्रेणिक राजा की नित्य ही पूजा करने लगा। यह देख दासियों ने पूछा—'कि यह किसका चित्र है? तब उसने कहा कि, 'यह रूप श्रेणिक राजा कि जो मेरे देव तुल्य हैं, उनका है। श्रेणिक का दिव्य रूप दासियों को देखने में आया वैसा उन्होंने वर्णन करके सुज्येष्ठा को कहा। सुज्येष्ठा ने अपनी सखी जैसी जो सर्व से ज्येष्ट दासी थी, उसे आज्ञा दी कि 'उन श्रेणिक का चित्र मुझे शीघ्र ही लाकर दिखा, उसे देखने का मेरे मन में कौतुक है।' उस दासी ने अभयकुमार की दुकान पर आकर अत्याग्रह से उस चित्र को ले जाकर सुजेष्ठा को दिखाया। अत्यन्त सुन्दर चित्र को देखकर सुज्येष्ठा योगिनी की तरह नेत्रकमल को स्थिर

रखकर उसमें लीन हो गई। क्षणभर में वैसे ही रह कर एकान्त में जाकर उस सखी को कि जो उसके गुप्त अभिप्राय रूप सर्वस्व को रखने की निधान भूमि जैसे थी, उसे कहा कि, "सखी! जिसका यह सुंदर चित्र है, उसे मैं पति रूप में वरण करना चाहती हूँ।

(गा. 230 से 238)

उसके साथ जोड़ देने में मेरा विधि (विधाता) कौन होगा? यदि यह मनोहर युवा मेरा पति न हो तो मेरा हृदय पक्व चिभड़े की तरह द्विधा हो जाय, इसमें जरा भी संशय नहीं। इसलिए हे भद्रे! यहाँ क्या उपाय करना? वह कह। मुझे तो उपाय एक नजर आता है कि उनके रूप को पूजने वाले वणिक का शरण लेना। वही उपयुक्त लगता है। इसलिए हे यशस्विनी! हे मेरे कार्य धुरा को वहन करने वाली! तू शीघ्र ही जाकर उस वणिक् को प्रसन्न कर और लौटकर शीघ्र आकर उसका संदेशा मुझे कह। तेरा कल्याण हो।"

(गा. 239 से 242)

दासी ने दुकान पर आकर वणिक् रूप अभयकुमार को प्रर्थाना की। अभयकुमार ने कहा कि "मैं अल्प समय में ही तुम्हारी सखी का मनोरथ पूर्ण कर दूंगा। मैं एक सुरंग खुदवा कर उससे राजा श्रेणिक को यहाँ ले आऊंगा। उस समय जो रथ आवे, उसमें तुम्हारी सखी को शीघ्र ही उसमें बैठ जाने का। तुम्हारी स्वामिनी श्रेणिक को यहाँ आया देखकर इस चित्र में आलेखित रूप के साथ उसे पाकर हर्ष प्राप्त करेगी।" इस प्रकार कहने के बाद 'अमुक स्थान पर, अमुक दिन, एवं अमुक समय श्रेणिक राजा सुरंग द्वारा आयेंगे।' ऐसा निश्चित कर उसने मुख से संकेत किया। दासी उसी प्रकार सुज्येष्ठा को कह कर लौट कर आकर अभयकुमार को बोली कि– आप के वचन प्रमाण है।' तब वह अंतःपुर में पुनः चली गई। अभयकुमार ने दुकान समेटी और राजगृह नगर में जाकर पिता को उस संकेत की बात कह सुनाई और सुरंग बनवाने में तत्पर हो गया।

(गा. 243 से 248)

इधर सुज्येष्ठा ने जब से श्रेणिक राजा का चित्र देखा, तब से ही श्रेणिक राजा का ही स्मरण करती हुई काम के वशीभूत हो अरति प्राप्त करने लगी। ऐसे करते करते संकेत का निर्णय किया हुआ दिन आ गया, तब श्रेणिक राजा

सुलसा के बत्तीस पुत्रों के साथ सुरंग के द्वार के पास आया और सुलसा के पुत्रों को रथ सहित साथ में लेकर वैताढ्य की गुफा में चक्रवर्ती की तरह श्रेणिक राजा सुरंग में घुस गया। सुरंग के दूसरे द्वार पर निकले तब मगधपति ने सुजेष्ठा को देखा, उसका चित्र से मिलान हुआ देख हर्षित हुए। सुज्येष्ठा ने यह सर्व वृत्तांत सखीभाव से चिल्लणा को बताकर उससे इजाजत मांगी। तब चिल्लणा प्रतिज्ञा पूर्वक बोली कि, मैं तेरे बिना अकेली नहीं रहूँगी।' तब सुज्येष्ठा चिल्लणा को रथ में बिठा कर स्वयं शीघ्र ही रत्नकरंडक लेने गई। उस समय सुलसा के पुत्रों ने श्रेणिक राजा को कहा कि 'हे स्वामी! शत्रु के गृह में चिरकाल रहना उचित नहीं।' सुलसा के पुत्रों की प्रेरणा से राजा चिल्लणा को लेकर उस सुरंग के मार्ग से जैसा आया वैसा वापिस लौट गया। सुज्येष्ठा रत्नकरंडक लेकर आई, वहाँ तो बादलों से ढंके चंद्र के समान श्रेणिक को वहां नहीं देखा। इससे अपनी बहन का हरण हो गया और स्वयं का मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ, ऐसा जानकर उसने ऊंचे स्वर से चिल्लाना शुरु किया– अरे! दौड़ो! दौड़ो ! मैं लुट गई। मेरी बहन चिल्लणा का हरण हो गया। यह सुनते ही चेटक राजा तैयार हो गये। उनको तैयार हुआ देखकर वीरंगक नामक रथी ने कहा, स्वामी! मेरे होते हुए आपको आक्षेप करना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर वीरंगक युद्ध करने के लिए सज्ज होकर कन्या को वापिस लाने के लिए सुरंग के द्वार पर आया। वहाँ सुलसा के पुत्रों को जाते हुए देखकर महाबाहू वीरंगक ने उनको एक ही बाण से मार डाला। सुरंग संकड़ी होने से उनके रथों को वीरंगक एक ओर करने में रहा, इतने में तो मगधपति श्रेणिक दूर निकल गए। वीरंगक ने लौटकर सर्व वृत्तांत चेटक राजा को कहा। अपनी दुहिता के हरण से एवं उन बत्तीस रथिकों के मरण से चेटक राजा का मन एक साथ रोष और तोष से भर गया। यह हकीकत सुनकर सुज्येष्ठा ने चिंतन किया कि, अहो! विषय की लोलुपता को धिक्कार है। विषयसुख की इच्छा करने वाले मनुष्य इस प्रकार की विडंबना को पाते हैं। ऐसे विचार से संसार से विरक्त हुई सुज्येष्ठा ने चेटक राजा की अनुमति लेकर चंदना आर्या के पास दीक्षा ले ली।

(गा. 249 से 266)

इधर राजा श्रेणिक अपने रथ में बैठी चेल्लणा को सुज्येष्ठा मानकर 'हे सुज्येष्ठा, हे सुज्येष्ठा! इस प्रकार बोलने लगे। तब चेल्लणा ने कहा कि 'सुज्येष्ठा आई नहीं, मैं तो सुज्येष्ठा की छोटी बहन चिल्लणा हूँ। तब श्रेणिक बोला– हे

सुन्दर भृकुटि वाली स्त्री मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं गया, तू सुज्येष्ठा से कोई न्यून नहीं है।' चेल्लणा पति के लाभ से और बहन की ठगाई से एक साथ हर्ष और शोक से लिप्त हो गई। राजा श्रेणिक पवन जैसे वेगवान् रथ द्वारा शीघ्र ही अपने नगर में आए। यह समाचार सुन कर अभयकुमार भी शीघ्र ही उनके पास आया। श्रेणिक राजा ने गांधर्व विधि से चेल्लणा का पाणिग्रहण किया।

(गा. 267 से 271)

पश्चात् राजा ने नाग और सुलसा के पास जाकर उनके पुत्रों की मृत्यु के समाचार दिये। वे दंपत्ती राजा से पुत्रों का अमंगल सुनकर मुक्तकंठ से रुदन करते हुए विलाप करने लगे। अरे कृतांत! वास्तव में तू कृतांत ही है। तूने हमारे पुत्रों का एक साथ नाश क्यों किया? क्या वे सर्व एक साथ तुम्हारी सांकल में आ गये? पक्षियों के बहुत बच्चे होते हैं, परंतु उनकी अनुक्रम से मृत्यु होती है। कभी भी एक साथ नहीं मरते अथवा क्या परस्पर स्नेह के कारण वे सभी एक साथ मर गये? अथवा क्या हम दोनों को निःस्नेह जाना कि जिससे मृत्यु ने उनको हमारे पास से ठग लिया? इस प्रकार तारस्वर से रुदन करते हुए उनको श्रेणिक राजा के साथ आए अभयकुमार तत्त्ववेत्ता आचार्य की भांति, बोध करने लगे कि अरे महाशयों! जन्मधारी प्राणियों की मृत्यु तो प्रकृति है और जीवित विकृति है तो स्वभाव सिद्ध ऐसे बनाव में आपके जैसे विवेकी को खेद करना योग्य नहीं। इस प्रकार अभयकुमार ने उन दंपती को समझाया। फिर योग्य वचन कहकर श्रेणिक राजा अभयकुमार सहित राजमहल में आये।

(गा. 272 से 279)

मगधपति श्रेणिक, इंद्राणी के साथ इंद के तुल्य चेल्लणादेवी के साथ निर्विघ्न रूप से भोग भोगने लगे। वह औष्ट्रिका व्रत करनेवाला सेनक तापस जो व्यंतर हुआ था, वह व्यंतर आयुष्य पूर्ण करके, चेल्लणा की कुक्षि में पुत्ररूप से अवतीर्ण हुआ। उस गर्भ के दोष से चेल्लणा को पति का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ कि जो राक्षसी को भी नहीं होता। पतिभक्ति के कारण चेल्लणा उस दोहद के विषय में किसी को भी कह नहीं सकी। दोहद पूर्ण न होने से वह दिन के चंद्र तुल्य ग्लानि पाने लगी। ऐसे दुर्दोहद से गर्भ से विरक्त हुई चेलना पाप का अंगीकार करके उस गर्भ को गिराने का प्रयास करने लगी, परंतु वह गिरा भी नहीं। जल से रहित लता के समान चेलना को शरीर से अत्यन्त शुष्क हुई

देखकर राजा ने प्रेम सभर वाणी से उसका कारण पूछा– 'हे प्रिये! क्या मैंने कुछ तुम्हारा पराभव किया है? या किसी ने तुम्हारी आज्ञा खंडित की है? क्या तुम्हें कोई दुःस्वप्न आया है? अथवा क्या तुम्हारा कोई मनोरथ भग्न हुआ है? इस प्रकार राजा ने बहुत आग्रह से पूछा, तब मानो विषपान करती हो वैसे गद्गद् अक्षरों से उसने उसका वास्तविक कारण कह दिया। तब 'मैं तुम्हारा दोहद पूर्ण करूंगा' ऐसा प्रिया को आश्वासन देकर श्रेणिक राजा अभयकुमार के पास आए एवं सर्व हकीकत कह कर पूछा कि, 'यह दोहद किस प्रकार पूर्ण किया जाय?' अभय ने श्रेणिक राजा के उदर पर खरगोश का मांस बांधकर उसे चर्म से आच्छादित किया और फिर उसको सीधा ही सुलाया। श्रेणिक की आज्ञा से चेल्लणा राक्षसी की भांति एकान्त में उस मांस को अव्यग्ररूप से भक्षण करने लगी। जब वह मांस तोड़–तोड़ कर खा रही थी तब मानो नटविद्या का अभ्यासी हो वैसे राजा बारम्बार कृत्रिम रूप से मूर्च्छित हो रहा था। यह देखकर पति के दुःख का चिंतन करती हुई चेल्लणा का हृदय कंपायमान होता और गर्भ सम्बन्धित विचार करने पर वह क्षणभर में उल्लसित होती। इस प्रकार बुद्धि के प्रयोग से चेलना का दोहद पूर्ण हुआ। परंतु बाद में 'मैं पति का हनन करने वाली पापिनी हूँ।' ऐसा बोलती हुई वह मूर्च्छित हो गई। राजा ने चेल्लना की मूर्च्छा दूर करके अपना अक्षत शरीर बताया। उनके दर्शन करके सूर्य दर्शन से कमलिनी की भांति वह बहुत हर्षित हुई।

(गा. 280 से 294)

नव मास पूर्ण होने पर जैसे चंदन को मलयाचल की भूमि प्रसव करती है, वैसे उस चेटक कुमारी ने एक पुत्र को जन्म दिया। तत्काल ही चेल्लणा ने दासी को आज्ञा दी कि, 'यह बालक उसके पिता का वैरी है, इसलिए इस पापी को सर्प के बच्चे के जैसे दूर ले जाकर छोड़ दो। दासी उसे ले जाकर अशोक वन की भूमि में छोड़ आई। वहाँ उपपाद शय्या में उत्पन्न हुए देव के समान वह प्रकाश करता हुआ शोभने लगा। उस बालक को छोड़कर आती हुई दासी को देखकर राजा ने पूछा कि 'तू कहाँ गई थी?' तब दासी ने यथा तथ्य स्वरूप कह सुनाया। तुरंत ही राजा अशोकवन में गया और उस पुत्र को देखकर स्वामी के प्रसाद की तरह प्रीतिपूर्वक दोनों हाथों में ले लिया। पश्चात् उसे घर लाकर चेल्लणा से कहा कि, ''अरे! कुलीन और विवेकी होकर तूने ऐसा अकार्य क्यों किया? कि जो चंडाल भी करे नहीं। जो दुश्चारिणी अधर्मी या साक्षात् कर्कशा हो वह भी

अपने गोलक (पति के होते हुए पर पुरुष से उत्पन्न) या कुंड (पति की मृत्यु के पश्चात् पर पुरुष से उत्पन्न) जाति के पुत्रों को भी छोड़ नहीं देती।'' चेल्लणा बोली– ''हे नाथ! यह पुत्र रूप में आपका बैरी है, कारण कि इसके गर्भ में आते ही मुझे महा पापकारी दोहद उत्पन्न हुआ था, इसी कारण मैंने उसे जन्म होते ही छोड़ दिया था। क्योंकि पति का कुशल चाहने वाली स्त्रियाँ पुत्र हो या अन्य कोई हो, यदि वह पति को अहितकारी हो तो उससे क्या मतलब?'' तब श्रेणिक राजा ने कहा कि, यदि इस ज्येष्ठ पुत्र को ही तू छोड़ देगी तो मेरे अन्य पुत्र भी पानी के बुदबदे जैसे स्थिर नहीं रहेंगे। इस प्रकार पति की आज्ञा से यद्यपि इच्छा न होने पर भी सर्प की तरह स्तनपान कराकर पालन पोषण करने लगी।

(गा. 295 से 305)

चेल्लणा का वह पुत्र कांति में चंद्र के भांति था एवं अशोक वन में सर्वप्रथम दिखाई दिया था, इससे राजा ने उसका नाम अशोकचंद्र रखा। जब उसे वन में छोड़ा था, तब उसकी कनिष्ठिका अंगुली जो कि अशोक वृक्ष के दल जैसी कोमल थी, उसे कुकुडी (मुर्गी) ने खा डाली थी उसकी पीड़ा से रुदन करते हुए उस बालक की अंगुली रुधिर–पीप (मवाद) से व्याप्त थी, उसे राजा ने स्नेह से मुँह में डाली, तब वह बालक रोता हुआ बंद हो गया। अनुक्रम से कितनेक दिन में वह अंगुली का घाव भरा। परंतु वह अंगुली तो छोटी ही रही। इससे उसके साथ धूलिक्रीड़ा करनेवाले बालक उसे कूणक (छोटी अंगुली वाला) कहने लगे।

(गा. 306 से 309)

उसके पश्चात् चेल्लणा देवी के हृदय कमल में सूर्य रूप हल्ल और विहल्ल नाम के दो अन्य पुत्र हुए। चेल्लणा देवी के ये तीनों ही पुत्र बड़े हुए। तब मानों मूर्तिमान् प्रभुत्व, मंत्र और उत्साह ये तीन शक्ति हों, इस प्रकार नित्य राजा का अनुसरण करने वाले हुए। उनकी माता चेल्लणा पिता के द्वेषी कुणिक को गुड़ के लड्डू और हल्ल–विहल्ल को खांड के लड्डू हमेशा भेजती थी। पूर्व कर्म से दूषित वह कूणिक हमेशा मन में यह सोचता कि इस प्रकार का यह भेद श्रेणिक ही करते हैं। अनुक्रम से वह कुणिक मध्यम (यौवन) वय को प्राप्त हुआ। तब स्नेहवाले उन श्रेणिक ने बड़े उत्सव से उसका पद्मावती नामकी राजपुत्री के साथ विवाह किया।

(गा. 310 से 314)

श्रेणिक राजा की धारिणी नाम की रानी को गजेन्द्र के स्वप्न से सूचित गर्भ रहा। अन्यदा उसे मेघवृष्टि में भ्रमण करने का दोहद हुआ। राजा की आज्ञा से अभयकुमार ने देवता की आराधना करके वह दोहद पूर्ण किया। पूर्ण समय पर उसने मेघकुमार नाम के पुत्र को जन्म दिया।

(गा. 315 से 316)

पूर्व में एक ब्राह्मण ने यज्ञ प्रारंभ किया था। उसमें नौकर रहने हेतु एक दास को उसने पूछा। दास ने कहा कि 'यदि ब्राह्मणों के भोजन करने के पश्चात् बढ़ी हुई रसोई खाने को दो तो मैं रहूँ, अन्यथा नहीं रहूँ। ब्राह्मण ने वह बात स्वीकारी, तब वह दास यज्ञ के बाड़े में रहा। बाद में शेष बची रसोई में जो मिलता, वह सर्व वह दास हमेशा साधु मुनिराज को वहराने लगा। उसके प्रभाव से वह दास देवता का आयुष्य बंध करके देवलोक में गया एवं देवगति से च्यवकर वह श्रेणिकराजा का नंदीषेण नामक पुत्र हुआ। वह यज्ञ करने वाला ब्राह्मण का जीव अनेक योनियों में परिभ्रमण करने लगा।

(गा. 317 से 320)

इधर एक अरण्य में विशाल हस्ति यूथ में, बल में दिग्गज का कुमार हो, वैसा एक यूथपति हाथी था। वह 'कोई भी अन्य युवा हाथी इन हथिनियों का स्वामी (इच्छुक) न हो, ऐसी बुद्धि से अपनी जिस जिस हथिनी को बच्चे होते, उनको जन्मते ही मार डालता था।' उस यूथ की एक हथिनी के उदर में उस ब्राह्मण का जीव उत्पन्न हुआ। उस समय उस गर्भिणी हथिनी को विचार आया कि 'इस पापी यूथपति ने मेरे अनेक बच्चों को मार डाला है, तो अब मैं किसी भी उपाय से मेरे इस पुत्र की रक्षा करूंगी।' ऐसा निश्चय करके मानो वायु से उसका पैर रह गया हो, इस प्रकार वह हथिनी कपट से लूली लूली चलने लगी। फिर भी 'यह हथिनी अन्य यूथपति की भोग न बने' ऐसा सोचकर धीरे धीरे चलता हुआ वह यूथपति उसकी राह देखने लगा। अनुक्रम से वह इतनी मंदगति से चलने लगी कि अर्ध प्रहर, एक दिन, दो दिन में आकर यूथपति को मिलने लगी। 'यह बिचारी अशक्त है, इसलिए मुझे लंबे समय में मिलती हैं। ऐसा सोचकर उस हाथी के दिल में विश्वास बैठ गया।' ''मायावी से कौन ठगा जा सकता है।'' 'एक बार यूथपति के दूर जाने पर वह हथिनी सिर पर तृण का पूला लेकर तापस के आश्रम में आई और पैरों से स्खलित चलती उस

हथिनी को देखकर 'यह बिचारी हथिनी शरण की इच्छा रख रही है, 'ऐसा तापसों को ज्ञात हुआ।' तब 'हे वत्से! तू विश्वास रखकर स्वस्थ हो जा, इस प्रकार उन्होंने कहा। फिर वह पिता के घर की भांति उनके आश्रम में रही। अनुक्रम से जब उस हथिनी के पुत्र का प्रसव हुआ, तब वह उस पुत्र को तापसों के आश्रम में छोड़ कर स्वयं वापिस पहले के समान ही यूथ में विचरण करने लगी। किसी किसी समय बीच में गुप्त रीति से आ आकर वह अपने बाल कलभ को स्तनपान कराकर चली जाती। वह बाल गजकुमार आश्रम के वक्षों की तरह धीरे–धीरे बड़ा होने लगा। तापस पके हुए नीवार के ग्रास से और शल्लकी के कवल से अपने बालक की तरह उसका प्रेम से पोषण करते थे। वह गजकुमार क्रीड़ा करता हुआ अपने सूंढ से तपस्वियों को उत्संग में पालथी और मस्तक पर जटा मुकुट रचता था। पानी के घड़े भर भर कर आश्रम के वृक्षों का सिंचन करते हुए उन तापसों को देखकर वह कलभ भी अपनी सूंढ में जलभर भर कर वृक्षों का सिंचन करता था। इस प्रकार प्रतिदिन आश्रम के वृक्षों का सिंचन करने से उस कलभ का तापसों ने 'सेचनक' नाम रखा। अनुक्रम से उसकी सूंढ के साथ लगे दांत भी उत्पन्न हुए, नेत्र मधुपिंगल जैसे हुए, सूंढ भूमि का स्पर्श करने लगी। पीठ उन्नत हो गई, कुंभस्थल ऊंचा हो गया, ग्रीवा लघु हो गई, वेणुक (पृष्ठ भाग) क्रम से नम गया, सूंढ से पूंछ किंचित् ही कम रही और वह बीस नखों से शोभने लगा। साथ ही पिछले भाग में नीचे एवं गात्र के भाग में ऊंचा हो गया। इस प्रकार वह हाथी के सर्व लक्षणों से संयुक्त हुआ। अनुक्रम से उसके मुख के ऊपर मद भी झरने लगा।

(गा. 321 से 340)

एक बार वह सेचनक नदी के तीर पर पानी पीने गया। वहां वह यूथपति उसे दिखाई दिया। उसके साथ युद्ध करके उस सेचनक ने उसे मार डाला एवं स्वयं सर्व यूथ का पति हुआ। बाद में उसने विचार किया कि 'जैसे मेरी माता ने मुझे कपट से तापसों के आश्रम में गुप्त रखा और वहाँ वृद्धि प्राप्त करके मेरे पिता को जैसे मैंने मार डाला, वैसे ही आश्रम में कोई दूसरा हस्ति भी वृद्धि प्राप्त करके वैसा कर सकता है। इसलिए ये आश्रम ही नहीं रहने चाहिये। ऐसा विचार करके उसने तट को ही नदी भग्न कर दे वैसे उन सभी आश्रमों को उसका स्थान भी न ज्ञात हो, उस प्रकार तोड़ डाला। पश्चात् 'यह दुरात्मा हस्ति अपने को कोई भी आश्रम में सुख से रहने नहीं देगा, ऐसा सोचकर उन तापसों

ने जाकर श्रेणिक राजा को कहा कि 'एक हाथी सर्व लक्षणों से युक्त होने से राजा के योग्य है, आप अपने व्यक्ति भेजें तो बता दें।' तत्काल श्रेणिक राजा व्यक्तियों को साथ ले जाकर उस हाथी को पकड़ कर बांध लिया एवं अपने दरबार में ले आए। "राजा गण सेना के अंग को बढ़ाने में कौतुकी होते हैं" ऐसे असह्य बलवाले हाथी को भी राजा ने बलात्कार बांध लिया। जल से अभेद्य न होने की भांति मनुष्यों को क्या असाध्य है।" उस सेचनक के पैरों में सांकल डाली नहीं थी, तो भी वह क्रोध से मानो चित्रस्थ हो वैसे सूंढ, पूंछ और कान स्थिर करके रहा था। इतने में 'सद्भाग्य से अपने आश्रमों का कुशल हुआ।' ऐसा विचार करके प्रसन्न होते हुए वे तापस वहाँ आकर उस बद्ध हाथी का तिरस्कार करने लगे कि– "अरे दुष्ट! हमने तुझे लालित, पालित करके पोषण करके बड़ा किया, वहीं पर तू उल्टी अग्नि की तरह अपने ही स्थान का घात करने वाला हुआ। अरे दुर्मति! अरे बल से उन्मत्त! तूने जो हमारे आश्रमों को तोड़ा उसी कर्म का यह तुझे बंधन रूप फल मिला है। ऐसे तापसों के वचनों का सुनकर हाथी ने सोचा कि "अवश्य ही इन तपस्वियों ने ही कोई उपाय की रचना करके मुझे इस दशा को प्राप्त कराया है?" उसने तत्काल ही क्रोध से कदली स्तंभ की तरह आलानस्तंभ को तोड़ डाला और कमल के वीस तंतु तरह तड़तडाट बंधन तोड़ डाले, फिर वहाँ से छूट कर क्रोध से नेत्र और मुख को लाल करके भ्रमर की तरह उन तापसों को दूर फेंक दिया और स्वयं अरण्य की तरफ दौड़ा।

(गा. 341 से 354)

श्रेणिक राजा अश्वारूढ हुए पुत्रों को लेकर उस हाथी के पीछे दौड़े एवं मृगया में प्राप्त हुए मृग के समान उसे चारों ओर से घेर लिया। वह मदोन्मत्त गजेन्द्र मानो व्यंतर ग्रस्त हुआ हो, वैसे महावनों के प्रलोभन या तिरस्कार को गिनता ही नहीं था। परंतु नंदीषेण को देख, उसके वचनों को सुनकर वह शांत हो गया। उसी समय अवधिज्ञान से (जातिस्मरण संभव है) अपना पूर्व भव जान लिया। नंदीषेण तुरंत ही उसके पास आकर, उसकी कक्षा का आलंबन करके दांत के ऊपर पैर रखकर उस पर आरुढ़ हो गया एवं उसके कुंभस्थल पर तीन बार मुष्ठि से प्रहार किया। नंदीषेण के वचन से दंतघात आदि क्रिया करते हुए वह हाथी मानो शिक्षित हो वैसे बंधस्थान पर आगया। पश्चात् श्रेणिक ने उस हाथी को पट्टा दिया अर्थात् अपना पट्टहस्ति निर्धारित किया एवं युवराज

की तरह अपना प्रीतिपात्र किया। श्रेणिक राजा की कुलीन पत्नियों से अन्य भी 'काल' आदि बहुत से पराक्रमी पुत्र हुए।

(गा. 355 से 361)

श्री वीरप्रभु भव्य प्राणियों को प्रतिबोध करने के लिए विहार करते हुए सुर असुरों के परिवार के साथ राजगृही नगरी में आए। वहाँ गुणशील चैत्य में देवताओं द्वारा निर्मित चैत्यवृक्ष से सुशोभित समवसरण में प्रभु ने प्रवेश किया। वीरप्रभु समवसरे ऐसा सुनकर श्रेणिक राजा पुत्र सहित विशाल समृद्धि से वंदन करने आए। प्रभु को प्रदक्षिणा देकर, नमन करके भक्तिमान् श्रेणिक राजा स्तुति करने लगे। "हे त्राता! जगत को जीतने वाले आपके अन्य गुण तो एक तरफ रहें, परंतु मात्र उदात्त शांत ऐसी मुद्रा ने ही इस तीन जगत को जीत लिया है। इससे मेरु तृण समान और समुद्र गड्ढे समान हो गया। सर्व महानों में से महान ऐसे आपको जिन पापियों ने छोड़ दिया है, उनके हाथ में चिंतामणि रत्न पतित हो गया है और जिन अज्ञानियों ने आपके शासन के सर्वस्व को स्वाधीन किया नहीं, उन्होंने अमृत प्राप्त करके भी उसे वृथा कर दिया है। जो आप पर भी गुच्छाकार (वक्र) दृष्टि धारण करता है, उसे साक्षात् अग्नि की शरण ही प्राप्त होती है। इस विषय में अधिक क्या कहूँ? जो आपके शासन रूप परिणाम की विकलता ही होती है। जो आपके शासन की अन्य के शासन की तुलना करते हैं, वे हतात्माएं अमृत और विष को समान गिनते हैं। जो आपके शासन से मत्सरता धारण करते हैं, वे गूंगे और बहरे हो जाते हैं। क्योंकि पापकर्म से शुभ परिणाम की विकलता होती है। जो आपके शासनरूप अमृत रस से हमेशा अपनी आत्मा को सिंचन करता है, उनको मेरी प्रणामांजलि है और हम उनकी उपासना करते हैं। जिनके मस्तक पर आपके चरणनख की किरण चिरकाल चूड़ामणि रूप हो जाती है, उस भूमि को भी नमस्कार है। इससे अधिक मैं क्या कहूँ? मैं धन्य हूँ, सफल जन्मा हूँ और कृतार्थ हुआ हूँ कि जो आपके गुणग्राम की रमणीयता में लम्पट रहा हूँ।

(गा. 362 से 374)

इस प्रकार स्तुति करके श्रेणिक राजा के विराम लेने के पश्चात् श्री वीरप्रभु ने अमृतवृष्टि जैसी धर्म देशना दी। प्रभु की देशना सुनकर श्रेणिक राजा ने समकित का आश्रय किया एवं अभयकुमार आदि ने श्रावकधर्म अंगीकार

किया। देशना के अंत में प्रभु को प्रणाम करके प्रभु की वाणी से प्रसन्न हुए पुत्रों के साथ श्रेणिक स्वस्थानक पर गए।

(गा. 375 से 377)

श्रेणिक राजा के राजभवन में जाने के पश्चात् उनके मेघकुमार नाम के पुत्र ने उनको तथा धारिणी देवी को भक्ति से अंजलीबद्ध होकर उदार वचन से विज्ञप्ति करी कि 'आपने मेरा चिरकाल तक लालन पालन किया है, मैं केवल आपको श्रम देनेवाला हुआ हूँ। तथापि इतनी विशेष प्रार्थना कर रहा हूँ कि मैं इस अनंतदुःखदायी संसार से चकित हो गया हूँ और उस संसार के तारक श्री वीरप्रभु स्वयमेव यहाँ पधारे हैं, तो आप मुझे आज्ञा दो, कि जिससे मैं संसारभीरु के शरणरूप श्री वीर प्रभु के चरणों में जाकर दीक्षा ले लूं।'' श्रेणिक और धारिणी पुत्र के इन वचनों को सुनकर बोले कि– ''पुत्र! यह व्रत कोई सरल नहीं, तू कोमलांग होने से उनका पालन किस प्रकार कर सकेगा ?''

(गा. 378 से 383)

मेघकुमार बोला– ''हे पूज्य! मैं सुकुमार हूँ, फिर भी संसार से भयभीत होने से उन दुष्कर व्रतों को अंगीकार करूँगा। इसलिए मुझ पर प्रसन्न होंवे। हे माता–पिता! जो मृत्यु मातपिता को उत्संग में से भी खींच लेती है, उस मृत्यु को प्रभु के चरणों का अनुसरण करने से छल करके उसको ठग लूंगा।'' श्रेणिक बोले– ''वत्स! यद्यपि तू संसार से उद्विग्न हुआ है, तथापि मेरे राज्य को एक बार ग्रहण कर और मेरी दृष्टि को शांति प्रदान कर।'' मेघ ने वैसा करना स्वीकार कर लिया। तब राजा ने महा–महोत्सव से उसे राज्य सिंहासन पर आसीन किया। इसके पश्चात राजा ने हर्ष के आवेश से पूछा कि अब मैं दूसरा तेरे लिए क्या करूँ ? मेघकुमार बोला– 'पिताजी! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हों तो दीक्षा ग्रहण करने के इच्छुक मुझे कुत्रिक (सब वस्तु मिले वैसी दुकान) दुकान से रजोहरण और पात्रादिक मंगवा दो। राजा अपने ही वचनों से बंध गया था। इससे उसे दुःखी मन से भी वैसा करना पड़ा। पश्चात् मेघकुमार ने प्रभु के पास जाकर दीक्षा अंगीकार की।

(गा. 384 से 388)

पहली ही रात में मेघकुमार मुनि छोटे बड़े के क्रम से अंत में संथारे पर सो रहे थे, इससे बाहर जाते आते मुनियों के चरण बार बार उनके शरीर से

टकराते। इससे उनको विचार आया कि "वैभव रहित होने से ये मुनि मुझे पैरों से संघट्ट करते जा रहे हैं। क्योंकि "सर्वत्र वैभव की ही पूजा होती है।" इसलिए प्रातः प्रभु की आज्ञा लेकर व्रत को छोड़ दूंगा।" ऐसा विचार करते करते उन्होंनें बड़ी मुश्किल से रात्रि व्यतीत की। प्रातः काल में व्रत छोड़ने की इच्छा से वे प्रभु के पास गये। सर्वज्ञप्रभु केवलज्ञान द्वारा उनके भाव जानकर बोले कि– "अरे मेघकुमार! संयम के भार से भग्न चित्त वाला हुआ तू अपने पूर्व भव को क्यों नहीं याद करता? सुन! इस भव से तीसरे भव में तू वैताढ्यगिरि पर मेरुप्रभ नामक हाथी था। एक बार वन में दावानल लगने से तृषार्त होकर तू सरोवर में पानी पीने हेतु गया। वहाँ तू दलदल में फंस गया। इससे निर्बल हुआ जान कर तेरे शत्रु हस्ति ने आकर दंतादि के बहुत प्रहार किये। इससे सातवें दिन मृत्यु प्राप्त कर उसी नामका तू विंध्याचल में हाथी हुआ। एक बार जंगल में दावानल लगा देखकर जातिस्मरण ज्ञान होने से तृण वृक्ष आदि का उन्मूलन करके यूथ की रक्षा के लिए तुमने नदी के किनारे तीन स्थंडिल किये। किसी समय पुनः दावानल लगा देखकर तू उन स्थंडिल की तरफ दौड़ा। वहाँ मृग आदि जानवरों ने आ आकर पहले से ही दो स्थंडिल को भर चुके थे। इससे तू तीसरे स्थंडिल में गया। वहाँ रहते हुए तूने शरीर पर खुजली करने के लिए एक पैर ऊँचा किया। इतने में परस्पर 'प्राणियों के संमर्दन से ठसाठस भरे उस स्थंडिल में से एक खरगोश उस पैर की जगह आ कर खड़ा हो गया। पैर वापिस रखते समय उसे दयापूर्ण हृदय वाले तूने जैसे मद से खड़ा रहे वैसे वह पैर ऊंचा रखकर तीन पैरों से खड़ा रहा। ढाई दिन में दावानल शांत हो जाने पर वे खरगोश आदि प्राणी अपने अपने स्थान पर चले गये। क्षुधा और तृषा से पीड़ित तू भी पानी के लिए जैसे ही दौड़ने लगा कि तीन दिन तक तीन पैरों से खड़े होने की वजह से चौथा पैर अकड़ गया और तू पृथ्वी पर गिर पड़ा। क्षुधा और तृषा के दुःख से तीसरे दिन तेरी मृत्यु हो गई। परंतु खरगोश पर की हुई दया के पुण्य से तू राजपुत्र हुआ है और मुश्किल से तुझे मनुष्य भव प्राप्त हुआ है। तो तू उसे व्यर्थ क्यों गंवा रहा है। एक खरगोश की रक्षा केलिए तूने इतना कष्ट सहन किया, तो अब साधुओं के चरण संघट्टन से इतना खेद क्यों कर रहा है? एक जीव को अभयदान देने से तुझे इतना फल प्राप्त हुआ है, उसका अच्छी तरह से पालन कर और इस भवसागर को तिर जा, "क्योंकि उसे पार उतरने में समर्थ मनुष्य जीवन को इस लोक में पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है।"

(गा. 389 से 405)

प्रभु की वाणी से मेघकुमार मुनि व्रत में स्थिर हुए। उन्होंने रात्रि में हुए गलत विचार का मिथ्यादुष्कृत किया एवं विविध तप करना प्रारंभ किया। इस प्रकार सुचारु रूप से व्रत पालकर मृत्यु के पश्चात् वे विजय नामक विमान में देवता हुए। वहाँ से च्यवकर महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

(गा. 406 से 407)

एक दिन प्रभु की देशना से प्रतिबोध को प्राप्त कर नंदीषेण ने व्रत लेने की इच्छा से श्रेणिक राजा से अनुमति मांगी। पिता की सम्मति मिल जाने पर वह व्रत लेने की इच्छा से घर से बाहर निकला। वहाँ किसी देवता ने अंतरिक्ष में रहकर कहा कि ''वत्स! तू व्रत लेने को उत्सुक क्यों हो रहा है? अभी तेरे चारित्र को आवरण करने वाले भोगकर्म बाकी है। उस कर्म का क्षय हो जाय वहाँ तक थोड़ा समय गृह में ही वास कर, वे कर्म क्षय हो जाय तब तू दीक्षा लेना। मतलब कि अकाल में की गई क्रिया फलीभूत नहीं होती।'' यह सुनकर नंदीषेण ने कहा कि 'साधुत्व में निमग्न हुए मुझे चारित्र में आवरण करने वाला कर्म क्या पर सकने वाला है? इस प्रकार कहकर वह प्रभु के पास आए। प्रभु ने भी उसे रोका, तथापि उसने उतावल करके प्रभु के चरणकमल में दीक्षा ग्रहण कर ली। पश्चात् छट्ठ, अट्ठम आदि तपश्चरण करके वे नंदीषेण मुनि प्रभु के साथ गांव, आकर और पुर आदि में विहार करने लगे। वे गुरु के पास बैठकर सूत्र और सूत्र के अर्थ को नित्य विचारने लगे और परीषह सहन कर रहे थे। भोग्यकर्म के उदय से बलात्कार से हुई भोग की इच्छा का निरोध करने के लिए वे तपस्या से अपने शरीर को अधिक कृश कर रहे थे। इंद्रियों के विकारों का पराभव करने के लिए प्रतिदिन स्मशान आदि भूमि में जाकर घोर आतापना लेते थे। जब विकार बलात्कार ही उठते तब व्रतभंग से कायर होकर इंद्रियों का शोषण करने वे स्वयमेव उसे बंद करने में प्रवृत होते थे। व्रत लेते हुए रोकने वाले देवता उसके बंधन को छेद डालता। तब शस्त्र द्वारा मृत्यु प्राप्त करने की कोशिश करते थे। परंतु देवता उनके शस्त्र को कुंठित कर देता था और साथ ही मरने की इच्छा से जहर खाते उस विष के वीर्य को देवता हरण कर लेते और यदि अग्नि में घुसते तो अग्नि को शीतल कर डालते थे। यदि किसी समय पर्वत के ऊपर से झंपापात करते तो देवता उनको झेल लेते और कहते कि 'हे नंदीषेण! मेरे वचन क्यों नहीं याद करते? अरे दुराग्रही! तीर्थंकर भी भोग्यफल

कर्म को भोगे बिना उसे टालने में समर्थ नहीं हो सकते। तो तुम प्रतिदिन वृथा प्रयत्न किसलिए कर रहे हो ? इस प्रकार देवता ने उसे बारबार कहा, तो भी वह माना नहीं।'

(गा. 407 से 429)

किसी समय एकाकी विहार करने वाले नंदीषेण मुनि छट्ठ का पारणा करने के लिए भिक्षा लेने के लिए निकले। अनाभोग के दोष से प्रेरित होकर वे एक वेश्या के घर में घुसे। वहाँ जाकर उन्होंने धर्मलाभ दिया। तब 'मुझे तो केवल अर्थ का लाभ हो, धर्म के लाभ की मुझे कोई जरूरत नहीं है।' इस प्रकार हास्य करती हुई विकार युक्त चित्तवाली वेश्या बोली। उस समय 'यह बिचारी क्यों मुझ पर हँसती है ? ऐसा विचार करके मुनि ने एक तृण खींचकर लब्धि द्वारा रत्नों का ढेर कर दिया। तब 'यह ले अर्थ का लाभ' ऐसा कहते हुए उसके घर से मुनि बाहर निकले। वेश्या संभ्रमि सहित उनके पीछे दौड़कर कहने लगी कि, ''हे प्राणनाथ! ऐसा दुष्कृत व्रत छोड़ दो और मेरे साथ भोग भोगो, अन्यथा मैं मेरे प्राणों का त्याग कर दूंगी। इस प्रकार बारबार करी हुई विनती से नंदीषेण मुनि व्रत त्यागने के दोषों को जानते हुए भोग्य कर्म के वश होकर उनके कथन को स्वीकार किया। परंतु साथ में ऐसी प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैं प्रतिदिन दस अथवा उससे अधिक मनुष्य को प्रतिबोध न करूं तो मुझे पुनः दीक्षा लेनी।'

(गा. 424 से 430)

तब मुनिलिंग को छोड़ कर नंदीषेण वेश्या के घर पर रहे और उस देवता की तथा वीरप्रभु की दीक्षा अटकाने वाली वाणी को बार बार याद करने लगे। वहाँ रहकर निरंतर वेश्या के साथ भोगों को भोगने लगे। साथ ही प्रतिदिन दस भव्य जनों को प्रतिबोध करके दीक्षा के लिए प्रभु के पास भेजने लगे। एक समय भोगकर्मफल क्षीण होने से नंदीषेण नव मनुष्यों को तो प्रतिबोधित किया, परंतु दसवां एक सोनी था, जो किसी भी प्रकार प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हुआ। उसे बोध करने में अधिक समय रुकने से वेश्या रसोई बनाकर बारम्बार बुलाने के लिए मनुष्यों को भेजने लगी। परंतु अपना अभिग्रह पूर्ण न होने से भोजन करने के लिए उठे नहीं एवं आदरपूर्वक विविध वाणी की युक्ति उस सोनी को प्रतिबोध देने लगे। अंत में वेश्या स्वयं आई और कहने लगी कि, 'हे स्वामी!

मैंने पहले रसोई बनाई वह तो ठर कर विरस हो गई और अब पुनः रसोई तैयार की है, तो अब विलम्ब किसलिए कर रहे हो? नंदीषेण बोले कि 'मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार यह दसवां व्यक्ति प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए अब मैं दसवां होकर दीक्षा ग्रहण करूंगा।'

(गा. 431 से 437)

इस प्रकार स्वयं ने जितना भोग्यकर्म था, वह भोग लिया, ऐसा वेश्या को बताकर वहाँ से निकले गये और प्रभु के पास आकर पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली।

(गा. 438)

ये महात्मा नंदीषेण मुनि अपने दुष्कृत्य की आलोचना करके श्री वीर जिनेन्द्र के साथ विहार करते हुए एवं तीक्ष्ण व्रत को पालते हुए काल करके देवता हुए।

(गा. 439)

दशमपर्व में श्रेणिक को सम्यक्त्व लाभ मेघकुमार,
नंदीषेण प्रव्रज्या वर्णन नाम का षष्टः सर्गः

सप्तम सर्ग

चेल्लणा के योग्य एक स्तंभ प्रासाद का निर्माण, आम्रफल का हरण, श्रेणिक का किया विद्याग्रहण, दुर्गन्धा और आर्द्रकुमार कथा

चेल्लणा के साथ जलक्रीडादिक से रमत गमत करते श्रेणिक मानो प्रेमसूत्र से उसका मन पिरोया हुआ हो ऐसा दिखाई देता था। वह स्वयं के कर के कांसकी (कंघी) करके प्रतिदिन एकांत में चेल्लणादेवी के केशपाश को संवारता रहता था। अपने हाथ से गुंथी हुई सुंदर पुष्पमालाओं से बालबंधक सेवक की तरह वह उसके केशपाश को बांधता था। स्वयं द्वारा घिसे कस्तूरी द्रव्य से उसके गाल पर चित्रकार की तरह विचित्र पत्रवल्ली आलेखित करता था और हमेशा आसन पर बैठते, शयन करते, भोजन करते या अन्य कोई भी कार्य करते एक नाजर की तरह उसका पार्श्व छोड़ता ही नहीं था।

(गा. 1 से 5)

अन्यदा (दीन दुःखी को) भयंकर शिशिर ऋतु आई। हिम के भार को वहन करनेवाला वनदाहक उत्तरदिशा का पवन चलने लगा। श्रीमंत लोग सिगड़ी पास में रखकर और केशर का विलेपन करके गर्भगृह में रहकर काल निर्गमन करने लगे। उस समय निर्धन लोगों के बालक वस्त्र रहित होकर हाथी दांत जैसे खुले हाथ करके कांपते हुए गृहद्वार पर दंतवीणा बजा रहे थे। युवा पुरुष लोग रात्रि में स्वभाव से उष्ण ऐसे प्रिया के उरोजो से अपने करकमल को दूर नहीं करते थे, उस समय वे कर तुंबिका पर रहे हुए वीणादंड जैसा दिखाई देता था। ऐसे समय में सर्व अतिशय में सम्पूर्ण और सुर असुरों से सेवित ज्ञातनंदन श्री वीरप्रभु वहाँ समवसरे। यह समाचार सुनकर श्रेणिक राजा अपराह्न काल में (दोपहर)में चेल्लणा देवी के साथ वंदन करने के लिए आये। श्री वीरअर्हन्त को वंदन करके वे वापिस लौटने लगे। मार्ग में उन्होंने किसी जलाशय के पास एक प्रतिमाधारी मुनि को देखा। उत्तरीय वस्त्र से रहित शीत

परीषह को सहन करते उन मुनि को उन्होंने शीघ्र ही वाहन से नीचे उतरकर वंदन किया। पश्चात् धर्म संबंधी चर्चा करके श्रेणिकराजा पत्नि सहित उन मुनि को भक्तिपूर्वक वंदन करके अपने महल में आये।

(गा. 6 से 14)

सायंकाल के योग्य सर्व क्रियाएं सम्पन्न करके राजा अगरु कर्पूर के घूप से अंधकारित ऐसे वासगृह में गया। चेल्लणा देवी ने जिसकी भुजलता का तकिया किया है, ऐसा वह उसकी छाती पर हाथ रखकर सो गया। चेल्लना उरोजो को नीचे करके गाढ आलिंगन से रानी को भी निद्रा आ गई। गाढ़ निद्रा आने से चेल्लणा का करपल्लव आच्छादन (रजाई) आदि में से बाहर निकल गया। 'अक्सर निद्रा आलिंगन को छुड़ा देती है।' बिच्छू के कांटे की तरह दुःसह शीत का उसके कर को स्पर्श हुआ। उसकी वेदना से चेल्लणा तुरंत ही जागृत हो गई। ठंड की पीड़ा से सीत्कार करती हुई उसने राजा के हृदय में मन की तरह अपने हाथ को आच्छादन के अंदर स्थापित किया। उस समय उत्तरीय वस्त्र रहित उन प्रतिमाधारी मुनि का उसको स्मरण हुआ। इससे वह बोल उठी कि 'अहो! ऐसी ठंडी में उनका क्या हुआ होगा?' ऐसा बोलने के पश्चात् पुनः इस सरल हृदया चेल्लणा को निद्रा आ गई। महान् हृदयवाले मनुष्यों को प्रायः निद्रा दासी की तरह वश्य होती है।'' चेल्लणा के सीत्कार से अल्पनिद्रा वाला राजा जाग गया था। वह उसके पूर्वोक्त वचन सुनकर चित्त में विचार करने लगा कि, अवश्य ही इसके मन में कोई अन्य पुरुष रमण करने की इच्छा कर रहा है, कि जिसके लिए ऐसी कड़कडाती शीत की पीड़ा की संभावना से अभी यह सोच रही है। ''ऐसे विचार से ईर्ष्या से व्याकुल हुए श्रेणिक राजा ने शेष सर्व रात्रि जागृत रहकर व्यतीत की।'' ''स्त्री पर प्रीति रखने वाला कोई भी सचेतन पुरुष कभी ईर्ष्या बिना नहीं होता।''

(गा. 15 से 25)

प्रातःकाल में चेल्लणा को अंतःपुर में जाने की आज्ञा करके प्रचंड शासन वाले श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर इस प्रकार कहा कि ''हे वत्स! मेरे अंतःपुर को जला डाल। इसमें तू जरा भी माता का मोह रखना नहीं।'' इस प्रकार अभय को आज्ञा देकर अद्भुत लक्ष्मी द्वारा विराजमान श्रेणिक राजा अर्हन्त श्री वीरप्रभु को वंदन करने के लिए गये। अभयकुमार पिता की आज्ञा

से भयभीत हो गया। परंतु वह स्वभाव से विचारपूर्वक कार्य करने वाला था। इससे वह धीमान् अपने मन में विचार करने लगा कि 'मेरी सर्व माताएँ स्वभाव से ही महासतियाँ है। और मैं तो उनका रक्षक हूँ। फिर भी पिता की आज्ञा आ गई तो पिता को संभवित लगा, वह मैं असंभवित कैसे कर दूँ? फिर पिता का कोप नदी के कोप जैसा असह्य है। तथापि कुछ भी विचित्र बहाना निकालकर कालक्षेप करने से राजा कोप निवृत्त होना संभव है। ऐसा विचार करके चतुर अभयकुमार ने अंतःपुर के पास स्थित हाथी खाने की जीर्ण कुटियों को जला दी और 'अंतःपुर' दग्ध किया' ऐसी आघोषणा सर्वत्र प्रवृत्त की।

(गा. 26 से 33)

इधर श्रेणिक राजा ने श्री वीरप्रभु को अवसर देखकर पूछा कि, "हे प्रभु! चेल्लणा एक पतिवाली है, या अनेक पतिवाली है।' प्रभु ने फरमाया– हे राजन्। तेरी धर्मपत्नि चेल्लणा महासती है एवं शील अलंकार से शोभित है। इसलिए इस स्त्री पर किसी भी प्रकार की शंका लाना नहीं।' इस प्रकार प्रभु के वचन सुनकर पश्चात्ताप करते हुए श्रेणिक राजा तत्काल प्रभु को नमस्कार करके अपने नगर की तरफ दौड़े। इधर अग्नि जलाकर अभयकुमार उनके सामने आ रहा था। उसे राजा ने पूछा कि क्या तूने मेरी आज्ञानुसार कर दिया? तब अभय ने निर्भय होकर अंजलीबद्ध करके कहा– "हे स्वामी! आपकी आज्ञा अन्य को भी प्रमाणभूत है, तो क्यों न हो? राजा बोले– अरे पापी! अपनी माताओं को जला कर तू यद्यपि कैसे जी रहा है? तू अग्नि में क्यों नहीं गिरा?" अभय कुमार बोला, "तात! अर्हन्त के वचनों को श्रवण करने वाला मुझे पतंग की भांति मरना योग्य नहीं। मैं तो समय आने पर व्रत ग्रहण करूँगा एवं उस समय वीरप्रभु की आज्ञा ऐसी होगी तो मैं पतंग की तरह मृत्यु भी प्राप्त कर लूंगा, इसमें जरा भी संशय रखना नहीं। राजा के कहा कि, "अरे! मेरे वचन से भी तूने ऐसा अकार्य कैसे किया? ऐसा कहकर मानो विषपान किया हो वैसे राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। अभयकुमार शीतल जल से राजा का सिंचन करने लगा। जब श्रेणिकराजा स्वस्थ हुए तब अभय ने कहा कि, 'हे प्रभु! अंतःपुर में तो कुशलता है, किसी दुर्भाग्य के योग से आपने मेरी माताओं पर अवकृपा करके उनका निग्रह करने की मुझे आज्ञा दी, परंतु मैंने वैसा नहीं किया। यह मेरा अपराध हुआ है। पिताजी! उसके

बदले मैंने अंतःपुर के समीपस्थ हाथियों की जीर्ण पर्णकुटियों को जलाडाला है। आपकी आज्ञा भी मैं बिना विचारे करूं, ऐसा नहीं हूँ।'

(गा. 34 से 45)

राजा उन वचनों को सुनकर हर्ष से बोला कि "हे वत्स! वस्तुतः तू ही मेरा पुत्र है और बुद्धिसंपन्न है, कि जिससे मुझ पर आया यह कलंक तूने बुद्धि द्वारा दूर कर डाला।" श्रेणिक महाराजा ने पारितोषिक द्वारा अभयकुमार को संतुष्ट करके चेल्लणा देवी के दर्शन के लिए उत्सुक होकर शीघ्र ही उसके गृह में गये और नये नये प्रीतिभाव से लक्ष्मी के साथ कृष्ण की तरह चेल्लणा के साथ प्रतिदिन क्रीड़ा करने लगे।

(गा. 46 से 48)

एक बार श्रेणिक राजा ने विचार किया कि चेल्लणा देवी मुझे सर्व स्त्रियों की अपेक्षा अधिक प्रिय है, तो अन्य रानियों से उस पर क्या विशेष प्रासाद करूँ? उसके लिए मैं एकस्तंभवाला प्रासाद कराउ कि उसमें रह कर विमान में रही खेचरी के तुल्य वह स्वेच्छा से क्रीड़ा कर सके।' ऐसा निश्चय करके श्रेणिक ने अभयकुमार को तुरंत ही वैसे स्तंभ योग्य काष्ट लाने के लिए सूत्रधार को आज्ञा दी। तब वर्द्धकी (सुथार) तदनुरूप काष्ट लेने के लिए अरण्य में गया। अटवी में देखते देखते सर्व लक्षणो से युक्त एक वृक्ष उसे दिखाई दिया। उसने विचार किया कि 'सघन छाया वाला गगनचुम्बी अनेकों पुष्पों और फलों से युक्त एवं बड़ी बड़ी शाखा वाला यह वृक्ष सामान्य नहीं लगता। जैसा तैसा भी स्थान देव बिना नहीं होता तो यह भी प्रगट दैवतवाला मालूम देता है। इसलिए प्रथम मैं इस वृक्ष के अधिष्ठायक देवता को तपस्या से आराधूं कि जिससे इसका छेदन करने के पश्चात् मुझे या मेरे स्वामी को दुःख न हो।' वर्द्धकी ने भक्तिपूर्वक उपवास करके गंध, धूप, माल्यादि वस्तुओं से उस वृक्ष को अधिवासित किया। उस समय उस वृक्ष के आश्रित रहे हुए व्यंतर देवता ने अपने आश्रय की रक्षा के लिए और उसके अर्थ की सिद्धि के लिए अभयकुमार के पास आकर कहा कि, 'तू मेरे आश्रयभूत वृक्ष का छेदन मत करा, इस वर्द्धकी को यह काम करते रोक दो। मैं एक स्तंभवाला प्रासाद बना दूंगा। साथ ही उसके चारों ओर सर्व ऋतुओं से मंडित तथा सर्व वनस्पतियों से सुशेभित नंदनवन जैसा एक उद्यान भी बना दूंगा।' इस प्रकार उस व्यंतर

के कहने से अभयकुमार ने उस वर्द्धकी को वन में से तुरंत ही बुला लिया और अपना वांछित सिद्ध हो गया, ऐसा कहा। व्यंतर ने अपनी कबूलता के अनुसार एक स्तंभवाला महल और उद्यान बना दिया। 'वाणी से बद्ध देवतालोग सेवकों से भी अधिक होते हैं।' सर्व ऋतुओं के वन से मंडित उस एक स्तंभी प्रासाद को अभयकुमार ने श्रेणिकराजा को बताया। राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि– 'वत्स! मुझे तो मात्र एक स्तंभवाले महल की इच्छा थी, उसमें ये सर्व ऋतुवाला वन हो गया, यह तो दूध का पान करते उसमें मिश्री पड़ने जैसा हुआ।' मगधपति ने चेल्लणा को उस प्रासाद में रखी जिससे लक्ष्मी देवी द्वारा पद्महृद के समान वह प्रासाद उससे अलंकृत हो गया। वहाँ रहकर चेल्लणा सर्व पुष्पों की माला अपने हाथों से गूंथकर सर्वज्ञ प्रभु की पूजा करने लगी। साथ ही उन सुगन्धित पुष्पों से गूंथी हुई मालाओं से सैरंध्री की भांति अपने पति के केशपाश को भी भरने लगी। इस प्रकार हमेशा श्री वीतराग प्रभु के लिए और पति के लिए पुष्पों को धर्म तथा काम में सफल करती थी। सदा पुष्पवाले और सदा फलवाले उस उपवन में मूर्त्तिमान वनदेवी की भांति चेल्लणा सदा पति के साथ क्रीड़ा करती थी।

(गा. 49 से 69)

उस नगर में एक विद्यासिद्ध मातंगपति रहता था। उसकी पत्नि को एक बार आम्रफल खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। इससे उसने पति को कहा कि–' हे नाथ! मुझे आम्रफल लाकर मेरे दोहद को पूरा कर दो।' वह बोला– 'अरे मूढ स्त्री! अकाल में आम्रफल कहाँ हो सकता है? स्त्री के कहा 'नाथ! आज भी चेल्लणा रानी के उद्यान में आम्रवृक्ष प्रफुल्लित है।' यह सुनकर मातंगपति चेल्लणा के समीप में आया। वहाँ आम्रवृक्ष सदा फलित थे, परंतु वे बहुत ऊँचे थे। तब वह रात में आकर नक्षत्रों को जैसे ज्योतिष देखता है, वैसे वे भूमिपर पड़े हुए आम्रफलों को देखने लगा। क्षणमात्र में विद्यासिद्ध चंडाल उस अवनामिनी विद्या से आम्रशाखा को नमाकर स्वेच्छा से आम्रफल तोड़कर ग्रहण किये। प्रातः काल में रानी चेलया ने तोड़े हुए आम्रफल वाली उस वाटिका को भ्रष्ट चित्रों वाली चित्रशाला की तरह अप्रीति देती हुई देखी। रानी ने यह बात राजा को कही। राजा ने अभय को बुलाकर आज्ञा दी कि 'जिसके पैरों का संचार दिखाई भी न दे, ऐसे आम्रफल के चोर की शोध कर लेना। हे वत्स!

जिस चोर की ऐसी अमानुषी शक्ति है, वह अंतःपुर में भी प्रवेश कर सकता है। अभयकुमार बोला– 'हे देव! मैं थोड़े समय में जैसे उसे बताने में जमानती होंऊ वैसे उस चोर को पकड़कर आपको सौंप दूंगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके अभयकुमार उस दिन से ही उस चोर को ढूंढने के लिए सम्पूर्ण नगर में रात–दिन घूमने लगा।

(गा. 70 से 80)

एक वक्त प्राज्ञ अभयकुमार नगर में घूमता घूमता किसी स्थान पर नगरजन संगीत (नाटक) करा रहे थे, वहाँ गया। नगरजनों ने उसे आसन दिया। उस पर बैठकर अभयकुमार बोला– 'हे नगरजनों! जब तक संगीत करने वाले नट नहीं आते, तब तक मैं एक कहानी कहता हूँ, सुनो–बसंतपुर में जीर्ण श्रेष्ठी नामका एक अति निर्धन सेठ रहता था। उसकी एक कन्या थी। वह वर के लिए बड़ी उम्र की हो गई थी। उत्तम वर प्राप्त करने के लिए कामदेव की पूजा करने के लिए यह बाला किसी उद्यान में से प्रतिदिन चोरी करके पुष्प चूंट कर लाती थी। एक बार 'मैं इस पुष्पों के चोर को पकड़ूँ' ऐसा सोचकर वह उद्यानपालक शिकारी की तरह स्थिर होकर वहाँ छुप गया। वह बाला पूर्व की भांति विश्वास से चुपचाप पुष्प चूंटने लगी। उसे अति रूपवंती देखकर उद्यानपालक कामातुर हो गया। इससे शीघ्र ही उसे कांपते कांपते पकड़ लिया। सद्य पुष्प की चोरी का कोप भूल कर वह बोला कि हे उत्तमवर्णवाली! मैं तेरे साथ रतिक्रीड़ा करना चाहता हूँ। इसलिए मेरे साथ क्रीड़ा कर। इसके सिवा मैं तुझे छोड़ूंगा नहीं। मैंने तुझे पुष्पों से ही खरीद ली है। वह बोली 'अरे माली! मुझे तू कर से स्पर्श करना मत। मैं कुंवारी हूँ, इसलिए अद्यापि पुरुष के स्पर्श के योग्य नहीं हूँ, आरामिक बोला कि– ऐसा है तो हे बाला! तू यह कबूल कर कि विवाह के पश्चात् इस शरीर को प्रथम मेरे संभोग का पात्र करना। उसने वैसा करना स्वीकार किया। तब उद्यानपालज ने उसे छोड़ दी। वह भी अपनी कौमारवय को अक्षत रखकर अपने घर आ गई। किसी समय कोई उत्तम पति के साथ वह परणी। रात्रि में जब वह वासगृह में गई तब उसने पति से कहा कि, 'हे आर्यपुत्र! मैंने एक माली से पहले प्रतिज्ञा की है कि विवाह के पश्चात् पहले उसके साथ संग करना।' मैं उसके साथ वचन से बंधी हुई हूँ। इसलिए मुझे आज्ञा दो कि मैं उसके पास जा आऊं। एक बार उसके पास जा आने के पश्चात् तो मैं सदा आपके ही आधीन ही रहूँगी। उसके ऐसे वचन

सुनकर 'अहो! यह बाला कैसी शुद्ध हृदय वाली और प्रतिज्ञा पालन करने वाली है।' ऐसे विस्मय से उसके पति ने उसे जाने की आज्ञा दी। तो वह सद्य वासगृह में से बाहर निकली।

(गा. 81 से 92)

विचित्र रत्नाभरणों को धारण करके वह सत्यवचनी बाला मार्ग में जा रही थी। इतने में कुछ धन के इच्छुक पापी चोरों ने उसे रोका। उनके पास भी उसने उस माली की कथा कह सुनाई। और बोली कि– हे भाईयों! मैं जब वापिस आऊं, तब तुम खशी से मेरे आभूषण ले लेना। उसको स्वभाव से सत्य प्रतिज्ञावाली जानकर 'अपन उसे वापिस आते समय लूंट लेंगे।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने उसे छोड़ दी। आगे जाने पर क्षुधा से कृश उदरवाले एवं मनुष्य रूप मृग का बैरी ऐसे एक राक्षस ने उस मृगाक्षी को रोका। उसने भी उसे वापिस आते समय उसका भक्षण करने की मांग की। उसका सत्य स्वभाव जानकर वह विस्मित हुआ और वापिस लौटते समय उसका भक्षण करूंगा इस आशा से उसे छोड़ दिया। पश्चात् वह युवती उस उद्यान में आई और उद्यानपालक को जगाकर कहा कि 'मैं वह पुष्प को चोरनेवाली कन्या हूँ, जो कि नवोढा होकर मेरे वचनानुसार तुम्हारे पास आई हूँ।' यह सुनकर 'अहो! यह वास्तव में सत्य प्रतिज्ञावाली महासती है।' ऐसा जानकर उसने माता के समान नमन करके माली ने उसे इजाजत दे दी। वहाँ से वह घूमती हुई जहाँ वह राक्षस था, वहाँ वह आई और माली के साथ जो बनाव बना वह यथार्थ रूप से राक्षस को कह सुनाया। यह सुनकर क्या मैं माली से भी हीन हूँ? ऐसा विचार करके उसे स्वामिनी की तरह प्रणाम करके छोड दिया। तब वह उन चोरों के पास आकर बोली कि, हे भाईयों! तुम मेरा सर्वस्व लूट लो, ये मैं हाजिर हो गई हूँ। तब जैसे माली और राक्षस ने उसे छोड़ दिया, वह सब वृत्तांत कह सुनाया। तब वे बोले कि हम भी कोई माली, और राक्षस से हीन नहीं है, इसलिए हे भद्रे! तू चली जा, तू तो हमारी वंदन करने योग्य बहन है।' इस प्रकार सबने जब छोड़ दिया, तब वह निर्विघ्न होकर घर आई। उस उत्तम बाला ने चोर, राक्षस और माली की कथा अपने पति के समक्ष यथार्थ रूप से कह सुनाई। यह सुनकर हर्षित हुए पति ने उसके साथ सम्पूर्ण रात्रि भोगसुख व्यतिक्रम करके और प्रातः काल उसे अपने सर्वस्व की स्वामिनी करी।''

(गा. 93 से 109)

अभयकुमार इस प्रकार कथा कहकर बोला कि– 'हे लोगों! विचार करके बोलो कि, इन सर्व में दुष्कर कार्य करने वाला कौन है ? उसका पति, चोर, राक्षस या माली ? यह बताओ। तब उन लोगों में जो कि स्त्री के ईर्ष्यालु थे, वे बोल उठे कि ''सर्व में उसका पति दुष्कर कार्य करने वाला है कि जिसने अपनी अनंगलग्न नवोढा को अन्य पुरुष के पास भेजा।'' क्षुधातुर लोग बोल उठे कि ''सर्व से दुष्कर कार्य करने वाला राक्षस है, कि जिसने क्षुधातुर होने पर भी प्राप्त हुई उस बाला को छोड़ दी। जारपुरुष बोले कि ''सर्व में दुष्कर कार्य करने वाला माली है कि जिसने रात्रि में स्वयमेव आई ऐसी युवा रमणी को भोगी नहीं।'' अंत में वह चोर भी वहाँ खड़ा था, वह भी बोला कि 'सबसे दुष्कर कार्य करने वाला तो वह है कि जो सुवर्ण से भरपूर उस बाला को लूंटे बिना छोड़ दिया।'' तब अभयकुमार ने उसे चोर जानकर पकड़ लिया और पूछा कि 'तूने आम्रफल की चोरी किस प्रकार की ?' चोर ने कहा कि 'विद्या के बल से।' अभयकुमार ने सर्व वृत्तांत राजा को कहा और चोर को लाकर सौंप दिया। श्रेणिक ने कहा कि 'कोई अन्य चोर हो तो भी उसकी उपेक्षा होती नहीं है तो वह चोर तो शक्तिमान है, इसलिए इसका तो निःसंदेह निग्रह करना है। अभयकुमार ने निष्कपट रूप से विज्ञप्ति की कि हे देव! इसके पास से विद्या प्राप्त करके पीछे जो युक्त हो वह करना। तब मगधपति श्रेणिक राजा ने उस मातंगपति को अपने सम्मुख बैठा कर उसके मुख विद्या पढ़ना प्रारंभ किया। परंतु स्वयं सिंहासन पर बैठ कर विद्या ग्रहण करने से गुरु के अबहुमान के कारण ऊँचे स्थल पर जल की तरह राजा के हृदय में विद्या स्थिर हो सकी नहीं। तब राजगृहपति श्रेणिक ने उस चोर को तिरस्कार पूर्वक कहा कि, तुझ में कुछ कूड कपट है, अतः तेरी कही विद्या मेरे हृदय में संक्रमित होती नहीं है। उस समय अभयकुमार ने कहा कि, हे देव! अभी यह तुम्हारा विद्यागुरु है और जो गुरु का विनय करे उसे ही विद्या स्फुरमान होती है। अन्यथास्फुरती नहीं है। इससे इस मातंगपति को आपके सिंहासन पर बिठाओ और आप अंजली बद्ध होकर उसके सामने पृथ्वी पर बैठो तो विद्या आएगी।' विद्या के अर्थी राजा के इस प्रमाण किया। क्योंकि 'नीचे से भी सही पर उत्तम से विद्या ग्रहण करनी चाहिए।'' यह प्रख्यात नीति है। तब राजा ने उसके मुख से उन्नामिनी और अवनामिनी दो विद्या सुनी, तब दर्पण में प्रतिबिंब की तरह

वह तुरंत ही राजा के हृदय में बस गई। अभय ने अंजली बद्ध होकर राजा को विनति करके विद्यागुरुपने को प्राप्त उस चोर को छुड़वा दिया।

(गा. 110 से 125)

किसी समय ज्ञातनंदन श्री वीरप्रभु राजगृह में समवसरे! यह सुनकर राजा श्रेणिक भूमि पर स्थित इंद्र हो वैसे बड़े आडम्बर से उनको वंदन करने के लिए चले। उस समय गजेन्द्रों के घंटों की टंकार से वह दिशाओं को परिपूर्ण कर रहा था। हेषारव से परस्पर वार्ता कर रहे हों और वाह्याली रूप रंगभूमि में नट की तरह अश्वों से भूमितल को आच्छादित कर रहा था। आकाश में से उतरते मेघ मंडल की शोभा का अनुसरण करते मयूर रूपी छत्रों से उनकी सेना शोभती थी। वाहन के नृत्य की अपेक्षा अश्व की स्पर्धा से उसका रत्नमय ताडंक नाच रहा था। वह मानो उनके आसन के साथ ही उत्पन्न हुआ हो, वैसा दृष्टिगत हो रहा था। सिर पर पूर्णिमा के चंद्र जैसा श्वेत छत्र धारण किया था, गंगा और यमुना जैसे चंवरों को वारांगना ढुला रही थी और सुवर्ण के अलंकारों को धारण करके भाट चारण उनकी विरुदावली गा रहे थे।

(गा. 126 से 132)

उस समय मार्ग में चलते हुए जन्मते ही तुरंत जिसका त्याग कर दिया हो, ऐसी एक बालिका सैनिकों को दिखाई दी। परंतु मानो नरक का अंश आया हो, वैसे उसके शरीर में से अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही थी। उस दुर्गन्ध को सहन न कर सकने के कारण सायंकाल में सभी ने अपनी नासिका को ढंक कर बंद कर ली। श्रेणिक ने वैसा देखकर पूछा कि 'क्या है?' तब परिजनों ने जन्मते ही तुरंत छोड़ी हुई उस दुर्गन्धा को बताया। राजा श्रेणिक सदैव अरिहंत के मुखारविन्द से बाहर प्रकार की भावना का श्रवण करते थे, इससे उसे किंचित्मात्र भी जुगुप्सा न आई और तुरंत ही उस बाला को देख कर आगे बढ़ गये। समवसरण में आकर प्रभु को वंदन करके योग्य अवसर पर उस दुर्गन्धा की कथा पूछी।

(गा. 133 से 137)

प्रभु ने फरमाया कि "तुम्हारे समीपस्थ प्रदेश में शाली नामक गांव में धनमित्र नामक एक श्रेष्ठी रहता था। उसके घन श्री नामकी एक पुत्री हुई। किसी समय श्रेष्ठी ने उन साधुओं को प्रतिलाभित करने के लिए धन श्री को

आज्ञा दी। शुभाचरण वाली वह बाला पिता की आज्ञानुसार तत्काल ही उन मुनियों को प्रतिलाभित करने में प्रवृत्त हुई। उस समय पसीने से जिनके अंग तथा वस्त्र मलिन हो रहे थे, ऐसे उन मुनियों को वहराते समय उनके मल की दुर्गन्ध धन श्री को आई। इस पर सुगन्धित और निर्मल वस्त्राभूषण धारण करने वाली, अंगराग से लिप्त एवं शृंगार से मोहित वह बाला सोचने लगी कि, अरिहंत प्रभु ने जो धर्म प्ररूपित किया है, वह पूर्णरूपेण निर्दोष है। परंतु यदि इसमें प्रासुक जल से भी स्नान करने की मुनियों को आज्ञा दी होती तो उसमें क्या दोष था? इस प्रकार मुनियों के मल के दुर्गन्ध से ही हुई जुगुप्सा द्वारा बांधे दुष्कर्म की आलोचना या प्रतिक्रमण किये बिना मृत्यु के पश्चात् हे राजन्! उस कर्म से वह बाला राजगृह नगर में रहने वाली एक वेश्या के गर्भ में आई। गर्भस्थ ही वह बाला उसकी माता को अत्यन्त अरति देने लगी। इससे उस वेश्या ने गर्भपात की अनेक औषधियों का सेवन किया, तथापि वह गर्भ गिरा नहीं। 'कर्म के बल के समक्ष औषध की क्या हस्ति है?' अनुक्रम से उस वेश्या ने एक पुत्री को जन्म दिया। वह पूर्व के कर्म के कारण जन्म से ही अति दुर्गन्धा थी। वेश्या ने स्वयं के उदर से जन्म होने के बावजूद भी उसने विष्टा के समान उसको त्याग दी। हे राजन्! वही दुर्गन्धा तुमको दिखाई दी थी।''

(गा. 138 से 147)

श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया कि, 'हे प्रभु! अब वह बाला किस प्रकार के सुख दुःख का अनुभव करेगी? प्रभु ने फरमाया कि 'धन श्री ने सब दुःख तो भोग लिया है, परंतु वह सुखी कैसे होगी, वह सुनो। यह आठ वर्ष की उम्र में ही तेरी पट्टरानी होगी। उसकी प्रतीति के लिए मैं एक निशानी बताता हूँ कि, 'हे राजन्! अंतःपुर में क्रीड़ा करते हुए तुम्हारे पृष्ठ भाग पर चढ़कर जो हंस की लीला करे, उसे यह दुर्गन्धा है, जान लेना। प्रभु की ऐसी वाणी सुनकर 'अहो! यह महद् आश्चर्य है। यह बाला मेरी पत्नि किस प्रकार होगी?' ऐसी चिंता करता हुआ वह राजा प्रभु को नमन करके अपने स्थान पर गया।

(गा. 148 से 152)

इधर पूर्व कर्म की निर्जरा हो जाने से दुर्गन्धा की गंध चली गई। इतने में कोई वंध्या अभिरीणी ने उसको देखा, तब पुत्री रूप में उसे ग्रहण कर ली।

अनुक्रम से उसे आभीरिणी ने अपने उदरजात की भांति उसका पालन पोषण किया, फलस्वरूप वह रूपलावण्य से शोभित युवती हो गई।

(गा. 153 से 154)

किसी समय कौमुदी उत्सव आया, जो कि शृंगार रस का सर्वस्व नाटक के मुख जैसा था। उस उत्सव को देखने के लिए युवापुरुषों के लोचनरूप, मृगला को पाशलारूप वह युवती अपनी माता के साथ वहाँ आई। राजा श्रेणिक और अभयकुमार भी परणने जा रहे वर की भांति सर्व अंग पर श्वेतवस्त्र धारण करके उस उत्सव में आये। उस बड़े उत्सव के संमर्द में श्रेणिक राजा का हाथ उस आभीरकुमारी के ऊंचे स्तन वाली छाती पर पड़ गया। इससे उस पर राग उत्पन्न होने से राजा ने उसके वस्त्र के पल्ले पर संभोग की जमानतरूपी अपनी मुद्रिका बांध दी। पश्चात् श्रेणिक ने अभयकुमार को कहा कि मेरा चित्त व्यग्र हो जाने से मेरी मुद्रिका का किसी ने हरण कर लिया। इसलिए उसके चोर को शीघ्र ही शोध ला। यह सुनकर के बुद्धिमान् अभयकुमार सब रंगद्वार बंध करके सोगठा के द्यूतकार की तरह एक एक मनुष्य को बाहर निकालने लगा। बुद्धि के भंडार अभय ने सर्व के वस्त्र, केशपाश और मुख आदि की तलाशी ली। ऐसा करते करते वह आभीरकुमारी भी आई। उसकी तलाशी लेते समय उसके पल्ले पर बंधी राजा की नामांकित मुद्रिका दिखाई दी। अभयकुमार ने उसे पूछा कि हे बाले! यह मुद्रिका तूने किसलिए ली? वह कान पर हाथ रखकर बोली कि, 'मैं कुछ भी नहीं जानती।' उसे अतिरूपवती देखकर धीमान् अभयकुमार ने विचार किया कि 'अवश्य ही इस आभीरकुमारी पर पिताजी अनुरक्त हुए होंगे और उसे ग्रहण करने के लिए रागवश हुए राजा ने निशानी रूप में अपनी मुद्रिका उसके वस्त्र पर बांध दी लगती हैं। ऐसा चिंतन करता हुआ वह अभयकुमार उसे राजा के पास ले गया। राजा ने पूछा कि, 'क्या मुद्रिका का चोर मिला?' अभय बोला कि– 'देव! उसे चुरानेवाली यह बाला है, परंतु हे प्रभु! उसने मुद्रिका के साथ आपका चित्त भी चोर लिया हो, ऐसा लगता है।' राजा हंसकर बोला– 'इस कुमारिका से मैं विवाह करूँगा। क्या तुमने सुना नहीं है कि दुष्कुल में से भी स्त्रीरत्न को ग्रहण कर लेना चाहिए। तब राजा ने निर्दोष अंगवाली उस आभीरकन्या से विवाह किया और अत्यन्त राग से उसे पट्टरानी बनाई।

(गा. 155 से 170)

एक बार राजा रानियों के साथ पासे खेल रहा था, उसमें ऐसी शर्त रखी कि 'जो जीते वह हारे हुए की पीठ पर चढ़े।' इस प्रकार शर्त रखने पर भी अन्य कुलवान् रानियाँ जब राजा को जीत लेती तो वह अपनी जीत बताने के लिए मात्र राजा के पृष्टभाग पर अपना वस्त्र डाल देती। जब इस वेश्यापुत्री ने राजा को जीता, तब वह हृदय को कठोर करके निःशंक रूप से उनके पृष्ठभाग पर चढ़ गई। राजा को उस समय प्रभु के वचन स्मरण हो आने से अचानक हंसी आ गई। तब उस रानी ने नीचे उतरकर आदर से राजा को हास्य का कारण पूछा। तब राजा ने जिस प्रकार प्रभु ने फरमाया था, उसी प्रकार उसके पूर्व भव से लेकर पृष्ठ ऊपर चढ़ने तक का सर्व वृत्तांत कह सुनाया। यह सुनकर उसे तत्काल ही वैराग्य हो गया और उसने आदरपूर्वक पति की आज्ञा लेकर प्रभु के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की।

(गा. 171 से 176)

समुद्र के मध्य में पातालभुवन जैसा आर्द्रक नाम का एक देश है। उसमें आर्द्रक नामक मुख्य नगर है। उस नगर में चंद्र के समान दृष्टियों को आनंददायक और लक्ष्मी से विराजमान आर्द्रक नाम का राजा था। उसके आद्रिका नाम की रानी थी। उन दोनों के आर्द्र मन वाला आर्द्रक कुमार नाम का पुत्र हुआ। वह युवावय को प्राप्त करके यथारूचि सांसारिक भोग भोगने लगा।

(गा. 177 से 179)

आर्द्रक राजा के और श्रेणिकराजा के परंपरा से बेडी के समान प्रीति बंधी हुई थी। एक बार श्रेणिक ने स्नेहरूप लता के दोहदस्वरूप अनेक भेंट लेकर अपने मंत्री को आर्द्रक राजा के पास भेजा। मंत्री वहाँ पहुँचा, तब आर्द्रक राजा ने मानो श्रेणिक का मूर्तिमन्त मित्रत्त्व हो वैसे गौरवता से उसे देखा। पश्चात् मंत्री के साथ आई हुई सौवर्य, निंबपत्र और कांबल आदि भेंट आर्द्रक राजा ने ग्रहण की। आर्द्रक राजा ने खूब सत्कार से उसकी संभावना करके पूछा कि, "मेरे बंधु श्रेणिक कुशल हैं ?" उसने प्रत्युत्तर में चन्द्र के आतपरूप अपने स्वामी का कुशल वृत्तांत कहकर उस चंद्ररूप मंत्री ने आर्द्रक राजा के मन रूपी कुमुद को पूर्ण आनन्द दिया। तब आर्द्रक कुमार ने पूछा कि, 'हे पिता जी! वे मगधेश्वर कौन है ? कि जिनके साथ वसंतऋतु में कामदेव के समान आपकी प्रीति है। आर्द्रक राजा बोले कि, 'हे वत्स! श्रेणिक नाम के

मगधदेश के राजा हैं, उनके और अपने कुल की परंपरा से प्रीति चली आ रही है।' यह सुनकर आर्द्रक कुमार ने अमृत तरंगिणी जैसी दृष्टि से प्रेमांकुर को प्रगट करता हुआ मंत्री के प्रति बोला, कि आपके स्वामी के कोई पूर्ण गुण वाला पुत्र है? उसको मैं प्रीतिपात्र करके मित्र बनाना चाहता हूँ। 'मंत्री बोले कि ''हे कुमार! बुद्धि का धाम, पांच सौ मंत्रियों का स्वामी, दातार असामान्य, करुणारस का सागर दक्ष, कृतज्ञ एवं कलारूपी सागर में पारंगत अभयकुमार नामक एक श्रेणिक राजा के पुत्र हैं। अरे कुमार! बुद्धि और पराक्रम में संपन्न धर्मज्ञ, भयरहित और विश्व में विख्यात इस अभयकुमार को क्या तुम नहीं जानते? स्वयंभूरमण नामके समुद्र में अनेक आकारवाले मत्स्य समूह की भांति उस कुमार में वास करके रहे न हों, ऐसे कोई भी गुण इस जगत् में नहीं हैं।'' अपने पुत्र को अभयकुमार के साथ मैत्री करने का अर्थी हुआ जानकर राजा ने कहा कि,– 'हे वत्स! तू वास्तव में कुलीन पुत्र है, क्योंकि मेरे चले हुए मार्ग पर तू चलना चाह रहा है और फिर समान गुणवाले और समान कुल तथा संपत्तिवाले तुम दोनों को विवाह सम्बन्ध के तुल्य परस्पर मित्रत्व होना ठीक है।' अपने मनोरथ को मिलती पिता की आज्ञा मिलने से आर्द्रककुमार ने मंत्री को कहा कि, आपको मुझे कहे बिना जाना नहीं है क्योंकि यहाँ से जाते समय अभयकुमार के साथ स्नेह रूप वृक्ष के बीज जैसा मेरे वचन तुमको सुनने हैं। कुमार के वचनों से मंत्री ने वैसा ही करना स्वीकारा। तब राजा की इजाजत लेकर छड़ीदार के बताये हुए मार्ग पर मंत्री उनके रुकने के स्थान पर ले गया।

(गा. 180 से 198)

किसी समय आर्द्रक राजा ने मोती आदि की भेंट लेकर एक अपने पुरुष के साथ उस मंत्री को विदाई दी। उस समय आर्द्रक कुमार ने अभयकुमार के लिए उस मंत्री के हाथ में मूंगा और मुक्ताफल आदि दिये। पश्चात् मंत्री आर्द्रक राजा के आदमी सहित राजगृहपुर में आया और उन्होंने श्रेणिक राजा को और अभयकुमार को संदेशा कहा कि 'आर्द्रकुमार आपके साथ मित्रता एवं सौभ्रात करना चाहता है।' जिनशासन में कुशल अभयकुमार ने चिंतन किया कि, अवश्य ही श्रमणत्व की विराधना करने से वह अनार्य देश में उत्पन्न हुआ होगा। परंतु वह महात्मा आर्द्रकुमार आसन्नभव्य होना चाहिये। कारण कि अभव्य और दूरभव्य को मेरे साथ प्रीति करने की इच्छा ही नहीं होगी। प्रायः समान

पुण्य पापवाले प्राणियों को ही प्रीति होती है, उनका स्वभाव एक समान होता है और मैत्री भी एक समान स्वभाव में ही उत्पन्न होती है।' अब कोई भी उपाय करके उसे पुनः जैन धर्मी करके उसका आप्तजन बनूं। क्योंकि जो जैनधर्ममार्ग में अग्रसर हो, वही आप्त कहलाता है। उस आर्द्रकुमार को मैं तीर्थंकर प्रभु का बिंब दर्शन कराऊँ।' कि जिससे उसे उत्तम जाति स्मरण हो। यहाँ से भेंट स्वरूप महान् आचार्य द्वारा प्रतिष्ठित एक रत्नमयी उत्तम अर्हन्त प्रतिमा उसे भेजूं। इस प्रकार विचार करके उसने एक मंजूषा में श्री आदिनाथ जी प्रभु की अप्रतिम प्रतिमा स्थापित की। वह प्रतिमा कल्याण करने में कामधेनु तुल्य थी। पश्चात् उस प्रतिमा के समक्ष घूप दानी, घंट आदि देवपूजा के समग्र उपकरण रखे। फिर उस मंजूषा पर ताला लगाकर अभयकुमार ने उस पर अपनी मोहर–छाप (सील) लगा दी। मगधपति श्रेणिक ने उस आर्द्रक राजा के अनुचर को बहुत सी भेंट देकर प्रिय आलापपूर्वक विदा किया। उस समय अभयकुमार ने भी वह मंजूषा दी और अमृततुल्य वाणी से उसका सत्कार करके कहा कि, "हे भद्र! यह पेटी अर्द्रकुमार को देना और उस मेरे बंधु को मेरा यह संदेश कहना कि, यह पेटी एकांत में जाकर तुझे अकेले को ही खोलनी है और उसमें जो वस्तु है वह अन्य किसी को बताना नहीं" इस प्रकार उनका कथन स्वीकार करके वह पुरुष अपने नगर में गया और साथ लाई भेंट अपने स्वामी को एवं कुमार को दी। साथ ही अभयकुमार का संदेश आर्द्रकुमार को एकांत में ले जाकर कहा। आर्द्र–कुमार ने एकांत में वह पेटी खोली, तो उसमें अंधकार में भी उद्योत करती मानो तेज की ही घड़ी हुई हो वैसी श्री आदिनाथ प्रभु की मनोहर प्रतिमा उसे दिखाई दी। उसे देखकर आर्द्रककुमार विचाराधीन हो गया। कि 'यह क्या है? यह किसी अंग का उत्तम आभूषण दृष्टिगत होता है। यह क्या मस्तक पर या कंठपर या हृदय में पहनने का होगा? परंतु पूर्व में किसी स्थान पर ऐसी वस्तु देखी अवश्य है। पर मंदाभ्यासी को शास्त्र की भांति यह मेरे स्मृति पथ में नहीं रही हैं' इस प्रकार गहन चिंतन करते करते आर्द्रकुमार को जाति स्मरण ज्ञान को उत्पन्न करने वाली तीव्र मूर्च्छा आ गई। जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होते ही चेतना को प्राप्त करने पर वह अपने पूर्वभव की कथा का चिंतन करने लगा "अरे! इस भव से तीसरे भव में मगधदेश के बसंतपुर नगर में सामानिक नामक मैं एक कुटुम्बी (कणवी) था। मेरे बंधुमती नामकी स्त्री थी। उसके साथ किसी समय सुस्थित नाम के आचार्य के पास से अर्हत्

धर्म यथार्थ रूप से श्रवण किया। इससे भार्या सहित प्रतिबोध प्राप्त कर गृहवास से विरक्त होकर उनके पास दीक्षा अंगीकार की। गुरु के साथ विचरण करता हुआ मैं किसी समय एक शहर में आया। वहाँ मेरी स्त्री बंधुमती भी अन्य साध्वियों के साथ विहार करती हुई आई। एक दिन उसे देखते ही मुझे पूर्व की विषय क्रीडा याद आ गई, इससे मैं उस पर अनुरक्त हो गया और अन्य साधु को मैंने इसकी बात कही। उस साधु ने यह हकीकत प्रवर्तिनी को कहा और उसने बंधुमती को ज्ञात कराया। यह सुनकर खेदित होती हुई बंधुमती इस प्रकार बोली कि – 'हे स्वामिनी! ये गीतार्थ हुए साधु भी इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन करे तो मेरी क्या स्थिति होगी? कारण कि मर्यादा पालन से ही समुद्र पृथ्वी को डुबा नहीं सकता। अब यदि मैं यहाँ से देशान्तर भी चली जाऊँ तो भी ये महानुभाव मुझे देशान्तर गई सुनकर भी मुझ पर से राग नहीं छोड़ देंगे। इसलिए हे भगवती! मै प्राण त्याग दूंगी, जिससे मेरा और उनका शील खंडित न हो।' यह सोचकर अनशन करके लीला मात्र में उसने थूंक की तरह अपने प्राणों का त्याग कर दिया एवं देवत्व को प्राप्त हो गई। उसके मृत्यु प्राप्त हुई सुनकर मुझे विचार आया कि, 'अरे यह महानुभावा व्रतभंग के भय से मरण को प्राप्त हुई, और मैं तो व्रत का भंग होने पर भी अब तक जीता हूँ, तो मुझे अब जीने की क्या आवश्यकता है? ऐसा सोचकर मैं भी अनशन करके मृत्यु के पश्चात् देवलोक में देव बना। वहाँ से च्यव कर यहाँ धर्मवर्जित ऐसे अनार्य देश में उत्पन्न हुआ हूँ। जिसने मुझे प्रतिबोध दिया, वही मेरा वास्तव में बन्धु और गुरु है। मेरे भाग्योदय से अभयकुमार मंत्री ने मुझे प्रतिबोधित किया है। परंतु अद्यापि मैं उनके दर्शन न कर सकने से मंदभागी हूँ। अतः अब पिता की आज्ञा लेकर मैं आर्य देश में जाऊंगा कि जहाँ मेरे गुरु अभयकुमार हैं। ऐसा मनोरथ करता हुआ और आदिनाथ प्रभु की प्रतिमा की पूजा करता हुआ आर्द्रककुमार दिन व्यतीत करने लगा।

(गा. 199 से 236)

एक दिन आर्द्रककुमार ने अपने पिता को विज्ञप्ति की कि, 'मैं अभयकुमार के दर्शन करना चाहता हूँ।' तो आर्द्रक राजा ने कहा कि, 'हे वत्स! तुझे वहाँ जाना नहीं है, क्योंकि अपनी श्रेणिक राजा के साथ यहाँ रहते हुए ही मैत्री है। पिता का ऐसी आज्ञा से बद्ध और अभयकुमार के मिलने से उत्कंठित हुए

आर्द्रककुमार वहाँ जा सका नहीं। इससे भाद्रपद के मेघ के तुल्य नेत्र में से अश्रान्त अश्रु वर्षा करता हुआ और रो रो कर जिसके नेत्र सूज गये हैं, ऐसा वह आर्द्रकुमार अभयकुमार को मिलने जाने में उत्कंठित बना रहा। बैठते, सोते, चलते, फिरते, खाते–पीते अन्य सब क्रियाओं में वह अभयकुमार से अलंकृत उस दिशा को ही अपनी दृष्टि के समक्ष रखता था। अभयकुमार के पास कपोत के जैसे उड़कर पहुँचने का इच्छुक उस आर्द्रकुमार को रोगपीड़ित, दीन जन की तरह उसे किंचित्मात्र भी शांति नहीं मिल रही थी। वह हमेशा मगधदेश कैसा है? राजगृह नगर कैसा होगा? वहाँ जाने का कौनसा मार्ग है? इस प्रकार अपने परिजनों को पूछता रहता था।

(गा. 237 से 245)

आर्द्रककुमार की ऐसी अवस्था को सुनकर के आर्द्रकराजा को चिंता हुई कि, 'अवश्य ही यह आर्द्रकुमार किसी समय मुझे कहे बिना ही अभयकुमार के पास चला जाएगा, इसलिए इसका बंदोबस्त कर देना चाहिये।' ऐसा विचार करके उन्होंने अपने पाँचसौ सामंतो को आदेश दिया कि, 'तुमको आर्द्रककुमार को किसी भी प्रकार देशांतर जाने न देना।' राजा की आज्ञा से वे सामंत भी छाया की भांति उसका पार्श्व भी छोड़ते नहीं थे।' निरंतर साथ ही रहते थे, इससे कुमार अपनी आत्मा को बंदीवान् सदृश समझने लगा। अंत में अभयकुमार के पास जाने का मन में निर्णय करके वह बुद्धिमान कुमार प्रतिदिन अश्व क्रीड़ा करने लगा। उस समय वे सामंत भी उसके अंगरक्षक होकर उसके साथ रहने लगे। आर्द्रककुमार त्वरितगति से अश्व दौड़ा उनसे दूर चला जाता एवं पुनः लौटकर आ जाता।

(गा. 246 से 250)

इस प्रकार की क्रीड़ा करता हुआ वह अधिक अधिक दूर जाने लगा एवं पुनः लौटकर आने लगा। इससे उन सामंतों को उसके गमनागमन पर विश्वास उत्पन्न हो गया। ऐसा करते करते एक दिन आर्द्रककुमार ने अपने विश्वासु व्यक्तियों के पास समुद्र में एक जहाज तैयार करवाया। उस जहाज को रत्नों से भरवा दिया और आदिनाथ प्रभु की प्रतिमा भी उसमें भिजवा दी। पश्चात् अश्वक्रीड़ा करते करते अदृश्य होकर उस जहाज पर चढ़कर आर्द्रककुमार आर्यदेश में आ गया। वहाँ पर पहुँचते ही सर्वप्रथम अभयकुमार

द्वारा प्रेषित प्रतिमा उसके पास भेजी, सात क्षेत्र में धन को व्यय करके स्वयमेव यति लिंग ग्रहण कर लिया। जिस समय वह सामायिक व्रत का उच्चारण कर रहा था, उस समय आकाश में स्थित देवताओं ने उच्चस्वर में कहा कि, 'हे महासत्त्व! अभी तुमको व्रत ग्रहण नहीं करना है, अभी व्रत लेने से तुम्हारा उपहास्य होगा। ऐसा भोजन करना भी किसी काम का कि जिसका वमन हो जाय ? ऐसे देवताओं के वचनों का अनादर करके आर्द्रकुमार ने पराक्रम के द्वारा स्वयमेव दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार आर्द्रककुमार मुनि प्रत्येकबुद्ध होकर उत्कृष्टता से व्रतों का पालन करते हुए विहार करने लगे। अनुक्रम से वह वसंतपुर नगर में आए, और नगर के बाहर किसी देवालय में प्रतिमाधारण करके रहे अर्थात् सर्व आधि को दूर करके समाधिस्थ हुए।

(गा. 251 से 262)

उस नगर में महाकुलवान् देवदत्त नाम का एक बड़ा सेठ रहता था। उसके धनवती नाम की पत्नि थी। उस बंधुमती का जीव देवलोक से च्यवकर उस सेठ के घर पुत्रीरूप से अवतरा। उस बाला का श्रीमती नामकरण किया। वह अत्यन्त स्वरूपवती और सर्व वनिताओं में शिरोमणि हो गई। मालती के पुष्पों की माला की तरह धात्रियों से पालित वह कन्या अनुक्रम से धूलिक्रीड़ा योग्य अवस्था को प्राप्त हो गई। एक बार श्रीमती नगर की अन्य बालाओं के साथ पतिरमण की क्रीड़ा करने के लिए पूर्वोक्त देवालय में आई कि जहाँ आर्द्रक मुनि कायोत्सर्ग में रहे थे। वहाँ क्रीड़ा करने के लिए सर्व बालिकाएँ बोली कि 'सखियों! सर्व अपनी अपनी इच्छानुसार वर का वरण कर लो। तब सर्व कन्याओं ने परस्पर रूचि के अनुसार वरण कर लिया। तब श्रीमती ने कहा कि, सखियों! मैं तो इन भट्टारक मुनि को वरण कर चुकी। उस समय देवता ने आकाशवाणी की कि– 'साधु वृत्तं साधु वृत्तं' तूने अच्छा वरण किया। इस प्रकार कहकर गर्जना करके उस देव ने वहां रत्नों की वृष्टि की। उस गर्जना से त्रास पाकर श्रीमती उन मुनि के चरणों में लिपट गई। मुनि ने विचार किया कि, 'यहाँ क्षणभर मात्र रहने से भी व्रतरूपी वृक्ष को महान पवन जैसा मुझे यह अनुकूल उपसर्ग हुआ। इसलिए यहाँ अधिक समय तक रुकना योग्य नहीं हैं।' ऐसा विचार करके वे मुनि वहाँ से अन्यत्र चले गये। ''महर्षियों को किसी भी स्थल पर निवास करके रहने की आस्था नहीं होती, तो जहाँ उपसर्ग हो

वहाँ तो रहने की आस्था ही क्यों हो? फिर उस नगर के राजा उस रत्नवृष्टि को लेने वहाँ आए? कारण कि मालिक बिना के धन पर राजा का ही हक होता है।' ऐसा निश्चय ही होता है। राजपुरुष राजा की आज्ञा से जब वह द्रव्य लेने देवालय में घुसे, उसी समय नागलोक के द्वार की तरह वह स्थान अनेक सर्पों से व्याप्त दिखाई दिया। उस समय देवता ने तत्काल ही आकाश में रहकर कहा कि ''मैंने यह द्रव्य कन्या के वर के निमित्त से दिया हुआ है, इसलिए अन्य किसी को भी लेना नहीं हैं। यह सुनकर राजा खिन्न होकर लौट गया। तब श्रीमती के पिता ने वह द्रव्य लेकर अलग ही रख दिया। सायंकाल में पक्षियों की भांति सभी अपने अपने स्थान पर गये।

(गा. 263 से 275)

जब श्रीमती विवाह के योग्य हुई, तब अनेक युवा उसका वरण करने को तैयार हुए। तब उसके पिता ने उसे कहा कि, 'इन में से योग्य लगे उसे अंगीकार कर ले।' यह सुनकर श्रीमती बोली कि, –''पिताजी! मैंने उस समय जिस मुनि का वरण किया था, वे ही मेरे वर हैं और देवता ने उनको वरण करने के लिए ही वह द्रव्य दिया है। उन महर्षि का मैं मन से वरण कर चुकी हूँ। एवं आप भी वह द्रव्य लेकर उससे सम्मत हुए हो, इसलिए उन मुनिवर को कल्पित करके अब मुझे अन्य को देना, वह योग्य नहीं है। तात! क्या आपने नहीं सुना यह तो बालक भी जानते हैं कि, ''राजा एक बार बोलते हैं, मुनि भी एक बार ही कहते हैं और कन्या भी एक बार ही दी जाती है, ये तीनों बातें एक बार ही होती है। शेठ ने कहा– 'हे पुत्री! वे मुनि किस प्रकार मिल सकते हैं? क्योंकि वे एक स्थान पर तो रहते नहीं है। पुष्प में भ्रमर की तरह वे नए नए स्थान पर भ्रमण करते रहते हैं। वे मुनि पुनः यहाँ आयेंगे या नहीं? यदि आ भी गए तो किस प्रकार पहचाने जायेगे? उनका नाम क्या? उनका अभिज्ञान क्या? ऐसे भिक्षुक तो कितने ही आते रहते हैं।'' श्रीमती बोली कि 'पिताजी! उस देवालय में देवता की गर्जना से मैं भयभीत हो गई थी, तब मैं वानरी के समान उनके चरणों को पकड़ कर रही थी, उस समय उनके चरणों में एक चिह्न मुझे दिखाई दिया। इसलिए हे पिताजी! आप ऐसी व्यवस्था करो कि जिससे प्रतिदिन मैं जाते आते साधुओं को देख सकूं।'

(गा. 276 से 284)

सेठ बोले कि, "हे पुत्री! अब जो कोई भी मुनि इस शहर में आवेंगे। उन सब मुनियों को तुझे स्वयमेव भिक्षा देनी है।" पिता की आज्ञा होते ही श्रीमती प्रत्येक मुनि को भिक्षा देती और उनको वंदना करते समय उनके चरण के चिह्नो को देखती थी। इस प्रकार करते करते बारहवें वर्ष में दिग्मूढ़ हुए आर्द्रक मुनि वहाँ आ चढे। श्रीमती ने वंदना करते समय चिह्न को देखकर तुरंत पहचान लिया, तब वह बोली कि, "हे नाथ! उस देवालय में मैंने आपका वरण किया था। इसलिए आप ही मेरे पति हो। उस समय तो मैं मुग्धा थी, अतः मुझे पसीने के बिंदु की तरह त्याग करके आप चले गये थे। परंतु आज आप पकड़ में आ गये हैं, कर्जदार की तरह अब यहाँ से कैसे जा सकते हो? हे नाथ! जब से आप दृष्टि से ओझल हुए थे, तब से प्राणरहित की तरह मेरा सर्व काल निर्गमन हुआ है। इसलिए अब प्रसन्न होकर मुझे अंगीकार करो। इस उपरांत भी यदि क्रूरता से मेरी अवज्ञा करोगे, तो मैं अग्नि स्नान करके आपको स्त्री हत्या का पाप दूंगी।"

(गा. 285 से 291)

पश्चात् राजा ने और महाजन ने आकर विवाह के लिए उनको प्रार्थना की। तब मुनि को व्रत लेते समय जो उसके निषेधरूप दिव्य वाणी हुई थी, वह याद आई एवं उस देववाणी को स्मरण करके, साथ ही उनका विशेष आग्रह देखकर महात्मा आर्द्रक मुनि उस श्रीमती को परणे। 'कभी भी भावी अन्यथा नहीं होता।"

(गा. 292 से 293)

श्रीमती के साथ चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए उन मुनि के गृहस्थपन की प्रसिद्धि रूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अनुक्रम से वृद्धि प्राप्त करता हुआ वह पुत्र राजशुक की तरह तुरंत छूटी जिह्वा से तुतला तुतला कर बोलने लगा। पुत्र बड़ा होने पर आर्द्रककुमार ने श्रीमती को कहा कि 'अब यह पुत्र तेरी सहायता करेगा, इसलिए मैं दीक्षा लूंगा।' बुद्धिमान श्रीमती यह बात पुत्र को जताने हेतु रुई की पुणियों के साथ चरखा तकली लेकर कांतने बैठ गई। जब रुई कांतने लगी तब पुत्र ने यह सब देखकर पूछा, 'हे माता! साधारण मनुष्य के योग्य ऐसा कार्य आप क्यों कर रही हो? वह बोली कि– 'हे वत्स! तेरे पिता तो दीक्षा लेने जाने वाले हैं। तब उनके जाने के पश्चात् पति रहित मुझे

इस चरखे का ही शरण है।' पुत्र बालपने के कारण तोतली परंतु मधुर वाणी से बोला कि 'माता! मैं मेरे पिता को बांधकर पकड़ कर रखूंगा, तो ये किस प्रकार जा सकेंगे? इस प्रकार कहकर लार से मकड़ी के समान वह मुग्धमुख बालक चरखे के सूत्र से पिता के चरणों को लपेटने लगा और बोला कि– 'अंबा! अब भय मत रखो, स्वस्थ हो जाओ। देखो मेरे पिता के पैरों को मैंने बांध दिया है। बंधे हुए हाथी के समान अब ये किस प्रकार जा सकेंगे? बालक की इस प्रकार की चेष्ठा को देखकर आर्द्रक ने विचार किया कि 'अहो! इस बालक का स्नेहानुबंध कैसा है कि, जो मेरे मन रूपी पक्षी को पाश रूप हो गया है। इससे मैं तुरंत ही दीक्षा लेने में असमर्थ हो गया हूँ। इसलिए इस प्रेमाल बालक ने मेरे पैरों के साथ जितने सूत के आंटे लिये हैं, उतने वर्ष तक इस पुत्र के प्रेम से मैं गृहस्थपन में रहूँगा।' तब उन्होंने पैर के तंतुबंध गिने, तो बारह निकले। इससे उन्होंने गृहस्थपने में दूसरे बाहर वर्ष व्यतीत किये। जब अपनी प्रतिज्ञा की अवधि पूर्ण हुई, तब वे बुद्धिमान पुरुष वैराग्य प्राप्त करके रात्रि के अंतिम प्रहर में चिंतन करने लगे कि अहो! इस संसार रूपी कुए में से निकलने के लिए मैंने डोरी के समान व्रत का आलंबन लिया और पुनः उसे छोड़ कर मैं उसमें ही मग्न हो गया। पूर्वजन्म में तो मात्र मैंने मन से ही व्रतभंग किया था, फलस्वरूप मुझे अनार्यत्व प्राप्त हुआ परंतु अब तो इस भव में त्रिकरण से व्रतभंग किया हैं, अब मेरी क्या गति होगी? भवतु! अब भी दीक्षा लेकर तपरूप अग्नि से अग्निशौच वस्त्र की तरह मैं मेरी आत्मा का प्रक्षालन करूँगा। ऐसा विचार करके प्रातः श्रीमती को समझाकर यतिलिंग धारण करके वे निर्मम मुनि होकर घर से चल पड़े।

(गा. 294 से 310)

वसंतपुर से राजगृह नगर की ओर जाते हुए मार्ग में अपने पांचसौ सामंतो को चोरी का धंधा करते हुए देखा। उन्होंने पहचान करके भक्ति से आर्द्रकमुनि को वंदना की। मुनि ने कहा, तुम लोगों ने यह पापी आजीविका क्यों ग्रहण की? वे बोले कि, ''हे स्वामी! जब आप हमको ठगकर पलायन कर गये, तब हम लज्जा से अपना मुख आपके पिता को बता न सके। तब आपकी ही शोध में हम पृथ्वी पर घूमने लगे और चोरी द्वारा आजीविका करने लगे। निर्धन शस्त्रधारियों को दूसरा क्या करना? मुनि बोले– हे भद्रों! कभी सिर

पर कष्ट आ भी पड़े तो भी जो धर्मानुबंधी कार्य हों वे ही करने चाहिये, कि जो दोनों लोक में सफल हों। किसी महापुण्य के योग से यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, और उसके प्राप्त होने का फल स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रदाता धर्म ही है। सर्व जीवों की अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता– यह धर्म तुम लोगों को भी मानना योग्य है। हे भद्रों! तुम स्वामिभक्त हों, मैं राजा के सदृश तुम्हारा स्वामी हूँ। इसलिए मेरा कहना मान कर मेरे अंगीकृत मार्ग सद्बुद्धि द्वारा तुम भी ग्रहण करो।' वे बोले कि 'आप पहले भी हमारे स्वामी थे और अब तो गुरु भी हो। आप द्वारा कथित धर्म हमें रूचा है। अतः दीक्षा देकर हम पर अनुग्रह करो।' आर्द्रकुमार ने उनको दीक्षा देकर साथ में लेकर श्री वीरप्रभु को वंदन करने राजगृह की ओर चल दिये। मार्ग में गोशाला सामने मिला। पुण्यरहित गोशाला आर्द्रकमुनि के साथ वाद करने लगा। उस कौतुक को देखने के लिए हजारों मनुष्य और खेचर वहाँ तटस्थ रूप से एकत्रित हो गए। गोशाला बोला-- 'अरे मुनि! यह तपस्या करना वृथा कष्ट रूप है, कारण कि शुभ अशुभ फल का कारण तो नियति (भक्तिव्यता) ही है। आर्द्रक मुनि बोले कि– ''अरे गोशाला! जो इस प्रकार ही हो तो इस जगत में सुख ही नहीं है ऐसा कहते हैं। और यदि सुख है ऐसा कहते हो तो पुरुषार्थ को उसके कारण रूप मान्य कर ले। यदि सर्वस्थलों पर नियति ही कारण हो, तो इष्ट सिद्धि के लिए तेरी भी सर्व क्रियाएँ वृथा होंगी। और जो तू नियति पर ही निष्ठा रखकर रहता हो तो स्थान पर क्यों नहीं बैठा रहता? भोजन के अवसर पर भोजन के लिए किसलिए प्रयत्न करता है? इससे नियति की तरह स्वार्थसिद्धि के लिए पुरुषार्थ करना भी योग्य है, कारण कि अर्थ सिद्धि में नियति से भी पुरुषार्थ विशेष है। जैसे कि आकाश में से भी जल गिरता है और भूमि खोदने से भी मिल सकता है इससे नियति बलवान है परंतु इससे भी उद्यम बलवान है'' इस प्रकार उन महामुनि ने गोशाला को निरुत्तर कर दिया। यह सुनकर खेचर आदि ने जय जय शब्द करके उसकी स्तुति की।

(गा. 311 से 328)

पश्चात् आर्द्रकमुनि हस्तितापसों के आश्रम में गये। वहाँ पर्णकुटियों में हाथियों का मांस धूप में सूखने हेतु रखा हुआ, उनको दृष्टिगत हुआ। वहाँ रहने वाले तापस एक विशाल हाथी को मारकर उसका मांस खाकर बहुत से

दिन निर्गमन करते थे। उनका ऐसा मत था कि, 'एक बड़े हाथी को मार डालना वह अच्छा कि जिससे एक जीव के ही मांस से अपना बहुता सा समय व्यतीत हो जाए। मृग, तीतर, मत्स्य आदि अनेक शूद्र प्राणियों का और अनेक धान्य के कणों का आहार किसलिए करना? कि जिसमें अनेक जीवों की हिंसा होने से बहुत पाप लगता हो।' ऐसे उस दयाभास (आभास मात्र जिसमें दया है, वास्तविक दया नहीं)। ऐसे धर्म को मानने वाले तापसों ने उस समय मारने के लिए एक विशालकाय हाथी को वहाँ बांध रखा था। भारी श्रृंखला के द्वारा हाथी को बांधा था, उस मार्ग से होकर ये करुणालु महर्षि निकले। पाँच सौ मुनियों से परिवृत्त उन महर्षि को अनेक लोग पृथ्वी पर मस्तक नमा-नमा कर नमन करते थे। यह देखकर लघुकर्मी गजेन्द्र ने विचार किया कि मैं भी यदि इस शृंखला से मुक्त हो जाऊं तो इन मुनिवर को वंदना करूं, परंतु बंधन में हूँ, अतः क्या करूं? हाथी इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि इतने में गरुड़ के दर्शन से नागपाश के समान उन महर्षि के दर्शन से उसके लोहमयबंधन टूट गये। जिससे वह हाथी छूट कर मुनि को वंदन करने के लिए उनके सामने चल दिया। यह देख लोग कहने लगे कि, 'इन मुनि को यह हाथी जरूर मार डालेगा।' ऐसा बोलते हुए वे हाथी के भय से दूर भाग गये। परंतु मुनि तो वहीं पर स्थित रहे। उस गजेन्द्र ने मुनि के पास आकर कुंभस्थल नमाकर प्रणाम किया और दाह से पीड़ित की भांति कदली का स्पर्श करे वैसे उस गजेन्द्र ने सूंढ प्रसार कर मुनि के चरणों को स्पर्श किया, जिससे वह परम शांति को प्राप्त हुआ। पश्चात् वह हाथी खड़े होकर भक्ति से भरपूर दृष्टि से मुनि को निहारता हुआ अनाकुलता से अरण्य में चला गया। मुनि के ऐसे अद्भुत प्रभाव से और हाथी के भाग जाने से दयाभास धर्मी हस्तितापस उनपर बहुत क्रोधित हुए। आर्द्रककुमार ने उनको भी प्रतिबोधित किया और समता संवेग से शोभित उनको वीरप्रभु के समवसरण में भेज दिया, वहाँ जाकर उन्होंने हर्ष से दीक्षा अंगीकार कर ली।

(गा. 329 से 344)

श्रेणिक राजा गजेन्द्र के मोक्ष से एवं तापसों के प्रतिबोध की हकीकत सुनकर अभयकुमार सहित आर्द्रक मुनि के पास आए। भक्ति पूर्वक वंदना करते हुए राजा को मुनि ने सर्व कल्याण कारी धर्मलाभ रूपी आशीष से आनंदित किया। मुनि को शुद्ध भूमितल पर निराबाध रूप से बैठे देखकर राजा ने पूछा

कि– 'हे भगवन्! आपके द्वारा हुए गजेन्द्र के मोक्ष से मुझे आश्चर्य होता है। तब महर्षि बोले कि, ''हे राजेन्द्र! गजेन्द्र का मोक्ष होना मुझे दुष्कर नहीं लगता जितना कि चरखे के पाश के मुक्त होना दुष्कर लगा।' राजा ने पूछा– यह किस प्रकार? तब मुनि ने चरखे के सूत संबंधी सर्व कथा कह सुनाई। जो श्रवण करके राजा और सब लोग विस्मित हो गए।

(गा. 345 से 349)

तब आर्द्रकमुनि ने अभयकुमार को कहा कि 'हे भद्र! तुम तो मेरे निष्कारण उपकारी धर्मबंधु हो। हे राजपुत्र! तुम्हारे द्वारा प्रेषित अर्हन्त की प्रतिमा के दर्शन से मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और हे भद्र! तुमने मुझे क्या नहीं दिया? और क्या क्या उपकार नहीं किया? कि जिसने मुझे उत्तम उपाय की योजना करके आर्हत धर्म में प्रवृत्ताया। हे महापरमोपकारी। तुमने अनार्य रूप महाकीचड़ में निमग्न हुए मेरा उद्धार किया, और आपकी बुद्धि से बोध प्राप्त कर मैं आर्य देश में आया। साथ ही तुमसे ही प्रतिबोध प्राप्त करके मैंने दीक्षा भी ली। इससे हे कुमार! तुम अत्यन्त कल्याण द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो।'' राजाश्रेणिक, अभयकुमार एवं अन्य लोग उन मुनि को वंदना करके अपने अपने स्थान पर गये। आर्द्रकमुनि ने राजगृह नगर में समवसरे श्री वीरप्रभु को वंदना करके और उनके चरणकमल की सेवा से कृतार्थ होकर प्रांते मोक्ष में गये।

(गा. 350 से 356)

दशम पर्व में चेलणा योग्य एक स्तंभ प्रसाद निर्माण आम्रफलापहार, श्रेणिक विद्याग्रहण दुर्गन्धा कथा, आर्द्रकुमार कथा–वर्णन नामक सप्तम सर्गः।

अष्टम सर्ग

श्री ऋषभदत्त और देवानंदा की दीक्षा, जमालि और गोशाले की विप्रतिपत्ति तथा विपत्ति एवं श्री महावीर प्रभु का आरोग्य

भविजन के अनुग्रह के लिए गांव, आकर और नगरादि में विचरण करते हुए श्री वीरप्रभु किसी समय ब्राह्मणकुंड गाँव में आये। उसके बाहर बहुशाल नामक उद्यान में देवताओं ने तीन गढ़वाला समवसरण रचा। उसमें प्रभु पूर्व सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान हुए। गौतम आदि गणधर और देवतागण अपने अपने योग्य स्थान पर बैठे। सर्वज्ञ प्रभु को आया श्रवण कर अनेक नगर जन वहाँ आये। उनके साथ देवानंदा और ऋषभदत्त भी आये। श्रद्धालु ऋषभदत्त प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन करके योग्य स्थान पर बैठे। देवानंदा भी प्रभु को नमन करके ऋषभदत्त के पीछे आनंद प्रफुल्लित मुख द्वारा देशना श्रवण करने बैठी। उस समय प्रभु को देखते ही देवानंदा के स्तन में से दूध झरने लगा एवं शरीर में रोमाञ्च प्रकट हुआ। उसकी ऐसी स्थिति देखकर गौतम स्वामी को संशय और विस्मय हुआ। तब उन्होंने अंजलिबद्ध होकर प्रभु को पूछा कि, 'हे प्रभु! पुत्र की भांति आपको देखकर इस देवानंदा की दृष्टि देववधू के समान निर्निमेष कैसे हो गई? भगवान् श्री वीरप्रभु ने मेघ के तुल्य गंभीर वाणी से फरमाया– 'हे देवानुप्रिय गौतम! मैं इस देवानंदा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ था। देवलोक से च्यवकर मैं इसकी कुक्षि में बियासी दिन रहा था। परमार्थ को न जानते हुए इस विषय में वह मुझ पर वत्सल भाव धारण करती है।' प्रभु के इस प्रकार के वचनों को जो कि पूर्व में सुनने में आये नहीं थे, यह सुनकर देवानंदा, ऋषभदत्त एवं सर्व पर्षदा विस्मित हो गई। ये तीन जगत् के स्वामी अपने पुत्र कहाँ और एक समान्य गृहस्थाश्रमी अपने कहाँ? ऐसा विचार करके उन दंपत्ती ने उठकर पुनः प्रभु को वंदना की। 'इन माता पिता को

प्रतिबोधित करना दुष्कर है।' ऐसी बुद्धि से भगवंत ने उनको अन्य लोगों को उद्देश करके इस प्रकार की देशना दी।

(गा. 1 से 14)

"अहो भव्यजीवों! इस संसार में वस्तु इंद्रजाल जैसी है, इसलिए विवेकी पुरुष उसके स्थिरपने के विषय में क्षणभर भी श्रद्धा रखते नहीं हैं। जब तक जरावस्था आकर इस शरीर को जर्जरित नहीं करती, और जब तक मृत्यु प्राणों को लेने नहीं आती है, तब तक अद्वैत सुख के निधान रूप निर्वाण के एक साधन जैसी दीक्षा का आश्रय कर लेना योग्य है, उसमें किंचित्मात्र भी प्रमाद करना युक्त नहीं है।" इस प्रकार प्रभु की देशना श्रवण करके देवानंदा और ऋषभदत्त प्रभु को नमन करके बोले कि, "हे स्वामी! हम दोनों को इस असार संसारतारिणी दीक्षा दो। आपके सिवा तिरने और तारने में अन्य कौन समर्थ है?" प्रभु ने तथास्तु इस प्रकार कहा। तब आत्मा को धन्य मानते हुए उन दम्पत्ती ने ईशान दिशा में जाकर आभूषण आदि त्याग दिये, और संवेग से पांचमुष्ठि द्वारा केश का लोच करके प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदन करके बोले कि "हे स्वामी! हम जन्म, जरा और मृत्यु से भयभीत होकर आपकी शरण में आए हैं। अतः आप स्वयं ही हम पर प्रसन्न होकर दीक्षा देकर अनुग्रह करो। सर्व सत्पुरूष उपकारी होते है। तो फिर सर्व कृतज्ञ पुरुषों में शिरोमणि प्रभु की बात ही क्या करनी?" प्रभु ने चंदना साध्वी को देवानंदा और स्थविर साधुओं को ऋषभदत्त को सौंप दिया। दोनों ही परम आनंद से व्रत का पालन करने लगे। अनुक्रम से उनने एकादशांगी का अध्ययन करके विविध तप में तत्पर होकर केवलज्ञानी होकर मोक्षपद को प्राप्त किया।

(गा. 15 से 27)

भगवंत श्री वर्धमान स्वामी जगत्जीवों के आनंद में वृद्धि करते हुए ग्राम आकर और नगर से आकुल ऐसी पृथ्वी पर विहार करने लगे। अनुक्रम से प्रभु क्षत्रियकुंड गांव में पधारे। वहाँ समवसरण में विराजमान होकर देशना दी। प्रभु को समवसृत जान कर, राजा नंदिवर्धन विपुल समृद्धि एव भक्ति से प्रभु को वंदन करने को आए। तीन प्रदक्षिणा करके जगद्गुरु को वंदन करके अंजलीबद्ध होकर योग्य स्थान पर बैठे। उस समय जमालि नाम से प्रभु का भगिनेय (भाणजा) एवं जमाता, प्रभु की पुत्री प्रियदर्शना सहित वंदन करने आये।

भगवंत की देशना श्रवण करके प्रतिबोध को प्राप्त हुए। जमालि ने माता पिता की आज्ञा लेकर पांच सौ क्षत्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। जामलि की स्त्री और भगवंत की पुत्री प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ प्रभु के पास दीक्षा ली। अनुक्रम से जमालि मुनि ने ग्यारह अंग का अध्ययन किया, तब प्रभु ने उनको सहस्रक्षत्रिय मुनियों के आचार्य नियुक्त किये। उन्होंने चतुर्थ, छठ एवं अट्ठम आदि तपश्चर्या की। इसी प्रकार चंदना को अनुसरती प्रियदर्शना ने भी तप प्रारंभ किया।

(गा. 28 से 37)

एक बार जमालि ने अपने परिवार सहित प्रभु को नमन करके पूछा, 'स्वामी! आपकी आज्ञा हो तो हम अब अनियत विहार करें।' प्रभु ने ज्ञानचक्षु द्वारा इसमें भावी अनर्थ जाना, इसलिए जमालि मुनि ने बारम्बार पूछा, तथापि प्रभु ने कोई उत्तर दिया नहीं। तब 'जिसमें निषेध न हो उसे आज्ञा समझना' ऐसा विचार करके जमालि मुनि परिवार सहित अन्यत्र विहार करने प्रभु के पास से निकले। अनुक्रम से विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए। वहाँ कोष्टक नामक नगर के बाहर उद्यान में विरस, शीतल, लूखा, तुच्छ, समय बिना के एवं ठंडे अन्नपान करने से किसी समय जमालि मुनि को पित्तज्वर हो गया। इस ज्वर की पीड़ा से कीचड़ में पड़ी कील के सामन वे खड़े भी नहीं रह सकते थे। इससे अपने साथ के मुनियों से कहा कि 'संथारा कर दो।' मुनियों ने तुरंत ही संथारा करना प्रारंभ कर दिया। ''राजा की आज्ञा सेवक माने वैसे ही शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करते हैं। पित्त की अत्यन्त पीड़ा से जमालिमुनि बार बार पूछने लगे कि, 'अरे साधुओं! संथारा बिछाया या नहीं ? साधुओं ने कहा कि संथारा किया हुआ है।' तब ज्वारार्त जमालिमुनि शीघ्र ही उठकर उनके पास आए, वहाँ संथारा बिछाते देख शरीर की अशक्ति के कारण वे बैठ गए एवं तत्काल मिथ्यात्व के उदय होने से क्रोधित होकर बोले– ''अरे साधुओ! अपन बहुत काल से भ्रांत हो रहे हैं। अब चिरकाल में तत्त्व जानने में आया कि जो कार्य किया जा रहा हो उसे 'किया' यह कहा नहीं जाता, जो कार्य पूर्ण हो गया हो उसे ही किया कहा जाय। संथारा बिछा जा रहा था, फिर भी तुमने बिछाया यह जो कहा वह असत्य है और ऐसा असत्य बोलना अयुक्त है। उत्पन्न होता हो उसे उत्पन्न हुआ कहना और किया जा रहा हो उसे किया कहना ऐसा जो अरिहंत प्रभु कहते हैं, वह अयुक्त है। कारण कि उसमें प्रत्यक्ष विरोध

दिखाई देता है। वर्तमान और भविष्य में क्षणों के व्यूह के योग से निष्पन्न होते कार्य के विषय में किया, ऐसा प्रारंभ में ही किस प्रकार कहा जाय? जो अर्थ और क्रिया का विधान करते हैं, उसके विषय में ही वस्तुता रही हुई है, तो वह प्रथम काल में उत्पन्न हुए पदार्थ में कभी भी संभवित नहीं है। यदि कार्य को प्रारंभ में ही किया कहा जाय तो फिर शेष रहे क्षण में किए को करने में अवश्य ही अनवस्था दोष लगेगा इससे युक्ति द्वारा यही सिद्ध होता है कि जो कार्य पूर्ण किया गया हो, उसे ही स्फुट रीति से किया कहा जाय। जिसका जन्म हीं नहीं हुआ ऐसे पुत्र का नाम कोई रखे नहीं। इसलिए हे मुनियों! मैं कहता हूँ वह प्रत्यक्ष निर्दोष है, उसे अंगीकार करो। प्रभु जो कुछ कहे वह सब ग्रहण नहीं किया जाता, जो युक्तियुक्त हो वही ग्रहण किया जा सकता है। सर्वज्ञता से विख्यात ऐसे अर्हन्त प्रभु मिथ्या बोले ही नहीं, ऐसी धारणा मत रखना। वे भी किसी समय मिथ्या बोले। कारण कि महान् पुरुषों के भी स्खलना हो जाती है।''

(गा. 38 से 56)

इस प्रकार विपरीत भाषण करते और क्रोध से मर्यादा को भी छोड़ देते हुए जमालि के प्रति स्थविर मुनियों ने कहा कि ''अरे जमालि! तुम ऐसा विपरीत क्यों बोलते हो? रागद्वेष से वर्जित ऐसे अर्हन्त प्रभु कभी भी अन्यथा बोलते हीं नहीं हैं। उनकी वाणी में कभी भी प्रत्यक्ष प्रमुख दोष का एक अंश भी होता नहीं है। जो आद्य समय में वस्तु निष्पन्न हुई, न कहा जाय तो समय के अविशेषपन से अन्य समय में भी उसकी उत्पत्ति हुई कैसे कही जा सकती है? अर्थ और क्रिया का साधकतम जो वस्तु का लक्षण है, उस नाम के अन्य उपयोग से व्यभिचार (विपरीत भाव) प्राप्त नहीं होता। जैसे लोक में किसी कार्य को करते समय प्रथम से ही कोई पूछे कि 'क्या करते हो? तब कार्य पूर्ण हुआ न हो तो भी इस प्रकार कहा जाता है कि 'अमुक घट आदि करते हैं। पूर्व काल में करी हुई वस्तु करने में अनवस्था दोष लागू करना युक्त नहीं है, कारण कि उसके पेटा भाग में कार्यान्तर का साधन रहा हुआ है। फिर आपके जैसे छद्मस्थ को युक्त अयुक्त का विवेक कहाँ से हो? अतः आपके वचन युक्ति युक्त कैसे मानकर ग्रहण करें? केवलज्ञान के आलोक से त्रैलोक्य की वस्तुओं के ज्ञाता ऐसे सर्वज्ञ श्री वीरप्रभु का कथन ही हमको प्रमाणभूत है। उनके समक्ष आपकी सर्व युक्ति मिथ्या है। हे जमालि! तुमने जो कहा कि 'महान् पुरुषों को भी स्खलना होती है' यह तुम्हारा 'वचन मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त जैसा है।' जो किया जा

रहा हो उसे किया कहना' ऐसा सर्वज्ञ द्वारा भाषित तत्त्व ही ठीक है। नहीं तो उनके वचन से तुमने राज्य छोड़कर दीक्षा किसलिए ली? इन महात्मा के निर्दोष वचन को दूषित करते तुमको लज्जा क्यों नहीं आती? तथा ऐसे स्वकृत कर्म से तुम किसलिए भव सागर में निमग्न होते हो? इससे तुम श्री वीरप्रभु के पास जा कर इसका प्रायश्चित ग्रहण करो। तुम्हारा तप और जन्मनिरर्थक मत करो। जो प्राणी अरिहंत के एक अक्षर पर भी श्रद्धा रखते नहीं, वे प्राणी मिथ्यात्व को प्राप्त करके भवपरंपरा में भटकते रहते हैं।'' इस प्रकार स्थविर मुनियों ने जमालि को बहुत प्रकार से समझाया, तथापि उसने अपना कुमत छोड़ा नहीं। मात्र मौन धारण करके ही रहा इसलिए उस कुमतधारी जमालि को छोड़कर कुछ स्थविर मुनि तो शीघ्र ही प्रभु के पास चले गये। और कितनेक उसके साथ रहे।

(गा. 57 से 71)

प्रियदर्शना ने परिवार सहित स्त्री जाति को सुलभ ऐसे मोह (अज्ञान) से और पूर्व के स्नेह से जमालि का पक्ष स्वीकारा। अनुक्रम से जमालि उन्मत्त होकर अन्य व्यक्तियों को भी अपना मत ग्रहण कराने लगा एवं वे भी फिर उस कुमत को फैलाने लगे। जिनेन्द्र के वचन पर हंस देता और अपने को मैं सर्वज्ञ हूँ ऐसा कहता हुआ जमालि परिवार सहित विहार करने लगा।

(गा. 72)

एकदा वह मदोन्मत्त जमालि मुनि श्री वीरप्रभु को चंपापुरी के पूर्णभद्र नामक वन में समवसृत जानकर वहाँ गया और बोला कि – 'हे भगवन्! आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थपने में ही केवलज्ञान उत्पन्न हुए बिना मृत्यु को प्राप्त हो गये। परंतु मैं वैसा नहीं हूँ। मुझे तो केवलज्ञान केवलदर्शन अक्षयरूप से उत्पन्न हुआ है। इससे इस पृथ्वी पर मैं भी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हन्त हूँ। '' उसके ऐसे मिथ्या वचन सुनकर गौतम स्वामी बोल उठे, 'अरे जमालि! यदि तू ज्ञानवान् है तो बता कि यह जीव और लोक शाश्वत है या अशाश्वत है? इस का प्रत्युत्तर देने में असमर्थ ऐसा वह जमालि कौओ के बच्चे के समान मुख प्रसार कर शून्य हो गया। पश्चात् भगवन्त ने फरमाया कि– जमालि! यह लोक तत्त्व से शाश्वत और अशाश्वत है। उसके समान जीव भी शाश्वत और अशाश्वत है। यह लोक द्रव्यरूप से शाश्वत है और प्रतिक्षण नाश को प्राप्त पर्याय की अपेक्षा से

अशाश्वत है।' इस प्रकार प्रभु को कथन को सुनकर भी मिथ्यात्व से जिसका हृदय मथित था, ऐसा वह जमालि कुछ भी बोले बिना अपने परिवार के साथ बाहर निकल गया। ऐसे निह्नवपने से संघ ने उसे संघबाहर कर दिया। उस समय प्रभु को केवलज्ञानी हुए चौदह वर्ष हुए थे। सर्वज्ञ अपने अभिप्राय को कहता हुआ और स्वच्छंद घूमता हुआ जमालि अपनी आत्मा को सर्वज्ञ मानता हुआ पृथ्वी पर विचरण करने लगा। परंतु "जमालि अज्ञानद्वारा श्री वीरप्रभु से विपरीत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है।" ऐसी लोक में सर्वत्र प्रसिद्धि हुई।
(गा. 73 से 95)

एक बार विहार करता हुआ जमालि श्रावस्ती नगरी में गया और नगर के बाहर उद्यान में परिवार के साथ उतरा। प्रियदर्शना भी उसी नगरी में एक हजार आर्याओं के साथ 'ढंक' नाम के समृद्धिवान् कुंमार की शाला में उतरी थी। वह ढंककुलाल परम श्रावक था। उसने प्रियदर्शना को इस प्रकार कुमत में रही हुई देखकर सोचा कि, 'मैं किसी भी उपाय से इसे प्रतिबोधित करूं।' ऐसे विचार से एक बार उसने नीभाड़े से पात्र को एकत्रित करते-करते बुद्धिपूर्वक अग्नि की चिनगारी प्रियदर्शना न जाने वैसे उसके वस्त्र पर डाला। वस्त्र को जलता देखकर प्रियदर्शना बोली कि– 'अरे ढंक! देख, तेरे प्रमाद से मेरा यह वस्त्र जल गया। ढंक बोला– 'हे साध्वी! आप मृषा न बोले, आपके मत के अनुसार तो जब सारा वस्त्र जले, तभी जलता घटित होता है। जल गया हो, उसे ही जलना कहना यह तो अर्हन्त का वचन है और अनुभव से उनका वह वचन ही स्वीकारने योग्य है।' यह सुनकर प्रियदर्शना को शुद्धबुद्धि उत्पन्न हुई, इससे वह बोली कि– 'हे ढंक! मैं चिरकाल से विमूढ हो गई थी, उसे तुमने अच्छा बोध दिया। अरे! मैंने इतने समय तक श्रीवीरप्रभु के वचनों को दूषित किया। अरे! इससे उससे सम्बन्धी मुझे मिथ्या दुष्कृत हो। अब से मुझे श्री वीरप्रभु की वाणी ही प्रमाण है।' तब ढंक कुमार ने कहा कि, 'हे साध्वी! तुम सुहृदय वाली हो, तथापि अभी भी वीरप्रभु के पास जाओ और प्रायश्चित लो। ढंक के ऐसे वचनों से प्रियदर्शना 'मैं प्रायश्चित लेना चाहती हूँ, ऐसा कह जमालि को छोड़कर अपने परिवार सहित श्री वीरप्रभु के पास आई। पश्चात् ढंक से प्रतिबोध प्राप्त एक जमालि के सिवा अन्य सर्वमुनि श्री वीरप्रभु के पास चले गये। अकेला जमालि कुमत से ठग कर बहुत वर्षों तक पृथ्वी पर व्रतधारी बनकर

भ्रमण किया। अंत में अर्धमास का अनशन करके अपने उस दुष्कर्म की आलोचना किये बिना मृत्यु प्राप्त करके छठे देवलोक में किल्विष देवता हुआ।

(गा. 96 से 100)

जमालि की मृत्यु हुई जानकर गौतम गणधर ने श्रीवीर प्रभु को वंदना करके पूछा कि, 'हे स्वामी! उस महातपस्वी जमालि ने कौन सी गति पाई है? प्रभु ने कहा कि 'वह तपोधन जमालि लांतक देवलोक में तेरह सागरोपम की आयुष्य वाला किल्विषिक देवता हुआ है। 'गौतम ने पुनः पूछा कि, 'उसने महाउग्रतप किया फिर भी वह किल्विषिक देव क्यों हुआ? और वहाँ से च्यवकर कहाँ जायेगा? प्रभु बोले कि – ''जो प्राणी उत्तम आचारवाले धर्मगुरु (आचार्य), उपाध्याय, कुल, गण तथा संघ का विरोधी होता है, वह चाहे जितनी तपस्या करे तो भी किल्विषिका दिलकी जाति का देवता होता है। जमालि भी उस दोष से ही किल्विष देव हुआ है। वहाँ से च्यव कर पाँच पाँच भव तिर्यंञ्च मनुष्य और नारकी में घूम घूम कर बोधि बीज प्राप्त करके अंत में निर्वाण प्राप्त करेगा। इससे कोई भी प्राणी को धर्माचार्य आदि का विरोधी नहीं होना चाहिए।'' इस प्रकार उपदेश देकर भगवन्त ने वहाँ से अन्यत्र विहार किया।

(गा. 101 से 107)

साकेतपुर नामक नगर में सुरप्रिय नामक एक यक्ष का देवालय था। वहाँ प्रतिवर्ष उनकी प्रतिमा को चित्रित करके लोग महोत्सव करते थे। परंतु उसे जो चित्रित करता था, उस चित्रकार को यक्ष मार डालता था और यदि कोई चित्र नहीं बनाता तो वह यक्ष सम्पूर्ण नगर में महामारी को विकुर्वित कर देता था। इससे भयभीत होकर सभी चित्रकार उस नगर से पलायन करने लगे थे। तब अपनी पूजा में महामारी के उत्पन्न होने के भय से राजा ने उनको जाने से रोका और उनकी जमानत लेकर चिट्ठियों में उनका नाम लिखकर यमराज की चौपड़ जैसे एक घड़े में सभी चिट्ठियों डाली। पश्चात् प्रतिवर्ष उसमें से एक चिट्ठी निकालने पर जिसके नाम की चिट्ठी आवे उससे चित्रकार को बुलाकर उस यक्ष की मूर्ति को चित्रित कराने लगे। इस प्रकार कितनाक समय जाने के पश्चात् एकदा कोई चित्रकार का पुत्र कौशांबी नगरी से चित्रकला सीखने के लिए वहाँ आया और किसी चित्रकार की वृद्ध स्त्री के घर उतरा। उसकी उस वृद्धा के

पुत्र के साथ मैत्री हो गई। दैवयोग से उस वर्ष उस वृद्धा के पुत्र के नाम की ही चिट्ठी निकली। जो कि यमराज के बहीखाते के पन्ने जैसी थी। यह समाचार सुनकर वृद्धा रुदन करने लगी। यह देख कौशांबी के युवा चित्रकार ने रुदन का कारण पूछा तब वृद्धा ने यक्ष का वृत्तांत और अपने पुत्र पर आई विपत्ति की बात बताई। वह बोला– 'माता! रुदन मत करो, तुम्हारा पुत्र घर पर ही रहे, मैं जाकर ही चित्रकार के भक्षक उस यक्ष का चित्र उतारूंगा। स्थविरा बोली कि– 'वत्स! तू भी मेरा पुत्र ही है।' वह बोला– 'माता! मेरे होते हुए मेरा भाई स्वस्थ रहे।' तब वह युवा चित्रकार छट्ठ का तप करके स्नान करके, चंदन से शरीर पर विलेपन करके, मुख पर पवित्र आठ पड वाला वस्त्र बांधकर नवीन पींछीयों और सुंदर रंगों से उसने यक्ष की मूर्ति का चित्र बनाया। पश्चात् वह बाल चित्रकार यक्ष को नमन करके बोला कि– 'हे सुरप्रिय देवश्रेष्ठ! अति चतुर चित्रकार भी आपका चित्र को बनाने में समर्थ नहीं है, तो मैं गरीब मुग्ध बालक तो क्या हूँ? तथापि हे यक्षराज! मैंने मेरी शक्ति से जो कुछ किया है वह युक्त है या अयुक्त जो है उसे स्वीकारना। यदि कोई भूल हुई हो तो क्षमा करना। क्योंकि आप निग्रह और अनुग्रह दोनों ही करने में समर्थ हो।' हे देव! यदि आप इस गरीब पर प्रसन्न हुए हो तो मैं ऐसा वरदान मांगता हूँ कि अब आप किसी भी चित्रकार को मारना नहीं।' यक्ष बोला– मैंने तुझे मारा नहीं, तो इससे ही यह सिद्ध हो ही गया है। परंतु हे भद्र! तेरे स्वार्थ की सिद्धि के लिए भी अन्य कोई वरदान मांग ले। युवाचित्रकार बोला हे देव! आपने इस नगर में से महामारी का निवारण किया, तो इससे ही मैं कृतार्थ हूँ। यक्ष विस्मित होकर बोला– 'कुमार! परमार्थ के लिए तूने वरदान मांगा, इससे मैं तुझ पर और अधिक विशेषरूप से संतुष्ट हुआ हूँ, इसलिए स्वार्थ के लिए भी तू कुछ वरदान माँग ले।' चित्रकार बोला– 'हे देव! यदि किसी भी मनुष्य, पशु या अन्य के किसी एक अंश को भी देखूं तो उस अंश के अनुसार उसके सम्पूर्ण स्वरूप को वास्तविक रूप में आलेखन करने की शक्ति मुझे प्राप्त हो।' यक्ष ने 'तथास्तु' ऐसा कहा। नगर जनों से पूजित वह वहाँ से उस वृद्धा तथा अपने चित्रकार मित्र की इजाजत लेकर शतानीक राजा से आश्रित कौशांबी नगरी में आया।

(गा. 108 से 131)

एक बार लक्ष्मी से गर्वित कौशांबी में शतानीक राजा सभा में बैठा था। उस वक्त उसने परदेश में आते जाते दूत को पूछा कि 'हे दूत! जो अन्य राजाओं

के पास है और मेरे पास नहीं हैं, ऐसा क्या है? वह बता।' दूत बोला– 'हे राजन्! आपके यहाँ चित्रसभा (चित्रशाला) नहीं है।' यह सुनकर राजा ने शीघ्र ही चित्रकारों को आज्ञा दी कि, 'मेरे लिए एक चित्रसभा तैयार करो।' पश्चात् अनेक चित्रकारों ने एकत्रित हो करके चित्रित करने के लिए सभा का एक भाग बांट लिया। उसमें उस युवा चित्रकार के अंतःपुर के नजदीक का प्रदेश भाग में आया। वहाँ चित्रकारी करते हुए उसकी जाली में मृगावती देवी के पैर की अंगूठी सहित अंगूठा उसे दिखाई दिया। इससे 'यह मृगावती देवी होगी' ऐसा अनुमान करके वह चित्रकार यक्षराज की कृपा से उसका स्वरूप यथार्थ रूप से आलेखित करने लगा। अंत में उसके नेत्रों को चित्रित करते समय उसकी कलम में से रंग की बूंद उसके सांथल पर जा गिरी। तब शीघ्र ही चित्रकार ने उसे पोंछ डाला। किन्तु पुनः उसी स्थान पर रंग की बिंदु गिरी, तब पुनः उसे उसने मिटा दिया। पुनः तीसरी बार वहाँ टपका गिरा हुआ यह देखकर चित्रकार ने सोचा कि 'अवश्य ही उस स्त्री के उरुप्रदेश में ऐसा लांछन होगा 'तो यह लंछन क्यों न रहे? अतः इसे पोंछने का कोई अर्थ नहीं। पश्चात् मृगावती का चित्र पूर्णरूपेण आलेखित कर दिया। इतने में चित्रकारी का कार्य देखने हेतु राजा वहाँ आए। अनुक्रम से देखते देखते मृगावती का स्वरूप उसे दिखाई दिया। उस समय सांथल पर लंछन किया हुआ दृष्टिगत हुआ। तब राजा ने क्रोध से सोचा कि, 'जरूर इस पापी ने मेरी पत्नि को भ्रष्ट किया लगता है, अन्यथा वस्त्र में रहा यह लांछन उसे किस प्रकार ज्ञात हो!' कोप से उसका वह दोष प्रगट करके राजा ने निग्रह करने हेतु उसे रक्षकों के स्वाधीन कर दिया। उस समय अन्य चित्रकारों ने एकत्रित होकर राजा से कहा 'हे स्वामी! यह चित्रकार किसी यक्ष देव के प्रभाव से एक अंश देखकर सम्पूर्ण स्वरूप को यथावत् चित्रित कर सकता है, इसलिए इसमें उसका कोई अपराध नहीं है।' उनके ऐसे वचनों से क्षुद्र चित्तवाले राजा ने उस उत्तम चित्रकार की परीक्षा करने के लिए एक कुबडी दासी का मात्र मुख ही बताया। उससे उस चतुर चित्रकार ने उसका यथार्थ स्वरूप आलेखित कर बताया। यह देखकर विश्वास होने पर भी ईर्षा के वशीभूत होकर क्रोधित हुए उस चित्रकार के दक्षिण (जीमने) हाथ का अंगूठा उसने कटवा डाला।

(गा. 132 से 146)

उस चित्रकार ने उस यक्ष के पास जाकर उपवास किया, तब उस यक्ष ने उसे कहा कि 'तु वाम हस्त से भी वैसा ही चित्र बना सकेगा। यक्ष ने ऐसा

वरदान दिया। इससे उस चित्रकार ने क्रुद्धित होकर विचार किया कि 'इस दुष्ट राजा ने मुझ निरपराधी की ऐसी दुर्दशा की, इसलिए किसी भी उपाय से मैं इसका बदला लूंगा।' ''बुद्धिमान पुरुष जो पराक्रम से असाध्य हो, उसे बुद्धि से साध्य कर लेते है।'' ऐसा विचार करके उसने एक पट्टिका तपर उस विश्वभूषण मृगावती को अनेक आभूषणों सहित आलेखित की। पश्चात् स्त्रियों के लोलुपी एवं प्रचंड ऐसे चंउप्रद्योत राजा के पास जाकर वह मनोहर चित्र बताया। उसे देखकर चंडप्रद्योत ने कहा कि, ''हे उत्तम चित्रकार! तेर चित्रकौशल्य वास्तव में विधाता जैसा हील है, ऐसा मैं मानता हूँ। ऐसा स्वरूप इस मानवलोक में पूर्व में कभी भी दृष्टिगत नहीं हुआ। साथ ही स्वर्ग में भी ऐसा स्वरूप हो ऐसा श्रवणगोचर नहीं हुआ। इस उपरान्त भी अन्य नकल के बिना इसे किस प्रकार बनाया गया? हे चित्रकार! ऐसी स्त्री कहाँ है? तू हकीकत कह तो शीघ्र उसे पकड़ लाऊँ। क्योंकि ऐसी स्त्री किसी भी स्थान पर हो तो वह मेरे ही लायक है।'' राजा के ऐसे वचन सुनकर 'अब मेरा मनोरथ पूर्ण होगा।' ऐसा सोचकर हर्षित होकर उसने राजा से कहा कि, 'हे राजा! कौशांबी नगरी में शतानीक नामक राजा है। पूर्णमृगांक जैसे मुखवाली उसकी मृगावती नामक यह मृगाक्षी उस सिंह जैसे पराक्रमी राजा की पट्टरानी है। उसके यथार्थ स्वरूप को तो आलेखन करने में विश्वकर्मा भी समर्थ नहीं है, मैंने तो इसमें उसका किंचित्मात्र रूप ही चित्रित किया है। क्योंकि उसका वास्तविक रूप तो वचन से भी दूर है।' चंडप्रद्योत ने कहा कि, 'मृग के देखते हुए सिंह जैसे मृगली को ग्रहण करता है, वैसे ही मैं शतानीक राजा को देखते हुए इस मृगावती को ग्रहण कर लूंगा। तथापि राजनीति के अनुसार पहले उसकी मांग करने के लिए दूत भेजना योग्य है, कि जिससे मेरी आज्ञा मान्य करे, तो उसे कुछ भी अनर्थ न हो।' ऐसा विचार करके चंडप्रद्योत ने वज्रजंघ नामक दूत को समझाकर शतानीक राजा के पास भेजा। उस दूत ने शतानीक राजा के पास आकर कहा– 'हे शतानीक राजा! चंडप्रद्योत राजा तुमको आज्ञा देता है कि तूने दैवयोग से मृगावतीदेवी को प्राप्त किया है। परंतु वह स्त्रीरत्न तो मेरे योग्य है। तू कौन मात्र है? इसलिए यदि राज्य और प्राण प्रिय हो तो उसे शीघ्र ही यहाँ भेज दे।'' दूत के ऐसे वचन सुन शतानिक राजा बोला कि– अरे अधम दूत! तेरे मुख से तू इस प्रकार की अनाचार युक्त बात बोलता है, परंतु जा दूतपने को कारण आज तुझे मारता नहीं हूँ। जो स्त्री मेरे आधीन है, उसके लिए भी तेरे पापी राजा का ऐसा आचार

है, तो अपने स्वाधीन प्रजा पर तो उनका कैसा जुल्म होगा? इस प्रकार शतानिक ने निर्भय होकर दूत का तिरस्कार करके निकाल दिया। दूत ने अवंती में आकर यह वार्ता चंडप्रद्योत कह सुनाया। यह सुनकर चंडप्रद्योत को को बहुत क्रोध आया। इससे सैन्य के द्वारा दिशाओं को आच्छादन करता हुआ मर्यादा रहित समुद्र की तरह उस कौशांबी नगरी की ओर चल दिया। गरुड़ के आने पर सर्प की भांति चंडप्रद्योत को आया हुआ सुनकर शतानीक राजा तो क्षुभित होने से अतिसार की वजह से तत्काल ही मरण को प्राप्त हो गये।

देवी मृगावती ने विचार किया कि 'मेरे पतिदेव की तो मृत्यु हो गई और यह उदयनकुमार तो अभी अल्पबल वाला बालक है। 'बलवान् का अनुसरण करना' ऐसा नीति वाक्य है, परन्तु इस स्त्रीलंपट राजा के संबंध में तो वैसा करने से मुझे कलंक लगेगा, इसलिए उसके साथ तो कपट करना यही योग्य है। इसलिए अब तो यहीं रहकर अनुकूल संदेश से उसे लुभाकर योग्य समय के आने तक काल निर्गमन करूं।' इस प्रकार विचार करके मृगावती ने एक दूत को समझाकर चंडप्रद्योत के पास भेजा। वह दूत छावनी में स्थित प्रद्योत राजा के पास आकर बोला कि– 'देवी मृगावती ने कहलाया है कि मेरे पतिदेव शतानीक राजा तो स्वर्गस्थ हो गये, इसलिए अब मुझे तुम्हारा ही शरण है। परंतु मेरा पुत्र अभी बल रहित बालक है। इसलिए यदि मैं अभी उसे छोड़ दूं, तो पिता की विपत्ति से हुए उग्र शोकावेग की तरह शत्रु राजा भी उसका पराभव करेंगे।'' मृगावती की ऐसी विनती सुनकर प्रद्योत राजा अत्यन्त हर्षित होकर बोला कि ''मेरे रक्षक होने पर मृगावती के पुत्र का पराभव करने में कौन समर्थ है?'' दूत बोला कि– ''देवी ने भी यही कहा है कि, प्रद्योत राजा के होते हुए मेरे पुत्र का पराभव करने में कौन समर्थ है? परंतु आप पूज्य महाराजा तो दूर रहते हो और शत्रु राजा तो समीप ही रहते हैं, इसलिए ''सर्प सिरहाने और औषधियाँ हिमालय पर' इस प्रकार है। यदि आप उत्तम प्रकार से हमारे साथ निर्विघ्न योग करना चाहते हो तो उज्ज्ञयिनी नगरी से ईंटें लाकर कौशाबी के चारों ओर मजबूत किला बनवा दो।'' प्रद्योत ने वैसा करना स्वीकार किया। पश्चात् उज्ज्ञयिनी और कौशांबी के मार्ग में अपने साथ चौदह राजाओं के परिवार के साथ श्रेणिबंध स्थापित किया एवं पुरुषों की परंपरा द्वारा हाथों हाथ उज्ज्ञयिनी से ईंटे मंगवाकर अल्पसमय में ही कौशांबी के चारों ओर मजबूत किला बंधवा दिया। तब मृगावती ने दूत भेजकर कहलाया कि 'हे प्रद्योतराजा! आप धन धान्य और

ईंधनादि से कौशांबी नगरी को भरपूर कर दो। तब प्रद्योतराजा ने वह सर्व भी शीघ्र ही करवा दिया। ''आशा पाश से वश हुआ पुरुष क्या नहीं करता।'' बुद्धिमती मृगावती को ज्ञात हुआ कि, 'अब नगरी का रोध करना योग्य है।' इसलिए उसने दरवाजे बंध कर दिये और किले के ऊपर सुभटों को चढ़ा दिया। चंडप्रद्योत राजा समूह भ्रष्ट हुए कपि की तरह अत्यन्त विक्षुब्ध होकर नगरी को घेर कर पड़ा रहा।

(गा. 147 से 180)

एकदा मृगावती को वैराग्य आया कि 'जब तक श्री वीर प्रभु विचरण कर रहे हैं, तब तक ही मैं उनके पास दीक्षा अंगीकार लूं।' उसका ऐसा संकल्प ज्ञान द्वारा ज्ञात करके श्री वीर प्रभु जी सुर असुरों से परिवृत्त होकर शीघ्र ही वहाँ पधारे। प्रभु को बाहर समवसृत जानकर मृगावती पुरद्वार खोलकर निर्भयरूप से विपुल समृद्धि के साथ प्रभु के पास आई और प्रभु को वंदना करके योग्य स्थान पर बैठी। प्रद्योत राजा भी प्रभु का भक्त होने से वहाँ आकर वैर का त्याग करके बैठा पश्चात् वीर प्रभु ने एक योजन तक प्रसरती और सर्व भाषा का अनुसरण करने वाली वाणी से धर्मदेशना दी।

(गा. 181 से 187)

'यहाँ सर्वज्ञ प्रभु पधारे हैं' ऐसा लोगों से सुनकर कोई एक धनुषधारी पुरुष प्रभु के पास आया और नजदीक खड़ा होकर प्रभु से मन द्वारा ही अपना संशय पूछा। प्रभु ने फरमाया 'अरे भद्र! तेरा संशय वचन द्वारा भी कह यह तू सबको बता कि जिससे ये अन्य भव्य प्राणी प्रतिबोध को प्राप्त करे। प्रभु के इस प्रकार कहने पर भी वह लज्जावश होकर स्पष्टतया बोलने में असमर्थ हुआ, इससे वह अल्प अक्षरों में बोला कि, 'हे स्वामी! यासा, सासा। प्रभु ने भी अल्प अक्षरों में उसका 'एवमेव' ऐसा उत्तर दिया। यह सुनकर गौतम स्वामी ने पूछा कि, 'हे भगवंत! 'यासा, सासा' इन शब्दों का क्या अर्थ है? प्रभु ने फरमाया कि–

(गा. 188 से 191)

''इस भरतक्षेत्र में चंपानगरी में पूर्व में एक स्त्रीलंपट सुवर्णकार था। वह पृथ्वी पर घूमता रहता था और जो जो रूववती कन्या देखता उनको पाँचसौ सुवर्ण मोहरें देकर परणता था। इस प्रकार अनुक्रम से पांच सौ स्त्रियों से उसने शादी की एवं प्रत्येक स्त्री को उसने सर्व अंग के स्वर्णाभूषण बनवाये पश्चात् जब

जिस स्त्री की बारी आती तब वह स्त्री स्नान अंगराग आदि करके सर्व आभूषण पहनकर उसके साथ क्रीड़ा करने के लिए सज्ज होती। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी स्त्री यदि अपने वेश में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करती तो वह उसका तिरस्कार व ताड़न आदि करता था। अपनी स्त्रियों पर अति ईष्यालु भाव से उनके रक्षण में तत्पर वह सोनी नाजर (नजरबंध) की भांति कभी भी गृहद्वार को छोड़ता नहीं था। वह अपने स्वजनों को कभी भी अपने घर बुलाकर किसी भी दिन जिमाता (भोजन कराता) नहीं था। साथ ही स्त्रियों के अविश्वास से स्वयं भी अन्य किसी के घर पर जीमने जा नहीं सकता था।

(गा. 192 से 197)

एक बार उसका कोई प्रियमित्र, यद्यपि उसकी इच्छा नहीं थी तथापि उसे अत्याग्रह से अपने घर भोजन हेतु ले गया। क्योंकि यह मैत्री का आद्य लक्षण है। सोनी के जाने के पश्चात् उसकी सर्व स्त्रियाँ ने सोचा कि "अपने घर को, अपने यौवन का और अपने जीवन को भी धिक्कार है कि जिससे अपन यहाँ कारागृह की भांति बंदीवान होकर रहती है। अपना यह पापी पति यमदूत की तरह कभी भी द्वार छोड़ता नहीं है। परंतु आज तो वह कहीं गया है, यह अच्छा हुआ। इसलिए चलो आज तो अपन इच्छानुसार वर्तन करें। ऐसा विचार करके सर्व स्त्रियों ने स्नान करके, अंगराग लगाकर उत्तम पुष्पमालादि धारण करके सुशोभित वेश धारण किया। पश्चात् जैसे ही वे सर्व हाथ में दर्पण लेकर अपना-अपना रूप उसमें देख रही थी कि इतने में वह सोनी वहाँ आ गया और यह देखकर अत्यन्त क्रोधित हुआ। इससे उनमें से एक स्त्री को पकड़ कर ऐसी मारी कि जिससे वह हाथी के पैर के नीचे कुचली हुई कमलिनी की तरह मृत्यु को प्राप्त हो गई। यह देखकर अन्य स्त्रियों ने विचार किया, 'इस प्रकार तो अपन सबको ही यह दुष्ट मार डालेगा, इसलिए अपन सब इकट्ठी होकर इसे ही मार डाले। ऐसे पापी पति को जीवित रखने से भी क्या फायदा? ऐसा विचार करके उन सबने निःशंक होकर चार सौ निन्याणवे दर्पण चक्र की भांति उस पर फेंके, फलस्वरूप वह सोनी शीघ्र ही मर गया। पश्चात् वे सर्व स्त्रियाँ पश्चात्ताप करती हुई चितावत् गृह को जला कर उसके अंदर रहकर स्वयं भी जलकर मृत्यु को प्राप्त हो गई। पश्चात्ताप के योग से अकाम निर्जरा होने से वे चार सौ निन्याणवें स्त्रियाँ मरकर पुरुष रूप में उत्पन्न हुई। दुर्दैवयोग से वे सब इकट्ठे मिलकर किसी अरण्य में किला बनाकर रहते हुए चोरी का धंधा करने लगे। वह सोनी मर कर तिर्यञ्च

गति में उत्पन्न हुआ और उसकी जो एक पत्नि पहले मर गई थी, वह भी तिर्यञ्च में उत्पन्न हुई एवं बाद में वह ब्राह्मण कुल में पुत्र रूप में पैदा हुई। उसकी पांच वर्ष की वय होने पर वह सोनी उसी ब्रह्माण के घर पर उसकी बहन रूप में उत्पन्न हुई। माता–पिता ने उस पुत्री का पालक उस पुत्र को रखा। वह अपनी बहन का भलीभांति पालन करता था, तथापि अति दुष्टता से वह रोती रहती थी। एक बार वह द्विजपुत्र उसके उदर को सहलाता सहलाता उसके गुह्य स्थान को छू गया। तो वह रोती रोती बंद हो गई। इससे उसने यह रुदन बंद करने का उपाय जान लिया। उसके पश्चात् जब भी वह रुदन करती, तब वह उसके गुह्य स्थान को स्पर्श करता था, तो रोती हुई चुप हो जाती थी। एक बार उसके माता–पिता ने उसे वैसा करते देख लिया तो क्रोध से उसे मारकर घर से बाहर निकाल दिया। वह किसी गिरि की गुफा में चला गया। अनुक्रम से उसी पाल में वे चार सौ निन्याणवे पुरुष रहते थे, वहाँ वह जा पहुँचा और उन चोरों के साथ समागम होने से वह भी उनमें सम्मिलित हो गया। इधर उसकी बहन युवावस्था प्राप्त होने पर कुलटा हो गई। वह स्वेच्छा से घूमती किसी गांव में आई। उन चोरों ने उसी गांव को लूट लिया और उस कुलटा को पकड़ लिया एवं इन सभी ने उसे स्त्री रूप में अंगीकार किया। एक बार उन सबने विचार किया कि 'यह बिचारी अकेली है, इससे अपने सबके साथ भोग विलास करने से अवश्य ही थोड़े ही समय में मर जाएगी। इसलिए कोई दूसरी स्त्री को ले आए तो अच्छा। ऐसा विचार करके वे दूसरी स्त्री ले आए। तब वह कुलटा स्त्री ईर्ष्या से उसके छिद्र शोधने लगी एवं अपने विषय में भाग लेने वाली मानने लगी। एक बार वे सभी चोर चोरी करने के लिए किसी स्थान पर गये। उस समय छल करके पहली स्त्री उसे कुए के पास ले गई और बोली कि, 'भद्रे! देख इस कुए में क्या है ? वह सरल स्त्री उसमें देखने गई तो उसने उसे धक्का मारकर अंदर डाल दिया। चोरों ने आकर पूछा कि वह स्त्री कहाँ है ? तब वह बोली कि मुझे क्या मालूम ? तुम तुम्हारी पत्नि को क्यों संभालते नहीं ? चोरों ने जान लिया कि अवश्य ही उस बिचारी को इसने ईर्ष्या से मार डाला है। उस ब्राह्मण ने सोचा कि 'कहीं यह मेरी दुःशीला भगिनी तो नहीं है ? इतने में उसने लोगों के पास सुना कि यहाँ सर्वज्ञ भगवन्त पधारे हैं। इसलिए वह यहाँ आया और अपनी बहन के दुःशील के विषय पूछने में लज्जा आने से पहले तो उसने मन में ही पूछा, तब मैंने उसे कहा कि 'वाणी से पूछ'। तब उसने 'यासा सासा' ऐसे शब्दों से 'वह स्त्री क्या मेरी बहन है ?' ऐसा पूछा। उसका मैंने एवं इतना ही उत्तर

देकर 'वह उसकी बहन है' ऐसा बता दिया। इस प्रकार रागद्वेषादिक से मूढ़ हुए प्राणी इस संसार में भव भव में भ्रमण करते रहते हैं और विविध दुःख के पात्र होते रहते हैं।

(गा. 198 से 227)

इस प्रकार सर्व हकीकत सुनकर वह पुरुष परम संवेग को प्राप्त कर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण करके पुनः पल्ली में आया। वहाँ जाकर उसने चार सौ निन्याणवे चोर को प्रतिबोध दिया, तब उन सबने भी व्रत ग्रहण किया।

(गा. 228 से 229)

योग्य समय जानकर मृगावती ने उठकर प्रभु को नमन करके कहा कि'चंडप्रद्योत राजा की आज्ञा लेकर मैं दीक्षा लूंगी।' तब चंडप्रद्योत के पास आकर उसने कहा कि– ''यदि आपकी संमति हो तो मैं दीक्षा ले लूँ, कारण कि मैं इस संसार से उद्विग्न हो गई हूँ और मेरा पुत्र तो तुमको ही सौंप दिया है।'' यह सुनकर प्रभु के प्रभाव से प्रद्योत राजा का वैर शांत हो गया। तब उसने मृगावती के पुत्र उदयन को कौशांबी नगरी का राजा बनाया और मृगावती को दीक्षा लेने की आज्ञा दी। मृगावती ने प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की। उसके साथ अंगारवती आदि प्रद्योत राजा की आठ स्त्रियों ने भी दीक्षा ली। प्रभु ने कितनीक शिक्षा देकर उनको चंदना साध्वी को सौंप दिया। उन्होंने उन साध्वी की सेवा करके सर्व समाचारी ज्ञात कर ली।

(गा. 230 से 234)

इधर परम समृद्धि से निरुपम ऐसा वणिज ग्राम नामका एक विख्यात नगर था। उसमें पिता के समान पालनकर्ता जितशत्रु नामका प्रख्यात राजा राज्य करता था। उस नगर में पृथ्वी पर चंद्र आया हो, वैसे जिनके दर्शन से नेत्रों को आनंद हो वैसा 'आनंद' नाम का एक गृहपति रहता था। चंद्र को रोहिणी की तरह उसे 'शिवानंदा' नाम की रूप लावण्यवती एक पत्नि थी। उसने चार करोड़ सौनैया भंडार में, चार करोड़ ब्याज में, और चार करोड़ व्यापार में रोके थे। तथा गायों के चार गोकुल थे। उस नगर की ईशान दिशा में आए कोल्लाक नामक परे में उस आनंद के अनेक बंधुजन और संबंधी रहते थे। किसी समय पृथ्वी पर विचरण करते हुए त्रिशलानंदन श्री वीरप्रभु उस नगर के द्युतिपलाश नाम के उद्यान में समवसरे। राजा जितशत्रु प्रभु का आगमन श्रवण

करके संभ्रम से परिवार के साथ उनको वंदन करने गया। आनंद भी पैदल चलकर प्रभु के चरणों के समीप आया एवं कर्ण को अमृत के गंडूष (कुल्ले) जैसी प्रभु की देशना सुनने के पश्चात् महान् मनवाले आनंद ने प्रभु के चरण में नमन करके बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया।

(गा. 235 से 243)

उसने शिवानंदा सिवा अन्य स्त्रियाँ और निधि में, ब्याज में और व्यापार में रहे बारह कोटि सौनैया उपरांत अन्य द्रव्य का त्याग किया। गायों के चार घण बिना अन्य घण का और पांच सौ हल उपरांत अन्य हलका साथ ही 100 क्षेत्र उपरांत क्षेत्र का भी त्याग किया। पाँच सौ गाड़े के अतिरिक्त अन्य गाड़ों का व्यापार निमित्त से त्याग किया। दिशाओं में प्रवास करने के लिए चार वाहन उपरांत अन्य वाहनों का त्याग किया। गंधकाषायी (रक्त/लाल) वस्त्र के बिना अंग पोंछने के वस्त्र का त्याग किया। आर्द्र (हरी) मधुयष्टि (मुलेठी) के सिवा अन्य दंतधावन (दातुन) का त्याग किया। क्षीरामलक (मधुर आँवले) के बिना अन्य फल त्याग दिये। सहस्रपाक तथा शतपाक तेल के बिना अन्य अभ्यंग का त्याग किया। एक जाति के सुगंधी गंधाढ्य उद्वर्त्तन के बिना अन्य उद्वर्त्तन (उबटन) त्याग दिये एवं आठ औष्ट्रीक (न छोटे, न बड़े घड़े औष्ट्रीक कुंभ कहलाते हैं) पानी के कुंभ से अधिक पानी से नहाना त्याग दिया। क्षोमयुगल (दो सूतीवस्त्र) सिवा अन्य वस्त्रों का त्याग कर दिया। श्रीखंड, अगर तथा केसर के बिना अन्य विलेपन छोड़ दिये। मालती की माला सिवा अन्य मालाओं का तथा कमल सिवा अन्य पुष्पों का त्याग किया। कर्णिका (कर्णफूल) तथा नामांकित मुद्रिका के सिवा आभूषणों का त्याग कर दिया। एवं तुरुष्क (सेल्हारस) तथा अगरु सिवा अन्य धूप का त्याग किया। घेवर तथा खांड के खाजे सिवा अन्य सुखड़ी त्याग दी। काष्टपेया (मूंग आदि से युक्त घी में तली तंदुल की पेया) बिना अन्य पेय भोजनों का त्याग किया। कमलशाली बिना भात का त्याग किया एवं उड़द, मूंग तथा कलाय (एक प्रकार का चने जैसा धान्य–मटर या मसूर) बिना दालों को वोसरा दिया। शरद ऋतु के गाय के घी के बिना अन्य घी भी त्याग दिया और स्वस्तिक, मंडूकी एवं वालुकी (उस समय की प्रचलित सब्जी, अनाज के सन्दर्भ में अज्ञात है) के अतिरिक्त अन्य अम्ल पदार्थों का एवं आकाश के पानी के सिवा अन्य को भी त्याग दिया। साथ ही पंचसुगंधी तंबोल के अतिरिक्त अन्य तंबोल का भी त्याग कर दिया।

(गा. 244 से 257)

इस प्रकार नियम लेकर हर्षित होता हुआ आनंद घर आया एवं स्वयं ने ग्रहण किये हुए गृहस्थ धर्म की सविस्तर हकीकत शिवादेवी को कही। यह सुनकर गृहिधर्म की अर्थी शिवानंदा भी अपने कल्याण हेतु शीघ्र ही वाहन में बैठकर प्रभु के चरणों में आई। प्रभु को नमन करके शिवानंदा ने भी समाधित चित्त से उनके समक्ष गृहिधर्म अंगीकार किया। पश्चात् भगवंत की वाणी रूपी सुधा के पान से हर्षित होती हुई प्रकाशित विमान जैसे वाहन पर आरुढ होकर अपने घर आई। तब गौतमस्वामी ने प्रणाम करके सर्वज्ञ को पूछा कि, 'हे स्वामी! ये महात्मा आनंद यतिधर्म को ग्रहण करेंगे ? त्रिकालदर्शी प्रभु ने फरमाया कि 'आनंद श्रावक चिरकाल तक श्रावक धर्म का पालन करेगा और मरण के पश्चात् सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान में चार पल्योपम की आयुष्य वाला देव होगा।

(गा. 258 से 264)

गंगा के किनारे पर रही हंसों की श्रेणि जैसी सुंदर चैत्यध्वजाओं से सुशोभित चंपा नामक एक महानगरी थी। उसमें सर्प जैसी भुजा वाला एवं लक्ष्मी के कुलगृह रूप जितशत्रु नामका राजा था। उस नगर में कामदेव नामक एक बुद्धिमान् कुलपति रहता था। वह मार्ग में आए महान् वृक्षों के समान अनेक लोगों का आश्रयभूत था। स्थिर रही लक्ष्मी जैसी तथा भद्र आकृतियुक्त भद्रा नामक उसकी सहधर्मिणी थी। उसके छः करोड सोनैया भंडार में, छः करोड़ व्यापार में थे। दस दस हजार गाय वाले छः गोकुल थे। किसी समय पृथ्वी पर विचरण करते हुए श्री वीरप्रभु पृथ्वी के मुखमंडन सदृश वे नगर बहिर्उद्यान में आकर समवसरे। ये समाचार श्रवण कर कामदेव, चलता हुआ भगवंत के पास और श्रवण की अमृतरूप धर्मदेशना सुनी। पश्चात शुद्ध बुद्धि वाले कामदेव ने देव, मनुष्य और असुरों के समक्ष गुरु श्री वीरप्रभु के सम्मुख बारह प्रकार का गृहिधर्म अंगीकार किया। उसने भद्रा के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का गायों के छः गोकुल उपरांत अन्य गायों का एवं भंडार, ब्याज व व्यापार में रहे छः कोटि द्रव्य के अतिरिक्त द्रव्य का परित्याग किया। शेष अन्य वस्तुओं का भी आनंद श्रावक के समान ही नियम ग्रहण किया। प्रभु को नमन करके अपने गृह आया एवं स्वयं के ग्रहण किये श्रावक व्रत के संबंध में भद्रा को कहा। तब भद्रा ने भी प्रभु के समक्ष आकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

(गा. 265 से 275)

गंगानदी के तीर पर काशी नामकी एक उत्तम नगरी थी। जो कि विचित्र और रमणीय रचना से पृथ्वी के तिलक की शोभा हो वैसी दृष्टिगोचर हो रही थी। अमरावती में इंद्र के तुल्य उस नगरी में अखंडित पराक्रम वाला जितशत्रु नामका उत्तमराजा था, और मानो मानवधर्म मनुष्यत्व को संप्राप्त हो वैसा चुलनीपिता नाम का एक धनाढ्य गृहस्थ वहाँ रहता था। जगत् को आनंद दायक उस गृहस्थ के चंद्र के श्यामा तुल्य श्यामा नामकी एक अनुकूल रूपवती रमणी थी। उस श्रेष्ठी के पास आठ करोड़ भंड़ार में, आठ करोड़ ब्याज में तथा आठ करोड़ व्यापार में कुल मिलाकर चौवीस करोड़ सोना मोहर की संपत्ति थी। एक एक गोकुल में दश दश हजार गायवाले आठ गोकुल थे। जो कि लक्ष्मी के कुलगृह सम शोभते थे। किसी समय उस नगरी के कोष्टक नामक उद्यान में विहार करते हुए श्री वीरप्रभु जी समवसरे। तब इंद्र सहित देवगण, असुर और जितशत्रु राजा भी प्रभु को वंदन करने आए। इसी प्रकार ये समाचार श्रवण करके चुलनीपिता भी जगत्पति वीरप्रभु को वंदन करने की इच्छा से योग्य आभूषण पहन कर पैदल चलकर वहाँ आया। भगवंत को नमन करके योग्य स्थान पर बैठकर चुलनीपिता ने परम भक्ति से अंजलीबद्ध होकर धर्मदेशना सुनी। जब पर्षदा उठी, तब चुलनीपिता ने प्रभु के चरणों में नमन करके विनीत होकर कहा कि, ''हे स्वामी! हम जैसों को बोध देने के लिए आप पृथ्वी पर विचरण करते हो, क्योंकि सूर्य का संक्रमण जगत् को प्रकाश देने के अतिरिक्त अन्य कोई भी अर्थ से होता नहीं हैं। सर्वजन जननी के पास जाकर याचना करे तो वह भी कभी दे और कभी कभी न भी दे। परंतु आप तो याचना बिना भी बोध प्रदान करते हो। उसका हेतु तो मात्र आपकी कृपा ही है। मैं जानता हूँ कि आपके समीप यतिधर्म ग्रहण करूं तो ठीक, परंतु मेरे जैसा मंदभागी मनुष्य में वैसी योग्यता नहीं है। इसलिए हे नाथ! मैं श्रावक धर्म की याचना करता हूँ। वे मुझे प्रसन्न होकर प्रदान करें। क्योंकि मेघ स्वयमेव जल वहन करके योग्य स्थल पर बरसता हैं। प्रभु ने कहा कि ''जिसमें सुख उपजे वैसा करो। प्रभु की सहमति प्राप्त होते ही उसने बारह प्रकार का श्रावक धर्म ग्रहण किया। चौबीस कोटि धन से विशेष धन का और गायों के आठ गोकुल से अधिक गोकुल का उसने त्याग किया। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का भी कामदेव श्रावक के समान उससे नियम लिया। उस की पत्नि श्यामा ने भी प्रभु के पास श्रावक के व्रत अंगीकार किये। उस समय गौतम गणधर ने प्रभु को नमन करके पूछा कि, ''हे स्वामी!

यह चुलनीपिता श्रावक महाव्रतधारी होंगे या नहीं?" प्रभु ने फरमाया कि, "वह इस भव में यति धर्म को प्राप्त नहीं करेगा, वरन् गृहस्थ धर्म प्रीतिपूर्वक पालकर मृत्यु के पश्चात् वह सौधर्म देवलोक में देव होगा। वहाँ अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम की आयुष्य भोग कर वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर निर्वाण को प्राप्त करेगा।"

(गा. 276 से 293)

उस ही नगर में सुरादेव नामका गृहस्थ रहता था। उसके धन्या नाम की प्रिया थी। उसके पास भी कामदेव के समान विपुल धन था। उसने भी कामदेव के समान प्रभु के पास जाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये और धर्म से धन्य उसकी धन्या नाम की उसकी पत्नि ने भी श्रावक व्रत ग्रहण किया।

(गा. 294 से 298)

श्री वीर प्रभु वहाँ से विहार करके आलंभिका नगरी में पधारे। वहाँ शंखवन नाम के उद्यान में प्रभु समवसरे। उस नगरी में चुल्लशतक नाम का गृहस्थ रहता था। वह भी कामदेव के समान ऋद्धिवान् था। उसके बहुला नाम की स्त्री थी। वह भी कामदेव की भांति श्री वीरप्रभु के चरणों में गया और अपनी बहुला स्त्री के साथ उसने गृहिधर्म और अन्य नियम भी ग्रहण किए।

(गा. 299 से 301)

किसी समय विहार करते करते प्रभु कंपिल्यपुर में आये एवं सहसाम्रवन नामक उद्यान में समवसरे। वहाँ कामदेव के समान धनवान् कुंडकोलिक नाम का गृहस्थ रहता था। उसके शीलद्वारा अलंकृत पुष्पा नाम की स्त्री थी। उसने भी पुष्पा के साथ कामदेव की तरह प्रभु के पास जाकर व्रत और अन्य नियम ग्रहण किये।

(गा. 302 से 304)

पोलाशपुर नाम के नगर में शब्दालपुत्र नामका एक कुंभार रहता था। वह गोशालक का उपासक था। उसके अग्निमित्रा नामकी स्त्री थी। उसके एक कोटी सौनैया भंडार में, एक कोटि ब्याज में और एक कोटि व्यापार में थे। इस प्रकार एक गायों का गोकुल था। पोलाशपुर के बाहर उस कुंभार की पांच सौ दुकाने उसके मिट्टी के बर्तन बेचने की थी। किसी समय अशोक वन में किसी देवता ने

आकर उसे कहा कि, 'कल प्रातः काल में महाब्रह्म और त्रिलोक पूजित सर्वज्ञ प्रभु यहाँ आयेंगे। उनको पीठ फलक और संस्तारक आदि के द्वारा उनकी तू सेवा करना।' इस प्रकार तीन बार कहकर वह देव अंतर्धान हो गया। शब्दाल पुत्र कुंभार ने भक्ति से विचार किया कि, 'अवश्य ही मेरे धर्मगुरु सर्वज्ञ ऐसे गोशाला ही प्रातः काल यहाँ आयेंगे।' ऐसा विचार करके वह उनकी राह देख रहा था, कि इतने में प्रातः काल में श्री वीरप्रभु सहस्रामवन नामक उद्यान में आकर समवसरे। यह हकीकत सुनकर कुंभकार ने वहाँ जाकर भगवंत को वंदना की। प्रभु ने देशना देकर कुलाल को संबोधित करके कहा कि– "हे शब्दालपुत्र! गत दिन (कल) किसी देवता ने अशोकवन में आकर तुझे कहा था कि, कल प्रातः काल में ब्रह्मा और सर्वज्ञ ऐसे अर्हन्त प्रभु यहाँ आयेंगे। तुझे उनको पीठ फलक आदि के द्वारा उपासना करनी है। उस समय तूने भी यह सोचा था कि, प्रातःकाल में गोशाला यहाँ आयेंगे।" ऐसे प्रभु के वचन सुनकर उसने चिंतन किया कि, अहो! ये सर्वज्ञ महाब्राह्मण अर्हन्त श्री महावीर प्रभु ही यहाँ पधारे हैं, तो वे मेरे नमस्कार करने योग्य हैं और सर्वथा उपासना करने योग्य हैं।' इस प्रकार विचार करके खड़े होकर प्रभु को नमन करके अंजलीबद्ध होकर बोला कि, "हे स्वामी! इस नगर के बाहर जो मेरी पांच सौ कुंभार की दुकानें हैं, उसमें विराजो और पीठ, फलक आदि जो कुछ चाहिये, वह ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह करो।" प्रभु ने उसका वचन स्वीकार किया और गोशाला की शिक्षा से उसके ग्रहण किये नियतिवाद से युक्तिपूर्वक निवृत्त कर दिया। तब उसने नियतिवाद को छोड़कर पुरुषार्थ को प्रमाण करके आनंद श्रावक की भांति प्रभु के समीप श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

(गा. 305 से 319)

उसके नियम में इतना विशेष था कि उसने भंडार, ब्याज और व्यापार में मिलाकर तीन कोटि स्वर्ण रखा और गायों का एक गोकुल रखा। उसके अग्निमित्रा नामक पत्नि थी, उसने उसको भी प्रतिबोध दिया। उसने भी प्रभु के पास जाकर श्रावक के व्रत स्वीकारे किये। पश्चात् प्रभु ने वहाँ से अन्यत्र विहार किया।

(गा. 320 से 321)

गोशाला ने लोकवाणी से सुना कि 'शब्दालपुत्र ने आजीविका मत छोड़कर निर्ग्रन्थ साधुओं के शासन को स्वीकार कर लिया है। इसलिए चलो मैं वहाँ

जाकर उस शब्दालपुत्र को पुनः आजीविकामत में पूर्व की भांति स्थापित करूं।' ऐसी धारणा करके गोशाला अपने मतवालों से परिवृत्त होकर उसके घर आया। शब्दालपुत्र ने गोशाला को दृष्टि से भी मान नहीं दिया। इससे शब्दालपुत्र को अपने मत में स्थापित करने और श्रावक व्रत में से चलित करने में अशक्त होने पर गोशाला वहां से वापिस चला गया।

(गा. 322 से 326)

किसी समय वीरप्रभु राजगृह नगर के बाहर गुणशील नाम चैत्य में समवसरे। उस नगर में चुलनीपिता की जितनी समृद्धिवाला महाशतक नामक एक गृहस्थ था। उसके रेवती आदि तेरह पत्नियाँ थी। रेवती आठ कोटि सुवर्ण और आठ गायों का गोकुल अपने पिता के यहाँ से लाई थी एवं अन्य स्त्रियाँ एक कोटि सुवर्ण और एक एक गायों का गोकुल लाई थी। उसे भी चुलनीपिता के समान प्रभु के पास श्रावक के व्रत और नियम ग्रहण किये, साथ ही तेरह स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का त्याग किया। एकदा प्रभु विहार करते करते श्रावस्तीपुरी में आए। वहाँ कोष्टक नामक उपवन में समवसरे। उस नगरी में आनंद के समान ऋद्धिवान् नंदिनी पिता नाम का गृहस्थ था। चंद्र को अश्विनी की भांति अश्विनी नामकी उसके प्रिया थी। श्री वीरप्रभु के मुख से धर्म देशना सुनकर आनंद की भांति श्रावकत्व ग्रहण किया।

(गा. 327 से 333)

इस प्रकार देवताओं से भी अक्षोभ्य और पर्वत के तुल्य श्रावक जीवन में स्थिर रहने वाले श्री वीरप्रभु के मुख्य दस श्रावक हुए। इस प्रकार कमलों को सूर्य के सदृश भव्यजनों को प्रतिबोध करते हुए श्री वीरप्रभु भगवन्त भ्रमण करते हुए कौशाम्बी नगरी में पधारे। दिन के अंतिम प्रहर में चंद्र, सूर्य स्वाभाविक (शाश्वत) विमान में बैठकर प्रभु को वंदन करने हेतु आए। उनके विमान के तेज से आकाश में उद्योत हुआ देखकर लोग कौतुक से वहीं बैठे रहे। रात्रि हो जाने से स्वयं के उठने का समय देखकर चंदना साध्वी अपने परिवार के साथ वीर प्रभु को वंदन करके अपने उपाश्रय में चली गई। परंतु मृगावती सूर्य के उद्योत के तेज द्वारा दिन के भ्रम में रात हुई जान न सकी। इससे वह वहाँ ही बैठी रही। पश्चात् जब सर्य, चन्द्र चले गये, तब मृगावती को रात की जानकारी हुई, तब कालातिक्रम के भय से चकित हुई वह उपाश्रय में आई। चंदना जी ने

उसे कहा कि, 'अरे मृगावती! तुम्हारे जैसी कुलीन स्त्री को रात्रि में अकेले बाहर रहना क्या शोभा देता है? ये वचन श्रवण कर वह चंदना जी को बारम्बार खमाने लगी। ऐसे करते करते शुभ भावों के द्वारा घाती कर्मों के क्षय से मृगावती को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय निद्राधीन हुई चंदना के पार्श्व से सर्प जा रहा था, उसे केवलज्ञान की शक्ति से दृष्टिगोचर होने पर मृगावती ने उनका हाथ संथारे से ऊंचा कर दिया। फलस्वरूप चंदना जी जागृत हो गई और उन्होंने पूछा कि 'मेरा हाथ क्यों उठाया? मृगावती बोली– 'यहाँ से एक विशाल विषधर जा रहा था। चंदना से पुनः पूछा कि, अरे मृगावती! ऐसे सूई बिंधे जैसे गाढ़ अंधकार में तुमको सर्प किस प्रकार दिखाई दिया? मुझे इससे विस्मय होता है।' मृगावती ने कहा– 'हे भगवती! मैंने उत्पन्न हुए केवलज्ञान रूपी चक्षु से उसे देखा। यह सुनते ही अरे! केवलज्ञानी की आशातना करने वाली मुझे धिक्कार हो, इस प्रकार अपनी आत्मा की निंदा करते हुए चंदना को भी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

(गा. 334 से 349)

इसी समय गौतम स्वामी ने प्रभु को पूछा कि, 'स्वामी! जो स्थिर पदार्थ है, वे क्या कभी अपने स्वभाव से चलित होते होंगे? जैसे कि सूर्य, चन्द्र के विमान चलित होकर यहाँ आये? प्रभु के कहा कि ''इस अवसर्पिणी में दस आश्चर्य हुए हैं। वे इस प्रकार हैं– अरिहंत को केवलज्ञान होने के पश्चात् उपसर्ग, गर्भ में से हरण, सूर्यचंद्र के विमान का अवतरण, चमरेन्द्र का उत्पात, अभावी परिषद्, एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक सौ और आठ सिद्ध, घातकी खंड की अपरकंका में कृष्ण का गमन, असंयमी की पूजा, स्त्री तीर्थंकर एवं हरिवंशकुल की उत्पत्ति इन दस आश्चर्यों के अन्तर्गत सूर्य–चंद्र के विमान का अवतरण भी आश्चर्यभूत ही हुआ है। इस प्रकार कहकर विहार करके प्रभु श्रावस्तीनगरी में पधारे। वहाँ नगर के बाहर कोष्टक नामक उद्यान में समवसरे।

(गा. 350 से 354)

वहाँ तेजोलेश्या के बल से विरोध का नाशक अष्टांग निमित्त के ज्ञान से लोगों के मन की बात का कथक एवं जिन नहीं होने पर भी जिन नामक का धारक, गोशाला पहले से आया हुआ था। वह हालाहला नामकी किसी कुंभकारी की दुकान में उतरा हुआ था। उसकी 'अर्हंत्' के रूप में ख्याति सुनकर मुग्ध

लोग प्रतिदिन उसके पास आकर उपासना करते थे। उस समय गौतम स्वामी प्रभु की आज्ञा से छट्ठ का पारणा करने के लिए नगर–भिक्षाटन के लिए पधारे। वहाँ उन्होंने सुना कि यहाँ गोशाला अर्हन्त और सर्वज्ञ के नाम से विख्यात होकर आया हुआ है। यह सुनते ही गौतमस्वामी खेद प्राप्त कर भिक्षा लेकर प्रभु के पास आए। पश्चात् विधिपूर्वक पारणा करके योग्य अवसर पर गौतमस्वामी ने सर्व लोगों के समक्ष स्वच्छबुद्धि से प्रभु को पूछा कि हे स्वामी! इस नगरी में लोग गोशाला को सर्वज्ञ कहकर बुलाते हैं, वह वस्तुतः है या नहीं? प्रभु ने फरमाया कि, "यह मंख और मंखली का पुत्र गोशाला है। यह कपटी अजिन होने पर भी अपनी आत्मा को जिन मानता है। हे गौतम! मैंने ही उसे दीक्षा दी है, शिक्षा भी मैंने ही दी है। और उसके पश्चात् वह मिथ्यात्वी हो गया। वह सर्वज्ञ नहीं है।" प्रभु के ऐसे वचन सुनकर नगर के लोग नगर में चारों तरफ चौराहों में और गलियों में परस्पर कहने लगे कि अहो भाई! श्री वीरप्रभु अर्हंत यहाँ पधारे हुए हैं, वे कहते हैं कि, यह गोशाला वह मंखलीपुत्र है और वह स्वयं मिथ्या ही अपने को सर्वज्ञ मानता है।' इस प्रकार के लोगों से यह सुनकर गोशाले को काले सर्प के समान अत्यन्त कोप उत्पन्न हुआ। इसके लिए अपने परिवार से परिवृत होकर कुछ विपरीत करने के लिए उद्यत हुआ।

(गा. 355 से 366)

इसी समय प्रभु के शिष्य और स्थविरों में अग्रणी आनंदमुनि छट्ठ का पारणा करने के लिए नगरी में भिक्षा लेने हेतु पधारे। जिस हालाहल कुंभकारी के घर गोशाला रहता था, वहाँ से आनंद मुनि पसार हुए। तब गोशाला ने उनको बुलाया और कहा "अरे आनंद! तेरा धर्माचार्य लोगों में अपना सत्कार करवाने की इच्छा से सभा के बीच मेरा अत्यन्त तिरस्कार करते हैं, और कहते हैं कि गोशाला तो मंख पुत्र है, अर्हन्त तथा सर्वज्ञ नही है, परंतु अभी वह शत्रु को दहन करने में समर्थ, ऐसी मेरी तेजोलेश्या को जानते नहीं हैं। परंतु मैं उनको परिवार सहित भस्म कर दूंगा। मात्र तुझे अकेले को छोड़ दूंगा। इस पर एक दृष्टान्त सुन–

(गा. 367 से 371)

पूर्व में क्षेमिला नगरी में अवसर, प्रसर, संवाद, कारक और भलन नाम के पांच वणिक रहते थे। किसी समय वे कुछेक किराने के गाड़े भरकर व्यापार

करने निकले। मार्ग में जाते हुए किसी निर्जन अरण्य में आए। वहाँ वे पांचों जन मरुस्थल में गये हो वैसे तृषा से आक्रान्त हो गए। इसलिए वे उस महाटवी में अटन करके जल की तलाश करने लगे उनमें से अवसर को घूमते घूमते वहां पांच शिखर वाला वल्मीक दिखाई दिया, उसने उसे चारों ही मित्रों को बताया। तब उन सबने मिलकर उनमें से पूर्व का शिखर तोड़ा। उसमें से बहुत सा जल निकला। उसका पान करके वे सभी स्वस्थ हुए। तब प्रसर ने कहा कि इसके दक्षिण शिखर को भी तोड़े, तो उसमें से भी अपने को अवश्य ही कोई अन्य वस्तु मिलेगी। तब अवसर ने कहा कि, 'अपने को वह खोदना योग्य नहीं है, क्योंकि वल्मीक सर्प का ही स्थान होता है। यह सुन कर संवाद बोला कि, तुम्हारे बोलने में बहुत अन्तर है क्योंकि प्रथम ही फोड़े शिखर से सर्प निकला नहीं है जल निकला है 'इसी प्रकार कभी दैवयोग से इसमें से अन्य वस्तु भी निकल सकती है। इस प्रकार कहकर कारक उसे खोदना लगा। तब ऐसा करने में मेरा मत नहीं है, ऐसा कहकर अवसर अपने गाड़े में बैठकर आगे चल दिया। तब भलन बोला कि 'अवसर जाता है तो जाए, अपन तो इसके बिना भी अपन इस शिखर को तोड़ेंगे। उसे खोदने पर उसमें से तांबे के सिक्के निकले। तब अवसर के अतिरिक्त उन चारों ने वह बांट लिया। लोभ ने उन्होंने तीसरा शिखर खोदा, तो उसमें से चांदी निकली, तो वह भी चारों ने बांट ली। पश्चात् चौथा शिखर खोदा, तो उसमें से स्वर्ण निकला। लोभ से चांदी को छोड़कर उस सुवर्ण का विभाजन कर लिया। उस समय सबने विचार किया कि इस पांचवें शिखर में से अवश्य ही रत्न होंगे। इस विचार से उन लोभांध वणिकों ने उसे भी खोदा। क्योंकि 'लाभ से लोभ बढ़ता है।' परंतु अत्यंत मंथन किये हुए समुद्र में से अंत में कालकूट ही निकला था, उसी भांति उस शिखर को खोदते समय एक दृष्टिविष सर्प निकला। उस सर्प ने वल्मीक के ऊपर चढ़कर सूर्य के सामने देखकर विषदृष्टि से देखा, तो वृषभ सहित चारों गाड़े और चारों ही वणिक शीघ्र ही उसमें दहन हो गये। उस अवसर को निर्लोभी जानकर उसकी अधिष्ठाता देवी ने बैल और गाड़े सहित निश्चित स्थान पर पहुँचा दिया।''

(गा. 372 से 390)

हे आनंदमुनि! उन चार वणिकों की भांति मैं तेरे गुरु को जला दूंगा और उस अवसर की तरह तुझे छोड़ दूंगा। इस प्रकार सुनकर शिक्षा समाप्त करके आनंद मुनि प्रभु के पास आये एवं गोशाला ने जो कहा था, वह सब कह

सुनाया। तब उन्होंने शंकित होकर पूछा कि, 'हे स्वामी! गोशाला ने कहा कि मैं भस्म कर डालूंगा' वह उसका उन्मत्त भाषण है या वह वैसा करने में समर्थ है ? तब प्रभु ने फरमाया कि वह अर्हन्त के अतिरिक्त अन्य पर वैसा कर सकता है। अनार्य बुद्धि से अर्हन्त को मात्र संताप ही दे सकता है। इसलिए आनंद! तुम जाकर गौतम आदि सर्व मुनियों को ये समाचार दे दो कि जिससे उसके साथ कोई बोले नहीं। वैसी प्रेरणा करने से तेरा भी हित होगा। क्योंकि धर्म के विघ्न अपने को पीड़ित करते हैं।'' आनंद ने तुरंत ही सर्व मुनियों के पास जाकर इस प्रकार कह दिया। इतने में तो गोशाला प्रभु के पास आया और इस प्रकार बोला कि ''अरे काश्यप! तूं 'यह गोशाला मंखलिपुत्र और मेरा शिष्य है' इत्यादि जो लोगों के पास बोलता है, वह तेरा भाषण मिथ्या है, क्योंकि जो तेरा शिष्य गोशाला था, वह शुक्लकुल का था, वह तो धर्मध्यान से मृत्यु प्राप्त करके देव गति में उत्पन्न हुआ है। उसका शरीर उपसर्ग और परीषह सहन करने में समर्थ जानकर मेरा शरीर छोड़ कर मैं उसमें घुस गया हूँ, मेरा नाम तो उदाय नामक मुनि हैं। इससे मुझे जाने बिना 'यह मंखलिपुत्र गोशाला मेरा शिष्य है, ऐसा क्यों कहता है ? तूं कोई मेरा गुरु नहीं है।'' प्रभु बोले कि– 'गोशाला! जैसे कोई अल्पबुद्धि वाला चोर पुलिस से पकड़ा जाय तब किसी खड्डे का या दुर्ग, वन का ढक्कन नहीं मिलने से वह सन, रुई या घास से अपना अपना शरीर ढंककर अपनी जाति को गुप्त हुआ माने, वैसे तू भी 'मैं' गोशाला नहीं हूँ, ऐसा बोलकर अपनी जाति को छुपाना चाहता है, परन्तु तू क्यों असत्य बोलता है ? तू वही है, दूसरा नहीं हैं।'' प्रभु के इस प्रकार के वचनों को सुनकर गोशाला क्रोध करके बोला कि– ''अरे काश्यप! आज तू भ्रष्ट हो जाएगा, नष्ट हो जाएगा, नाश को प्राप्त हो जाएगा।'' उसके इस प्रकार के वचनों की सुनकर प्रभु के शिष्य सर्वानुभूति मुनि प्रभु के ऊपर अत्यन्त राग से वह सहन नहीं कर सके, इससे वे गोशाले को बोल उठे कि, ''अरे गोशाला! इन गुरु ने तुझे दीक्षा दी है और इन्होंने ही शिक्षा भी दी है, इस उपरांत तू क्यों इनका निह्नव करता है ? तू ही गोशाला है।'' यह सुनते ही कोपायमान होकर गोशाला ने दृष्टि रूप ज्वाला छोड़े वैसे ही सर्वानुभूति मुनि पर तेजोलेश्या छोड़ी। महाशय सर्वानुभूति मुनि गोशाला की तेजोलेश्या से दग्ध होकर शुभ ध्याय में मरकर सहस्रार देवलोक में देवता हुए। अपनी लेश्या की शक्ति से गर्वित गोशाला उसके पश्चात् पुनः पुनः प्रभु की निर्भर्त्सना करने लगा। तब दूसरे सुनक्षत्र नामक भक्तिमान् शिष्य ने प्रभु की

निंदा करने वाले उस गोशाला को सर्वानुभूति की तरह अनेक शिक्षा के वचन कहे। तो गोशाला ने उन पर भी तेजोलेश्या फेंकी, तो उनका भी शरीर जलने लगा। तत्काल ही मुनि ने प्रभु की प्रदक्षिण देकर पुनः व्रत ग्रहण करके आलोचना प्रतिक्रमण करके, सर्व मुनियों को खमाया और अच्युत कल्प में देवता हुए।

गोशाला स्वयं को विजयी मानता हुआ प्रभु पर कठोर कचनों द्वारा आक्रोश करने लगा। तथापि एकांत दयालु प्रभु बोले– अरे गोशाला! मैंने तुझे दीक्षा दी और दीक्षा देकर श्रुत का भाजन किया, तथापि तू मेरा ही अवर्णवाद बोल रहा है, तो तेरी बुद्धि क्यों फिंर गई है? प्रभु के ऐसे वचनों से अत्यन्त कुपित होकर गोशाला ने कुछ नजदीक आकर प्रभु के ऊपर भी तेजोलेश्या छोड़ी। परन्तु वह तेजोलेश्या पर्वत के ऊपर महावायु के समान प्रभु पर असमर्थ होकर, उसने भक्ति से प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दी। उस तेजोलेश्या से नदी के किनारे पर उगी घास में उत्पन्न हुए दावानल से नदी का जल ज्यों तपता है, त्यों प्रभु के अंग में संताप उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् 'इस दुष्ट ने मुझे अकार्य करने को प्रेरित किया' ऐसे क्रोध से उस तेजोलेश्या ने पुनः लौट कर छल से गोशाला के ही शरीर में प्रवेश किया। उससे अन्दर से दहन होने पर भी गोशाला ने धीठ होकर उद्धताई से प्रभु को इस प्रकार कहा कि, 'अरे काश्यप! मेरी तेजोलेश्या से अभी तो तू बच गया है, तो भी उसके फलस्वरूप हुए पित्तज्वर से पीड़ित होकर आज से छः महिने के अंत में तू छद्मस्थपने में ही मरण को प्राप्त होगा। प्रभु बोले– अरे गोशाला! तेरा यह आग्रह व्यर्थ है, क्योंकि मैं तो अभी अन्य सोलह वर्ष तक केवलीपने में ही विहार करूंगा। परंतु तू आज से सांतवे दिन में तेरी ही तेजोलेश्या से हुए पित्तज्वर से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त होगा, इसमें किंचित्मात्र भी संशय नहीं है।'' तब तेजोलेश्या से जिसका शरीर ग्लानि को प्राप्त हुआ, ऐसा गोशाला विलाप करता हुआ वहाँ ही वायु के शालवृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ा। उस समय गुरु की अवज्ञा से कुपित हुए गौतम आदि मुनिगण मर्मबेधी वचनों से गोशाला को ऊंचे स्वर में कहने लगे कि– ''अरे मूर्ख! जो कोई अपने धर्माचार्य से प्रतिकूल होता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। अरे! तेरी धर्माचार्य पर डाली तेजोलेश्या कहाँ गई? बहुत समय तक जैसे तैसे बोलने वाला और दो महामुनियों की हत्या करने वाले तुझ पर भी प्रभु ने तो कृपा ही की। परंतु अब तो तू स्वयमेव ही मृत्यु को प्राप्त होगा। पूर्व में प्रभु ने शीतलेश्या द्वारा यदि रक्षा न की होती तो तू वेशकाय को फेंकी तेजोलेश्या से

मर गया होता वह याद कर। उनके ये वचन सुनकर गड्ढे में पड़े सिंह के समान असमर्थ बना गोशाला उनका कुछ भी न कर सकने पर भी क्रोध से उछलने लगा। पश्चात् दीर्घ और उष्ण निःश्वास लेता, दाढ़ और केशों को खींचता हुआ पैरों से पृथ्वी को ताड़न करता हुआ और 'अरे मैं मारा गया' ऐसा बारबार बोलता हुआ वह प्रभु की पर्षदा से बाहर निकल गया। और लोगों से चोर की भांति तिरस्कृत होता हुआ वह मुश्किल से धीरे धीरे हालाहला कुंभकारी की दुकान पर पहुँचा। उसके जाने के पश्चात् प्रभु ने मुनियों से कहा, ''गोशाला ने जो तेजोलेश्या मेरा वध करने के लिए मुझ पर फेंकी थी, वह अपनी उग्रशक्ति से वत्स, अच्छ, कुत्स, मगध, मंग, वालव, कोशल पाड, लाट, वज्रि, मालि मलय वाधक, अंग, काशी और सह्य गिरि के उत्तर प्रदेश – इस प्रकार सोलह देशों को जलाने में शक्तिमान् थी। गोशाला ने इस तेजोलेश्या को अत्यंत उग्र तप करके साधी थी।'' यह सुनकर गौतम आदि मुनि परम विस्मय को प्राप्त हुए कि, ''अहो! सत्पुरुष शत्रु पर भी मात्सर्य भाव नहीं रखते।''

(गा. 391 से 427)

इधर अपनी तेजोलेश्या से दहन होने पर गोशाला हाथ में मद्य (शराब) का पात्र लेकर मद्य पीने लगा। पश्चात् उससे मदोन्मत्त बनकर गोशाला नाचने और गाने लगा। एवं हालाहला कुंभकारी को बार–बार अंजली जोड़कर नमन करने लगा। पात्र के लिए गूंथी हुई मृत्तिका (मिट्टी) को ले लेकर शरीर पर चुपड़ने लगा। तथा घर की नाली में लोट कर बार बार उस नाली का जल पीने लगा। साथ ही असंबद्ध वचन जैसे तैसे बोलने लगा। शोक सहित शिष्यों से सेवित वह गोशाला इस प्रकार अपने दिन निर्गमन करने लगा।

(गा. 428 से 430)

इसी समय पुत्राल नामक गोशाला का एक उपासक था, वह पूर्वरात्रि और अपर रात्रि में धर्मजागरण करके विचार करने लगा कि, 'तृणगोपालिका का संस्थान कैसा होगा ? वह मैं जानता नहीं, अतः मैं अपने सर्वज्ञ गुरु गोशाला के पास जाकर पूछ लूं।' ऐसा विचार करके वह अमूल्य आभूषण धारण करके गोशाला के पास आया। वहाँ हालाहला कुंभकारी की दुकान पर गोशाला के स्थविर शिष्यों ने उसे जल्दी–जल्दी आते हुए देखा। तत्काल ही वे बोले कि– 'अरे पुत्राल! आज पिछली रात में तुझे तृणगोपालिका के संस्थान संबंधित

संशय हुआ है।' यह सुनते ही पुत्राल विस्मित हुआ, और उस बात को उसने स्वीकार किया। पश्चात् अपने गुरु की चेष्टित क्रिया गुप्त रखने के लिए वे महर्षि पुनः बोले – 'देख, ये तुम्हारे गुरु जो गा रहे हैं, नाच रहे हैं कर पात्र द्वारा अंजली बद्ध होते हैं, ये सब उनके निर्वाण के चिह्न ज्ञात करा रहे हैं। जो यह उनका सबसे अंतिम गायन, नृत्य, अंजली बद्धता का कर्म, पान और मृत्तिका का अंगराग आदि है, यह सब चौवीसवें तीर्थंकर का निर्वाण चिह्न है। अब उनके पास जाकर तेरा संदेह पूछ ले। क्योंकि ये तेरे सर्वज्ञ गुरु हैं। इस प्रकार उनके कहने से वह पुत्राल गोशाला के पास जाने को तत्पर हुआ। तब उन महर्षियों ने पहले से ही गोशाला को पास जाकर उसका आगमन और उसे जो संशय था, वह बता दिया, साथ ही उन्होंने गोशाला के पास से मद्यपात्र आदि अन्यत्र रखवा दिया और एक आसन पर बिठाया। इतने में पुत्राल भी वहाँ आ गया। वह आगे बैठा, तब गोशाला ने उसे कहा कि 'तृणगोपालिका का संस्थान कैसा हो ? यह तेरा संशय है। यह सुन– बांस के मूल जैसी तृण गोपालिका की आकृति जानना।' इस प्रकार का उत्तर सुनकर वह पुत्राल हर्षित होकर अपने स्थान पर गया।

(गा. 431 से 442)

किसी समय गोशाला ने सावधान होकर अपना अवसान समय जानकर अपने शिष्यों को आदरपूर्वक बुलाकर इस प्रकार कहा कि– ''हे शिष्यों! मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे मृत शरीर को सुगंधित जल से उत्कृष्ट वस्त्र लिपेटना। दिव्य आभूषणों से श्रृंगार करके उसे सहस्र पुरुषों से ग्राह्य ऐसी शिबिका में आसीन करवा कर उत्सव सहित बाहर निकालना एवं उस समय यह गोशालक वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीसवें तीर्थंकर मोक्ष में गए हैं। ऐसी उच्च स्वर में सम्पूर्ण नगर में आघोषण करवाना।'' उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया। तत्पश्चात् सातवें दिन गोशाला का हृदय वास्तव में विशुद्ध हुआ, इससे वह अत्यंत पश्चात्ताप करने लगा। ''अहो! मैं कैसा पापी! कैसा दुर्मति! मैंने मेरे धर्मगुरु श्री वीर अर्हन्त प्रभु की मन, वचन, काया से अत्यन्त आशातना की है। मैंने सर्वत्र मेरी आत्मा को मिथ्या सर्वज्ञ कहलाया एवं सत्य जैसे ज्ञात मिथ्या, उपदेश द्वारा सर्व लोगों को छला। अरे मुझे धिक्कार है, मैंने गुरु के दो उत्तम शिष्यों को तेजो लेश्या द्वारा जला डाला। फिर अंत में मेरी आत्मा को दहन करने के लिए मैंने प्रभु के ऊपर तेजोलेश्या फैंकी। मुझे धिक्कार है! अरे! थोड़े दिन के लिए मैंने बहुत काल तक

नरकावास में निवास हो, वैसा अकार्य का मैंने आचरण किया है। और फिर मैंने मेरी आत्मा को ही नरक का अतिथि ही नहीं किया, परंतु असत् मार्ग के उपदेश से इन सब लोगों की आत्मा को भी नरक के अतिथि बना दिये। भवतु! अब यह तो बहुत हो गया। अब तो लोग पुनः सन्मार्गगामी हों। ऐसा विचार करके उसने सर्व शिष्यों को बुलाकर कहा कि, 'हे शिष्यों! सुनों मैं न अर्हन्त हूँ और न ही केवली हूँ, मैं तो मंखली का पुत्र और श्री वीर प्रभु का शिष्य गोशाला हूँ। आश्रय का ही भक्षण कर्ता अग्नि की भांति मैं गुरु प्रत्यनीक हूँ। मैंन इतने समय तक दंभ से मेरी आत्मा को और लोगों का ठगा है। मेरा अपनी ही तेजोलेश्या से दहन होने से मैं छद्मस्थ रूप से ही मृत्यु को प्राप्त करूंगा। इसलिए मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे मृत शरीर के चरण को रज्जु से बांधकर मुझे पूरे नगर में घसीटना। मृत श्वान की तरह मेरे शरीर को खींचते हुए मेरे मुँह पर थूंकना और सम्पूर्ण नगरी में चौराहे, तिराहे, चौक और गलियों गलियों में ऐसी आघोषणा कराना कि, लोगों को दंभ से ठगनेवाला, मुनियों का घातक, जिन नहीं (छद्मस्थ), दोषों का ही निधान, गुरु का द्रोही एवं गुरु का ही विनाश का इच्छुक मंखली का पुत्र यह गोशाला है। यह जिन नहीं है, जिनेश्वर तो भगवान्, सर्वज्ञ, करुणानिधि, हितोपदेष्टा श्री वीरप्रभु है। ऐसा करने की सौगन्ध देकर वह गोशाला अत्यन्त व्यथा से पीड़ित होकर मरण को प्राप्त हुआ। तब उसके शिष्यों ने लज्जा से उस कुलाल (कुंभार) की शाला के द्वार बंद करके सौगन्ध से मुक्त होने के लिए अंदर श्रावस्ती को चित्रित करके गोशलाा के शव को उसमें उसकी कही आघोषणा करके घसीटा। फिर उन शिष्यों ने गोशाला के कलेवर को मकान से बाहर निकला और उसके उपासकों ने विपुल समृद्धि से उसका अग्निसंस्कार महोत्सव किया।

(गा. 443 से 470)

श्री वीरप्रभु वहाँ से विहार करके मेंढक ग्राम में पधारे वहाँ कोष्टक नाम के चैत्य में समवसरे। वहाँ गौतम ने प्रभु को पूछा कि, ''स्वामी! गोशाला ने कौन सी गति प्राप्त की ? प्रभु ने फरमाया कि 'अच्युत देवलोक में गया, गौतम ने पुनः पूछा कि – 'महाराज! ऐसा उन्मार्गी और अकार्य करने वाला दुरात्मा गोशाला देव कैसे बना ? इसका मुझे आश्चर्य होता है।' तब प्रभु ने फरमाया कि –''हे गौतम! जो अवसान के समय भी स्वयं के दुष्ट कृत्य की निंदा करता है, उससे देवत्व दूर नहीं है। गोशाला ने भी उस प्रकार किया था। गौतम ने पुनः पूछा, 'हे

स्वामी! वह अच्युत देवलोक में से च्यवकर कहाँ उत्पन्न होगा? और कब सिद्धि का वरण करेगा? प्रभु ने कहा– ''इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में पुंड्रदेश में शतद्वार नामक एक महान् नगर है, उसमें संमुचि नामक राजा की भद्रा नाम की रानी से गोशाला का जीव महापद्म नामक पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। वह बहुत बड़ा राजा होगा। पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो उत्तम यक्ष उनका सेनापतित्व करेंगे। इससे प्रजा भाग्य की निधि समान इस राजा का देवसेन ऐसा अन्य गुणनिष्पन्न नाम रखेंगे। उन अद्भुत तेजस्वी को चक्रवर्ती के समान एक श्वेतवर्णी और चार दांतवाला मानो दूसरा ऐरावत हो ऐसा हस्ति प्राप्त होगा। उस पर आरुढ़ होने पर राजा को देखकर हर्षित हुए लोग विमलवाहन ऐसा तीसरा नाम रखेंगे। अन्यदा उसे पूर्व भव के अभ्यास से मुनि पर द्वेष्य कर्म द्वारा मुनियों पर अत्यन्त दुष्ट बुद्धि उत्पन्न होगी। किसी भी मुनि को देखते ही या सुनते ही वह निंदा, ताड़ना, बंधन, हीलना और यहाँ तक कि उनका हनन करना आदि के द्वारा वह उनको पीड़ित करेगा। तब नगर के लोग और मंत्री गण उनको विज्ञप्ति करेंगे कि हे स्वामी! ''राजाओं को तो दुष्टों को निग्रह और साधुजनों का पालन करना चाहिए। अतः हे स्वामिन्! इन निरपराधी भिक्षुक और तपस्वी साधुओं की तो आप रक्षा करो और यदि आप रक्षा न भी कर सको तो ठीक परंतु उनका निग्रह किसलिए करते हो? यदि कोई निरपराधी मुनि ताड़न करने से कोप करेंगे तो वे अपने तेज से आपको और आप के देश को भी जला डालेंगे।'' इस प्रकार के उनके वचनों को भी वह मानेगा नहीं। एक वक्त वह रथ में बैठकर उद्यान में क्रीड़ा करने हेतु जाएगा, वहाँ तीन ज्ञान के धारक और जिनको तेजोलेश्या सिद्ध हुई है, ऐसे सुमंगल नाम के मुनि कायोत्सर्ग में रहकर आतापना करते हुए उसे दृष्टिगत होंगे। तब साधु के दर्शन मात्र से ही विरुद्ध हुआ वह राजा निःकारण क्रोध करके रथ के अग्र भाग से ही उन मुनि को गिरा देगा। वे मुनि पुनः खड़े होकर कायोत्सर्ग करेंगे। पुनः वह उनको दूसरी बार पृथ्वी पर गिरा देगा। पुनः वे मुनि कायोत्सर्ग धारण करके अवधि ज्ञान द्वारा देखकर उस राजा को संबोधित करेंगे– ''अरे मूढ़! तू देवसेन भी नहीं और विमलवाहन भी नहीं परंतु तू तो मंखलि का पुत्र गोशाला है, यह याद कर। उस भव में तो तूने तेरे धर्म गुरु चरम तीर्थंकर वीरप्रभु की अत्यंत आशातना की थी और उनके दो शिष्यों को मदोन्मत्त होकर जला डाला था, उन्होंने तो वह सब सहन कर लिया, परंतु मैं सहन नहीं करूंगा। यदि अब पुनः कुछ भी करेगा

तो अवश्य ही मैं क्षणभर में ही दहन कर डालूंगा।'' उनके ऐसे वचनों से घी के सिंचन से अग्नि की भांति अधिक प्रदीप्त हुआ महापद्म तीसरी बाद भी उन सुमंगलमुनि को गिरा देगा। तब वे मुनि सात आठ पगले उसके सामने जाकर तेजोलेश्या द्वारा उस महापद्म को रथ, घोड़ा एवं सारथि सहित जला डालेंगे। पश्चात् उस कर्म की आलोचना करके चिरकाल तक व्रत पालन करके अंत में एक मास का अनशन करके वे मुनि सर्वार्थ सिद्ध विमान में जायेंगे। वहाँ तैतींस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण करके वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे। महापद्म दग्ध होकर सातवीं नरक में जायेगा। अनुक्रम से सातों ही नरक में दो दो बार उत्पन्न होगा। पश्चात् समग्र तिर्यञ्च जातियों में बारम्बार उत्पन्न होगा एवं प्रत्येक भव में शस्त्र से अथवा दाह से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त होगा। इस प्रकार अनंतकाल पर्यन्त दुःखदायक भवभ्रमण करके वह राजगृह नगर के बाहर वेश्या होगी। वहाँ सुखपूर्वक शयन करती हुई उस वेश्या को उसके आभूषणों में लुब्ध हुआ कोई कामी पुरुष मार डालेगा। पुनः भी वह उस नगर में वेश्या रूप में उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त करेंगे। पश्चात् विंध्यगिरि के मूल में आए चोभल नामक गांव में कोई ब्राह्मण कन्या होगी। उसे कोई ब्राह्मण परणेगा। वहाँ गर्भवती होने पर ससुराल से पीहर आने पर मार्ग में दावानल से दग्ध होने पर वह अग्निकुमार देवताओं में उत्पन्न होगी। वहाँ से पुनः मनुष्य होगी। उस भव में दीक्षा लेगी। वहाँ भी साधुजीवन की विराधना करके फिर से असुरकुमार में उत्पन्न होगा। इस प्रकार बार बार कितनेक मनुष्य करके असुर कुमार आदि में उत्पन्न होगा। पुनः फिर से मनुष्य होकर अतिचार रहित व्रत का पालनकर सौधर्म देवलोक में देव होगा। इस प्रकार सात भव तक मनुष्य भव में मुनि जीवन का पालन करके प्रत्येक कल्प में उत्पन्न होकर अंत में सर्वार्थ सिद्ध विमान में जाएगा। वहाँ से च्यव कर विदेह क्षेत्र में किसी धनाढ्य गृहस्थ का दृढप्रतिज्ञ नामक बुद्धिमान पुत्र होगा। वह विरक्त होकर दीक्षा लेगा, उसी भव में केवलज्ञान उत्पन्न होने पर वह गोशाला के भव से लेकर अपने समस्त भवों को जान लेगा, कि जो गुरु की अवज्ञा और मुनिवध से दूषित हुए थे, अपने सर्व भवों की हकीकत वह अपने शिष्यों को बताएगा और अपने स्वयं के अनुभवी शिष्यों को कहेगे कि सर्वथा गुरु की आज्ञा के बिना कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से उसका दुष्ट अशुभ फल बहुत से भवों तक भोगना पड़ता है। इस प्रकार अपने शिष्यों

को बोध करके पृथ्वी पर विहार करके अंत में गोशाला का जीव कर्म का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त करेगा।

(गा. 471 से 512)

गौतम ने पुनः पूछा कि भगवन्! पूर्व के किस कर्म से गोशाला आपको प्रतिकूल हुआ? प्रभु ने फरमाया– 'इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में गत चौवीसी में उदाय नामके एक तीर्थंकर हुए थे। उनके मोक्षमहिमा करने के लिए सुर–असुर आये। उस समय नजदीक में रहे एक मनुष्य को वह सब देखकर जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस महाशय ने प्रत्येक बुद्ध होकर तत्काल ही दीक्षा ले ली। तब शासन देवता ने उनको व्रती का लिंग (वेश आदि) अर्पण किया। लोगों से पूजित वे महामुनि घोर तपस्या करने लगे। उनको देखकर किसी ईश्वर नाम के दुर्मति ने उसके पास आकर पूछा कि, "तुझे किसने दीक्षा दी? तू कहाँ पैदा हुआ है? तेरा कौन सा कुल है? और सूत्र तथा अर्थ किसके पास ग्रहण किया है?" उन प्रत्येक बुद्ध महामुनि ने उसके प्रत्येक प्रश्न का जवाब दिया। यह सुनकर ईश्वर ने विचार किया कि यह साधु दंभ से प्रजा का भक्षण कर रहा है। मुझे लगता है कि जैसा इसने कहा है वैसा जिनेश्वर भी कहेंगे। अथवा मोह रहित प्रभु ऐसा नहीं भी कहें। इसलिए चलो मैं उनके पास जाऊँ और सर्व दुःखों को नाश करने वाली दीक्षा का अभिनन्दन करुं। ऐसा चिन्तन करके वह जहाँ प्रभु थे वहाँ गया। परंतु वहाँ प्रभु का निर्वाण हो जाने से दृष्टिगत नहीं हुए। तब उसने दीक्षा ली। कपि की तरह मंद बुद्धि वाले उसे मोहगर्भित वैराग्य उत्पन्न हुआ था। प्रभु के मोक्षगमन के पश्चात् गणधर महाराज ने पर्षदा में बैठकर जैसा सूत्रार्थ श्री जिनेश्वर परमात्मा ने फरमाया था, वैसा ही प्ररूपित किया। उन्होंने उपदेश दिया कि, 'जो पृथ्वीकाय के एक जीव का भी हनन करत है, वह जिनेन्द्र के शासन में असंयती कहा जाता है।' यह सुनकर ईश्वर ने विचार किया कि पृथ्वीकायिक जीवों का तो सर्वत्र मर्दन होता ही है, उनका सर्वथा रक्षण करने में या उनको देखने में कौन समर्थ है? यह वाक्य ही श्रद्धा करने योग्य नहीं है, केवल मुनि की लघुता के लिए ही है। जैसे उन्मत्त बोले वैसे ये वाक्य सुनने पर भी उसके समान आचरण कौन करता है? यदि ऐसा कहना छोड़कर ऐसा कोई मध्यम पक्ष के साधु जीवन की बात कहते हो तो उस पर अवश्य सर्व लोग अनुरक्त हो जावें। ऐसा विचार करके वह पुनः पुनः

विचार करने लगा कि ''अरे रे! मैं मारा गया! यदि मैं यह कथन मानूं और तथा प्रकार से आचरण न करुं तो मैंने जिनेश्वर को भी माना न कहा जाय। क्योंकि यह सर्वज्ञ का ही वचन है। इसलिए मैंने अर्हन्त के इस एक वचन को भी अन्यथा धारण किया। इसलिए इसका प्रायश्चित मुझे अभी ही कर लेना चाहिए। इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ वह उन प्रत्येक बुद्ध महामुनि के पास गया। वहाँ भी धर्म के व्याख्यान में उसने सुना कि 'मुनि को मन वचन काया से पृथ्वीकाय आदि जीवों का समारंभ त्याग देना चाहिये।' यह सुनकर पुनः ईश्वर ने सोचा 'इस प्रकार तो कौन पालन कर सकता है? कौन पृथ्वीकायादि का त्रिधा आरंभ नहीं करते हैं? ये मुनि भी तो पृथ्वी पर बैठते हैं, आहार करते हैं, और अग्निपक्व जल पीते हैं। ये कटुवादी तो अपने से भी पालन न हो सके, ऐसा बोलते हैं। इसलिए इससे तो वे गणधर अच्छे हैं, यद्यपि उनकी भी वाणी तो विरुद्ध है। इसलिए मुझे इन दोनों की कोई जरुरत नहीं है। मैं स्वयं ही ऐसा धर्म कहूं कि, जिसे लोग अविरक्त रूप से सुखपूर्वक पालन कर सके।' ऐसा चिंतवन करते समय उसके मस्तक पर बिजली गिरी। फलस्वरूप मरकर वह सातवीं नरक में नारकी हुआ। श्रुत, जैन शासन और समकित के प्रत्यनीक पने से बांधे हुए तीव्र पाप के फलस्वरूप वहाँ चिरकाल तक दुःख भोगकर वह यहाँ समुद्र में मत्स्य हुआ। वहाँ से यहाँ काकपक्षी हुआ। वहाँ से पहली नरक में गया। वहाँ से वह दुष्ट तिर्यंच रूप में उत्पन्न हुआ। पश्चात् पुनः पहली नरक में जाकर गधा बना। वैसे छः भव करके मनुष्य हुआ। वहाँ से मृत्यु के पश्चात् वनचर हुआ, उसके बाद बिल्ली होकर नरक में गया। वहाँ से कृमि से आकुल व्याकुल कुष्ट व्याधिवाला कुंभार बना। उस भव में पचास वर्ष तक कृमियों का भक्ष होकर अंत में मृत्यु प्राप्त कर पुनः सातवीं नरक में गया। इस प्रकार मनुष्य तिर्यञ्च एवं नरक गति में भ्रमण करके वह गोशाला हुआ। पूर्वभव के अभ्यास से तथा दुष्ट वासना के आवेश से वह तीर्थंकर, धर्म और साधुओं का अत्यंत द्वेषी था।

(गा. 513 से 541)

इस प्रकार प्रभु के वचन श्रवण कर अनेक लोग प्रतिबोध को प्राप्त हुए। अनेकों ने संसार से उद्वेग प्राप्त कर दीक्षा लेली और कितनेक ने श्रावक व्रत अंगीकार किया।

(गा. 542)

गोशाला द्वारा छोड़ी हुई तेजोलेश्या से श्री वीरप्रभु को रक्त अतिसार तथा पित्तज्वर हो जाने से शरीर अत्यन्त कृश हो गया। तथापि उन्होंने कुछ भी औषध नहीं किया। प्रभु के शरीर में उग्र व्याधि को देखकर लोगों में ऐसा प्रवाद चला कि गोशाला की तेजोलेश्या से श्री वीर प्रभु जी छः महिने में मरण शरण हो जावेंगे। ऐसी चर्या को सुनकर सिंह नामक प्रभु के अनुरागी शिष्य एकान्त में जाकर ऊँचे स्वर से रुदन करने लगे। ऐसी बात से किसे धीरज रहे ? केवलज्ञान द्वारा यह बात ज्ञात करके वीरप्रभु ने उन्हें बुलाकर के कहा कि 'अरे भद्र! लोगों की बातों को सुनकर तुम क्यों भयभीत होते हो ? एवं हृदय में क्यों परिताप करते हो ? तीर्थंकर कभी भी ऐसी आपत्ति से मृत्यु प्राप्त करते नहीं। संगमक आदि के प्राणांत उपसर्ग भी क्या वृथा नहीं गये ?'' सिंह मुनि ने कहा कि, ''हे भगवन्! यद्यपि आपका कथन सत्य है, तथापि आपकी आपत्ति को देखकर सभी लोग अत्यन्त परिताप को प्राप्त हुए है। इसलिए हे स्वामी! मुझ जैसे की मन की शांति के लिए आप औषध का सेवन करें आपको पीड़ित देखने में मैं क्षणभर भी समर्थ नहीं हूँ।'' सिंहमुनि के अत्याग्रह से प्रभु ने फरमाया, 'रेवती नामक एक श्रेष्ठी की स्त्री ने मेरे लिए कोले का कटाह पकाया है, वह तुम मत लेना, किंतु अपने घर के लिए उसने बीजोरे का कटाह पकाया है, वह ले आओ। तुम्हारे आग्रह से मैं वह औषध ग्रहण कर लूंगा कि जिससे तुमको धैर्य हो जाएगा।'' इस प्रकार प्रभु की आज्ञा होने से सिंह मुनि रेवती के गृह गये और उसके द्वारा प्रदत्त उस कल्पनीय औषध को सद्य ग्रहण किया। हर्षित होकर देवगणों ने उसके घर में सुवर्ण की वृष्टि की। सिंह मुनि द्वारा लाए उस उत्तम प्रासुक औषध का सेवन करके संघ रूपी चकोर पक्षी में पूर्णचंद्र तुल्य वीरप्रभु ने सद्य शरीर की आरोग्यता की प्राप्त की।

(गा. 543 से 552)

दशम पर्व का अष्टम सर्ग समाप्त

नवम सर्ग

हालिक, प्रसन्नचंद्र, दर्दुरांक देव, श्रेणिक का भावि तीर्थंकरत्व, शाल महाशाल, गौतम का अष्टापद पर आरोहण, अम्बड तथा सुलसा का चरित्र

छद्मस्थावस्था में जब प्रभु जहाज में बैठ कर नदी पार कर रहे थे, उस वक्त सुदंष्ट्र नामक जिस नागकुमार देव ने प्रभु को उपसर्ग किया था, वह वहाँ से च्यवकर किसी गांव में कृषक हुआ था। वह कृषिकर्म से आजीविका चलाता था। एक वक्त वह हल से पृथ्वी को जोतने (खोदने) प्रवृत्ति कर रहा था, इतने में श्री वीरप्रभु जी उस गांव में पधारे। प्रभु ने उसे प्रतिबोध करने के लिए भेजा। गौतम ने उस किसान के पास आकर कहा कि, 'यह क्या कर रहा है? वह बोला– ''मेरे भाग्य की प्रेरणा से यह खेती कर रहा हूँ।' गौतम ने पुनः कहा कि ऐसी क्षूद्र आजीविका से जीवन में क्या तुझे चिरकाल तक सुख होने वाला है? अरे भद्र! यह कष्ट केवल इसी भव में तुझे प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं है, परंतु इस खेती में होने वाली जीव हिंसा से ऐसा कष्ट दूसरे भव में भी तुझे प्राप्त होगा। इस महा कठिन कर्म से, कष्ट से एक लाखवें अंश का कष्ट भी जो धर्मकार्य में किया जाय तो तत्काल ही सर्व कष्ट का अंत आता है।'' इस प्रकार गौतम स्वामी के वचनों को श्रवण कर वह बोला कि– 'हे स्वामी! आपने मुझे अच्छा बोध दिया, अब मैं संसार से भी उद्विग्न हो गया हूँ इसलिए मुझे दीक्षा दो। पश्चात् यह प्रतिबोध को पाया है, ऐसा जानकर गौतम स्वामी ने उसे तुरंत ही दीक्षा दे दी। एवं श्री वीर प्रभु के श्री चरणों में जाने के लिए उसे ले चले। हालिक (कृषिवल) मुनि ने उनको पूछा कि, भगवान्! अपने को कहाँ जाना है? गौतम ने कहा हे साधु! मेरे गुरु के पास अपने को चलना है। हालिक मुनि बोले कि ''आपके समान अन्य कोई लगते नहीं हैं, इस उपरान्त भी क्या आपके भी कोई गुरु है? तो वे कैसे होंगे? गौतम ने कहा कि ''चौतीस अतिशय सहित विश्वगुरु, सर्वज्ञ श्री चरम तीर्थकर मेरे गुरु हैं। यह सुनकर हालिक मुनि ने सर्वज्ञ प्रभु पर प्रीति

होने स्वरूप बोधि बीज उपार्जन किया एवं गौतम स्वामी का अनुगमन करने लगे। प्रभु के पास जाते ही प्रभु की देखते ही सिंह आदि के पूर्वभव के वैरभाव से उसे क्रोध उत्पन्न हुआ। इससे उसने गौतम स्वामी से पूछा, कि,– 'हे गुरु महाराज! ये सामने बैठे हैं, वे कौन? गौतम बोले– ये मेरे धर्माचार्य जिनेश्वर। हालिक ने कहा कि, यदि ये आपके गुरु हैं तो मुझे आपके साथ भी कोई काम नहीं है और न ही आपकी दीक्षा भी मुझे चाहिए ऐसा कहकर रजोहरण आदि को छोड़कर तुरंत ही वह चला गया एवं अपने क्षेत्र में आकर पुनः हल आदि ग्रहण किये।

(गा. 1 से 15)

गौतम ने प्रभु को नमन करके पूछा कि, "भगवन्! आप सदृश समग्र लोक को आनंद करने वाले पुरुष पर भी इसे द्वेष उत्पन्न हुआ यह देखकर मुझे आश्चर्य होता है। हे नाथ! आपको देखते ही उसने स्वीकार किया हुआ चारित्र भी छोड़ दिया। इसका क्या कारण? साथ ही वह पहले तो मुझ पर प्रीतिमान् था, परंतु 'ये मेरे गुरु हैं' जब मैंने ऐसा कहा तब वह मेरा भी द्वेषी हो गया, यह कैसे? प्रभु ने फरमाया– मैंने त्रिपृष्ठ के भव में जिस सिंह को मारा था, उसका वह जीव ही यह कृषक है। उस समय क्रोध से फडफडाते उस सिंह को तुमने सामवचन से शांत किया था। उस समय तुम मेरे सारथि थे। तब से ही वह मुझ पर द्वेषी और तुम पर स्नेही हो गया था। इसीलिए उसे बोध कराने के लिए मैंने तुमको भेजा था।" इस प्रकार कहकर प्रभु ने वहाँ से विहार किया।

(गा. 16 से 20)

प्रभु अनुक्रम से पोतनपुर में पधारे। वहाँ नगर के बाहर मनोरम नामक उद्यान में भगवंत समवसरे। पोतनपति प्रसन्नचंद्र राजा प्रभु को वंदन करने के लिए आए। मोह का नाश करने वाली प्रभु की देशना उन्होंने श्रवण की। प्रभु की देशना श्रवण करके प्रसन्नचंद्र को राजा संसार से उद्वेग हो गया और अपने बालकुमार को राज्य सिंहासन पर बिठाकर उन्होंने तत्काल व्रत ग्रहण किया। प्रभु के साथ विहार करते हुए एवं उग्र तपश्चर्या करके वे प्रसन्नचंद्र राजर्षि अनुक्रम से सूत्रार्थ के पारगामी हुए। अन्यदा उन प्रसन्नचंद्र राजर्षि एवं अन्य मुनिराजों से परिवृत्त श्री वीरप्रभु राजगृह नगरी में पधारे। प्रभु के दर्शन को उत्कंठित श्रेणिक राजा पुत्रादि परिवार के साथ हाथी, घोड़ो की श्रेणी के द्वारा

पृथ्वी को मंडित करते हुए प्रभु के समीप आने के निकले। उसके सैन्य में आगे चलनेवाले सुमुख और दुर्मुख नाम के दो मिथ्यादृष्टि सेनानी थे। वे परस्पर विविध बातचीत करते हुए चले आ रहे थे। मार्ग में चलते हुए उन्होंने प्रसन्नचंद्र मुनि को एक पैर पर खडे और उर्ध्व बाहु किये हुए आतापना करते हुए देखा। उनको देखते ही सुमुख बोला कि, अहो! ऐसी आतापना करने वाले इस मुनि को स्वर्ग या मोक्ष किंचित मात्र भी दुर्लभ नहीं है।'' यह सुनकर कर्म से और नाम से जो दुर्मुख है, वह बोला– अरे! यह तो पोतन नगर का राजा प्रसन्नचंद्र है। बड़े गाड़े में जैसे छोटे बछडे को जोत दे, वैसे अपने बालकुमार के ऊपर अपने विशाल राज्य का बोझा डाल दिया है। यह कैसा धर्मी! इसके मंत्री तो चंपानगरी के राजा दधिवाहन के साथ मिलकर उस राजकुमार को राज्य से भ्रष्ट करेंगे। इसने तो राज्य पर उल्टा अधर्म किया है, साथ ही इसकी पत्नियाँ भी कहीं चली गई है। इससे इस पाखंड दर्शन को धारण करने वाले प्रसन्नचंद्र को तो अपने को देखना भी योग्य नहीं है।'' इस प्रकार ध्यान रूपी पर्वत पर वज्र जैसा उसका वचन सुनकर राजर्षि प्रसन्नचंद्र तत्काल इस प्रकार चिंतन करने लगे कि– ''अहो! मेरे अकृतज्ञ मंत्रियों को धिक्कार है। मैंने आज तक उनका निरंतर सत्कार किया है, इसके उपरान्त भी उन्होंने अभी मेरे पुत्र के साथ भेद/कपट किया है। इस वक्त मैं वहाँ होता तो उनको कठोर दंड देता।'' ऐसे संकल्प विकल्पों से अप्रसन्न हुए प्रसन्नचंद्र राजर्षि अपने ग्रहण किये हुए व्रत को भी भूल गये। पश्चात् अपने को राजा मानकर प्रसन्नचंद्र मन ही मन में उन मंत्रियों के साथ युद्ध करने प्रवृत्त हो गये। इतने में श्रेणिक राजा वहाँ आये और उन्होंने उनको विनयपूर्वक वंदना की एवं ऐसा विचार करने लगे 'अहो! अभी ये प्रसन्न चंद्र मुनि पूर्ण ध्यानावस्था में हैं।' ऐसा विचार करते हुए श्रेणिक राजा प्रभु महावीर के पास आए एवं प्रभु को नमन करके पूछा– हे स्वामी! मैंने प्रसन्नचंद्र मुनि को पूर्ण ध्यानावस्था में वंदन किया है। इस स्थिति में कदाचित् वे मृत्यु को प्राप्त करें तो वे किस गति में जाये? प्रभु ने फरमाया कि– 'सातवीं नरक में' यह सुनकर श्रेणिक राजा विचार करने लगे कि साधु नरकगामी नहीं हो सकते, कदाचित् प्रभु का कथन मुझे ठीक तरह नहीं सुनाई दिया हो। क्षणभर रुककर श्रेणिक ने पुनः पूछा कि, हे भगवन्! प्रसन्न चंद्र मुनि यदि इस समय काल करें तो कहाँ जाय?' भगवंत ने कहा कि 'सर्वार्थ सिद्ध विमान में जायें। श्रेणिक ने पूछा कि, भगवंत आपने क्षणभर के अंतर में दो भिन्न भिन्न

बात कैसे बताई ? प्रभु ने फरमाया कि– ''ध्यान के भेद से उन मुनि की स्थिति दो प्रकार की हो गई। इसलिए मैंने ऐसा कहा। प्रथम दुर्मुख की वाणी से प्रसन्नचंद्र मुनि कुपित हुए थे, और अपने सामंत मंत्री आदि के साथ मन में क्रोधित होकर युद्ध करने लगे थे, जिस समय तुमने उनको वंदन किया था। उस समय वे नरक के प्रायोग्य थे। वहाँ से यहाँ आने के पश्चात् उन्होने मन में विचार किया कि ''अब मेरे आयुध तो सब समाप्त हो गये तो मैं शिरस्त्राण (मुकुट) से शत्रु को मांरू, 'ऐसा सोचकर उन्होंने अपना हाथ सिर पर रखा कि अपना सिर लोच किया हुआ जानकर उनको अपने व्रत का स्मरण हुआ। तब तत्काल 'मुझे धिक्कार हो, 'मैं यह क्या अकार्य सोचने लगा ? इस प्रकार वे अपनी आत्मा की निंदा करने लगे और उसकी आलोचना–प्रतिक्रमण करके पुनः प्रशस्त ध्यान में स्थित हुए। इससे तुम्हारे दूसरे प्रश्न के समय वे सर्वार्थसिद्धि के योग्य हो गये थे। इस प्रकार वार्तालाप चल रहा था कि इतने में तो प्रसन्नचंद्र ऋषि के समीप में देवदुंदुंभि का नाद एवं और जोर शोर से कलकल की आवाजें आने लगी। यह सुनकर श्रेणिक ने प्रभु से पूछा, स्वामी! यह क्या हुआ ? प्रभु ने फरमाया कि ''ध्यान में स्थिर हुए प्रसन्नचंद्र मुनि को अभी अभी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है एवं देवगण उनके केवलज्ञान की महिमा कर रहे है। इससे दुंदुंभि के नाद से मिश्रित यह हर्षनाद हो रहा है।

(गा. 21 से 53)

भगवन्! केवलज्ञान का उच्छेद कब होगा ? ऐसा जब श्रेणिक पूछ ही रहे थे, कि उसी समय महाकांति वाला विद्युन्माली नामक ब्रह्मदेव लोक के इंद्र का सामानिक देवता अपनी चार देवियों के साथ प्रभु को वंदन करने आया। उसे बताते हुए प्रभु ने कहा कि, इस पुरुष से केवलज्ञान का उच्छेद होगा। अर्थात् यह अंतिम केवली होगा। तब श्रेणिक ने पूछा– क्या देवों को भी केवलज्ञान होता है ? प्रभु ने कहा– 'यह देव आज से सातवें दिन च्यवकर तुम्हारे नगर के निवासी धनाढ्य ऋषभदत्त का पुत्र होगा। वह मेरे शिष्य सुधर्मा का जंबू नामका शिष्य होगा। उसको केवलज्ञान होने के पश्चात् कोई भी केवलज्ञान उपार्जन नहीं कर सकेगा।' श्रेणिक ने पूछा कि 'हे नाथ! इस देव का तेज मंद कैसे नहीं हुआ ? क्योंकि अंतसमय में देवों का तेज मंद हो जाता है।' प्रभु ने कहा– 'अभी तो इस देव का तेज मंद है, पूर्व में तो इससे भी उत्कृष्ट तेज था। इस प्रकार

प्रश्नोत्तर होने के पश्चात् प्रभु ने सर्वभाषानुसारी वाणी द्वारा पाप का नाश करने वाली धर्म देशना दी।

(गा. 54 से 58)

इतने में कुष्ट रोग से जिसकी काया गल गई है, ऐसा कोई पुरुष वहाँ आया और वह प्रभु को प्रणाम करके हड़काये श्वान के समान प्रभु के पास जमीन के ऊपर बैठा। पश्चात् चंदन के सदृश अपने मवाद से प्रभु के चरणों को बारम्बार चर्चित करने लगा। यह देखकर श्रेणिक राजा कोपायमान होते हुए विचारने लगे कि –'यह महापापी जगत्स्वामी की इस प्रकार महाआशातना कर रहा है, इसलिए जब यह उठेगा, तब यह अवश्य ही वध करने योग्य है।' इतने में प्रभु को छींक आई, तो वह कुष्टी बोला कि– 'मृत्यु को प्राप्त करो।' पश्चात् राजा श्रेणिक को छींक आई, तो वह बोला कि 'खूब जीओ।' थोड़ी देर में अभयकुमार को छींक आई तो वह बोला कि 'जीओ या मरो' बाद में कालसौरिक को छींक आई तो वह बोला कि 'जीव भी मत और मर भी मत।' प्रभु के लिए मृत्यु पाओ ऐसा सुनकर क्रोधित हुए श्रेणिक राजा ने अपने सुभटों को आज्ञा दी कि– 'जब यह कुष्टी यहाँ से उठे तब उसे पकड़ लेना।' देशना समाप्त होने पर वह कुष्टी प्रभु को नमन करके उठा, उस समय किरात लोग जैसे सूअर को घेर लेते हैं, वैसे ही श्रेणिक के सुभटों ने उसे घेर लिया। परंतु उनके देखते देखते ही क्षणभर में वह दिव्य रूप धारण करके सूर्य के बिंब को भी निस्तेज करता हुआ आकाश में उड़ गया। सुभटों ने यह बात श्रेणिक महाराज को कही। तब राजा ने विस्मित होकर विज्ञप्ति की कि, 'हे प्रभु! वह कुष्टी कौन था? प्रभु ने कहा कि – 'वह देव था।' राजा ने पुनः सर्वज्ञ प्रभु को पूछा कि – 'तब वह कुष्टी किस लिए बना?' प्रभु ने उस हकीकत का वर्णन किया कि–

(गा. 59 से 68)

'इस विश्व में प्रख्यात ऐसी कौशांबी नाम की नगरी में शतानीक नाम का राजा राज्य करता था। उस नगरी में सेडुक नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह हमेशा का दारिद्रय की सीमा एवं मूर्खता की अवधि था। किसी समय उसकी पत्नि सगर्भा हुई, इससे उस ब्राह्मणी ने सेडुक से कहा कि, 'भट्ट जी! मेरी प्रसूति के लिए घी ले आओ। उसके बिना मेरे से व्यथा सहन नहीं होगी।' वह बोला–

प्रिया! मुझ में ऐसी कोई भी कला या कौशल्य नहीं है कि जिससे मुझे कुछ भी प्राप्त हो सके, क्योंकि धनाढ्य पुरुष कला से ही ग्राह्य होते हैं।' वह बोली– कि जाओ! किसी राजा के पास याचना करो, क्योंकि पृथ्वी पर राजा जैसा दूसरा कल्पवृक्ष नहीं है। वह बात स्वीकार करके वह सेडूक उस दिन से ही पुष्प फल आदि से रत्नेच्छु जैसे सागर को सेवता है वैसे राजा की सेवा करने लगा। किसी समय चंपानगरी के राजा ने जैसे वर्षाऋतु बादलों से आकाश को घेर लेती है, वैसे अमित सैन्य से कौशांबी नगरी को घेर लिया। शतानीक राजा तो बिल में रहे सर्प की भांति सैन्य सहित कौशांबी के अंदर दरवाजे बंद करके समय की राह देखने लगा। कितनेक समय में चंपापति अपना सैन्य बहुत दुःखी होने से, बहुत से लोग मरण शरण हो जाने से, वर्षाऋतु में राजहंस की तरह अपने नगर की ओर चल दिया।

(गा. 69 से 77)

उस समय वह सेडुक ब्राह्मण पुष्पादि लेने के लिए उद्यान में जा रहा था, उसको वह दिखाई दिया। सैन्य क्षीण हो जाने से प्रभात में निस्तेज हुए नक्षत्र गणों से युक्त चंद्र के सामान निस्तेज हुआ उसे देखकर वह तत्काल शतानीक राजा के पास आया और कहा कि दाढ़ भंग हुए सर्प के सदृश तुम्हारा शत्रु क्षीण बलवाला होकर अपने नगर की ओर जा रहा है। इसलिए यदि अभी ही आप उठकर उसका सामना करोगे तो वह सुखपूर्वक ग्राह्य हो जाएगा। क्योंकि भग्न हुए पुरुष बलवान होने पर भी पराभव किया जा सकता है।'' उसके वचनों को उपयुक्त मान कर शतानीक राजा तत्काल सर्व बलवान् और बाणवृष्टि कराने वाले प्रधान सैन्य से दारुण होकर नगर के बाहर निकला। उसे पीछे आता देखकर चंपापति के सैनिक पीछे देखे बिना ही भागने लगे। 'अकस्मात गिरी बिजली के सामने कौन देख सकता है? चंपापति तो एकाकी ही किस दिशा में जाऊं' ऐसा भयभीत होकर पलायन कर गया। कौशांबीपति ने उसके हाथी, घोड़े, भंडार आदि पर कब्जा कर लिया। फिर मनस्वी वह शतानीक राजा हर्षित होता हुआ कौशांबी में वापिस आ गया तथा उस सेडुक ब्राह्मण को बुलाकर कहा कि, बोल मैं तुझे क्या दूँ? विप्र बोला मेरी पत्नि को पूछकर फिर मांगूंगा।'' गृहस्थों को गृहिणी के बिना विचार करने का दूसरा स्थान नहीं है।'' भट्टजी खुशी होते होते घर आए और ब्राह्मणी को सर्व हकीकत कह सुनाई। बुद्धिशाली उस ब्राह्मणी ने सोचा कि यदि मैं राजा से गांव आदि की मांग करूंगी तो वैभव के मद से यह ब्राह्मण अवश्य ही

दूसरी स्त्री से शादी कर लेगा। ऐसा विचार करके वह बोली– 'हे नाथ! आपको प्रतिदिन खाने के लिए भोजन और एक सोनामोहर राजा से मांग लेनी।'' इस प्रकार उसने अपने पति को समझा दिया। तब उस ब्राह्मण ने उसी प्रकार राजा से मांग की। राजा ने उसे वह दे दिया। ''गागर समुद्र में जाए तो भी अपने योग्य उतना ही जल पाता है।''

(गा. 78 से 89)

अब प्रतिदिन वह ब्राह्मण उतना लाभ साथ ही सन्मान प्राप्त करने लगा।'' पुरुषों को राजा का प्रसाद महार्धपने को विस्तार कराती है।'' यह राजा का मानीता है, ऐसा जानकर लोग नित्य उसे आमन्त्रित करते थे। इस प्रकार एक से अधिक आमन्त्रण आ जाने पर वह पहले भोजन कर लेता तो भी दक्षिणा के लोभ से प्रतिदिन पूर्व का खाया वमन करके पुनः अनेक बार भोजन कर लेता था। ''ब्राह्मणों के लोभ को धिक्कार है।'' विविध दक्षिणा के द्रव्य से वह ब्राह्मण द्रव्य से अत्यधिक बढ़ गया। बड़वाई से बड़ के वृक्ष की भांति पुत्र पौत्रादिक के परिवार से भी खूब वृद्धि को प्राप्त हुआ। परंतु नित्य अजीर्ण के अन्न के वमन से आम (अपक्व) रस ऊंचा होने से उसकी त्वचा दूषित हो गई, इससे वह लाख द्वारा पीपल के वृक्ष जैसा व्याधिग्रस्त हो गया। अनुक्रम से इसके नाक, चरण और हाथ सड़ गये एवं वह कुष्टी हो गया। फिर भी अग्नि की भांति अतृप्त होकर राजा के समक्ष जाकर प्रतिदिन भोजन करता था। एकदा मंत्रियों ने राजा से निवेदन किया कि, हे देव! इस कुष्टी का रोग संपर्क से फैल जाएगा। इसलिए अब उसे भोजन कराना योग्य नहीं है। उसके बहुत से पुत्र निरोगी हैं, अतः अब उनमें से किसी एक को उसकी जगह भोजन कराओ। क्योंकि जब एक प्रतिमा खंडित हो जाती है, तब उसके स्थान पर अन्य प्रतिमा स्थापित की जाती है।'' राजा ने उनका कथन मान्य किया। तब मंत्रियों ने उस ब्राह्मण को कहा। उसने उसे मान्य करके अपने स्थान पर अपने पुत्र को स्थापन किया और स्वयं घर पर ही रहा। मधुमक्खी के छत्ते की तरह क्षुद्र मक्षिकाओं के जाल से भरपूर ऐसे उस ब्राह्मण को उसके पुत्रों ने भी घर के बाहर एक झोंपड़ी बांधकर उसमें रखा। उसकी पुत्रवधू जुगुप्सापूर्वक उसे खिलाने जाती और नाक भौंह सिकोड़ कर ग्रीवा टेड़ी करके वे थूंकती। घर से बाहर रखे उस ब्राह्मण की आज्ञा भी उसके पुत्र मानते नहीं थे। श्वान की तरह मात्र एक काष्ट के पात्र में उसे भोजन देते थे। एक बार उस ब्राह्मण ने विचार किया कि ''मैंने इन पुत्रों को श्रीमंत

बनाया अब इन पुत्रों ने जैसे वाहन समुद्र को छोड़ देता है, वैसे ही मुझे छोड़ दिया है। ये वाणी से मुझे बुलाते भी नहीं है। उल्टे मुझ पर रोष करते हैं। इस प्रकार विचार करके असंतोषी अभव्य के समान वह कुष्ठी रोष करने लगा। तब उसने निश्चय किया कि जिस प्रकार ये पुत्र मेरी जुगुप्सा कर रहे हैं, उसी प्रकार ये भी जुगुप्सा करने योग्य हों ऐसा मैं भी करूं। तब उसने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा कि हे पुत्रों अब मैं जीवन से उद्विग्न हो गया हूँ। परंतु अपने कुल का ऐसा आचार है कि जो मृत्यु के इच्छुक हो उसे एक अभिमंत्रित पशु देवे। इसलिए मुझे एक पशु ला दो। उसका ऐसा वचन सुनकर पशु के जैसे मंद बुद्धि वाले पुत्रों ने हर्ष से एक पशु उसे ला दिया। बाद में उसने अपने को अंग के ऊपर से मवाद (पस) ले लेकर उसके साथ अन्न मिला मिलाकर उस पशु को खिलाया। जिसके प्रभाव से पशु कुष्ठी हो गया। पश्चात् उस ब्राह्मण ने उस पशु को मार कर उसे अपने पुत्रों को खाने को दिया। वे मुग्ध अज्ञानी पुत्र उसके आशय को जाने बिना उसे खा गये। पश्चात् अब मैं तीर्थ यात्रा को जाऊंगा, ऐसा कहकर पुत्रों की इजाजत लेकर अरण्य का शरण लेकर वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में अत्यंत तुषातुर होने पर जल की शोध में घूमने लगा। इतने में विविध वृक्षवाले किसी प्रदेश में मित्र के जैसा एक जल का प्रपात (झरना) उसे दिखाई दिया। तीर पर वृक्षों से झरता अनेक जाति के पत्र पुष्प और फलों से व्याप्त और दिन में सूर्य की किरणों से तप्त उस जल के वह क्वाथ की भांति पीने लगा। उसने जैसे जैसे तृषा को बुझाने के लिए वह जल पिया, वैसे वैसे कृमियों के साथ रेचन (दस्त) होने लगा। इस प्रकार उस प्रपात का जल पीने से कुछ ही दिनों में वह एकदम निरोगी हो गया एवं वसंतऋतु में वृक्ष की सदृश उसके सर्व अंग पुनः प्रफुल्लित हो गए। आरोग्य प्राप्त होने पर हर्षित होता हुआ वह विप्र अपने घर की ओर चल पड़ा।'' पुरुषों को शरीर की आरोग्यता प्राप्त होने पर जन्मभूमि शृंगाररूप होती है।'' कांचली से मुक्त हुए सर्प की भांति देदीप्यमान शरीरवाले उसे नगरजनों ने विस्मित होकर नगर में प्रवेश करते हुए देखा। नगरजन उसे वैसा आरोग्यवान् देखकर पूछते कि अरे! तू मानो पुनर्जन्म हुआ हो वैसा निरोग कैसे हो गया ? तब वह कहता कि देवता की आराधना से हुआ। अनुक्रम से उसने अपने सब पुत्रों को कुष्ठी हुआ देखा। तब हर्षित होकर वह बोला कि, ''तुमको मेरी अवज्ञा का कितना अच्छा फल मिला है ?'' यह सुनकर पुत्र बोले कि, ''अरे निर्दय पिता! तुमने द्वेषी के समान हम जैसे विश्वासी पर

यह क्या किया ?'' यह बात सुनकर लोग भी उस पर बहुत आक्रोश करने लगे। इस कारण वह वहाँ से भागकर हे राजन्! तेरे नगर में इस प्रकार निराश्रय रूप से आजीविका के लिए घूमता हुआ तेरे द्वारपाल के आश्रय से रहा प्रभु ने फरमाया। इतने में हमारा यहां आगमन हुआ। तब द्वारपाल अपने काम पर उस ब्राह्मण को लगाकर हमारी धर्म देशना सुनने के लिए यहाँ आया। वह विप्र दरवाजे के पास बैठा। वहाँ दुर्गदेवी के समक्ष बलिदान रखा हुआ देख वह अत्यंत क्षुधा का कष्ट होने से उसने मानो जन्म में देखा न हो वैसे बहुत सा खा लिया। पश्चात् आकंठ अन्न भरने के दोष से तथा गीष्मऋतु की गर्मी में उसे अत्यंत तृषा लगी। इससे मरुभूमि के पांथ की तरह वह आकुल व्याकुल हो गया। परंतु उस द्वारपाल के भय से द्वार का स्थान छोड़कर अन्यत्र कहीं भी प्याऊ आदि में पानी पीने जा नहीं सका। उस समय वह जलचर जीवों को वस्तुतः धन्य मानने लगा। अंत में पानी पानी पुकारता हुआ वह ब्राह्मण तृषार्तपने में मर कर इस नगर के द्वार के समीपस्थ बावड़ी में मेंढक हुआ। हम विहार करते करते पुनः भ्रमण करते हुए यहाँ आए। इसलिए लोग संभ्रम से वंदन करने के लिए यहाँ आने लगे। उस वक्त उस वापिका में से जल भरती हुई स्त्रियों के मुख से हमारे आगमन का वृत्तान्त सुनकर उस वापिका में रहा हुआ वह मेंढ़क विचार करने लगा कि 'पूर्व में मैंने ऐसा कहीं सुना है। बारम्बार उसका ऊहापोह करते हुए स्वप्न के स्मरण के समान उसे तत्काल ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया। तब वह दर्दुर चिंतन करने लगा कि ''पूर्व में द्वार पर मुझे रखकर द्वारपाल जिनको वंदन करने के लिए गया था, वे भगवंत जरूर यहाँ आए होंगे। उनको वंदन के लिए जिस प्रकार ये लोग जा रहे हैं, वैसे मैं भी जाऊं। क्योंकि गंगा नदी सबके लिए समान है, किसी के बाप की नहीं है। ऐसा सोचकर वह दर्दुर हमको वंदन करने के लिए वापिका से बाहर कूदकर निकला। वहाँ से यहाँ आते हुए मार्ग में तुम्हारे घोड़े के खुर से कुचलकर मर गया। परंतु हमारे प्रति भक्तिभाव से मरण होने से वह दर्दुरांक नामक देवता हुआ।'' अनुष्ठान बिना भी भावना फलीभूत होती है।''

(गा. 90 से 130)

आज ही इंद्र ने सभा में कहा कि 'श्रेणिक जैसा श्रद्धालु कोई श्रावक नहीं है। उस वचन पर श्रद्धा न होने से वह दर्दुरांक देव तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए यहाँ आया था। उसने गोशीर्ष चंदन से मेरे चरण को चर्चित किया था, परन्तु

तुम्हारी दृष्टि के मोह से तुमको सर्व अन्य ही दिखाई दिया। श्रेणिक ने पूछा– 'हे नाथ! आपको छींक आने पर अमांगलिक बोला और अन्य को छींक आने पर मांगलिक बोला, उसका क्या कारण है? प्रभु ने कहा कि "आप अब तक संसार में क्यों रहे हो? शीघ्र मोक्ष में जाओ, यह सोचकर मुझे उसने कहा 'मृत्यु प्राप्त करो।' हे नरकेशरी राजा! तुझे कहा कि 'जीओ' उसका आशय ऐसा है कि तुझे इस जीवन में सुख है, कारण कि मृत्यु के पश्चात् तेरी नरक गति होने वाली है और अभयकुमार को कहा कि 'जीओ या मरो' तो आशय यह है कि यह जीवित रहेगा तो भी धर्म करता रहेगा और मरणोपरान्त अनुत्तर विमान में जाएगा। कालसौरिक कसाई को जो कहा कि 'जी भी मत और मर भी मत' तो उसका कारण यह है कि यह जीवेगा तो भी पापकर्म ही करेगा और मरकर भी सातवीं नरक में जाएगा, इसलिए ऐसा कहा था।"

(गा. 131 से 138)

इस प्रकार स्पष्टता सुनकर श्रेणिक ने भगवंत को नमन करके कहा कि, 'हे प्रभो! आप जैसे जगत्पति मेरे स्वामी होने पर भी मेरी नरक गति कैसे होगी? प्रभु ने कहा, 'हे राजन्! तुमने पूर्व में ही नरक का आयुष्य बांध लिया है, इसलिए तू अवश्य ही नरक में जाएगा। क्योंकि पूर्व में जो भी शुभ या अशुभ कर्म बांध लिये हों, वे अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। हम भी उसे अन्यथा करने में समर्थ नहीं हैं। तथापि भावी चौवीसी में तू पद्मनाभ नामक प्रथम तीर्थंकर होगा। इसलिए राजन्! तू जरा भी वृथा खेद मत कर। श्रेणिक बोले– 'हे नाथ! कोई ऐसा उपाय है क्या, जिससे अंधकूप में से अंधे की तरह नरक में से मेरी रक्षा हो? प्रभु ने फरमाया – 'हे राजन्! कपिला नामकी ब्राह्मणी से यदि साधुओं को हर्ष से भिक्षा दिलाई जाय अथवा यदि कालसौरिक के पास से कसाई का काम बंद करवा दिया जाय तो नरक से तेरी मुक्ति हो सकती है, उसके सिवा नहीं हो सकती। इस प्रकार हार की भांति प्रभु का उपदेश हृदय में धारण करके श्रेणिक प्रभु को वंदन करके अपने स्थान की ओर चल दिये।

(गा. 139 से 146)

इसी समय उस दर्दुरांक देव ने श्रेणिक राजा की परीक्षा करने के लिए ढीमर मच्छीधर का जैसा अकार्य करते हुए एक साधु को बताया। "यह देखकर जैन प्रवचन की मलिनता न हो' ऐसा सोचकर उस साधु को अकार्य से

निवारण करके वह स्वगृह की ओर चला। आगे जाने पर एक साध्वी को सगर्भा बताई। शासन भक्त उस राजा ने उसे अपने गृह में गुप्त रूप से रखी। श्रेणिक का ऐसा श्रद्धायुक्त कार्य देखकर वह दर्दुरांक देव प्रसन्न हो गया और प्रत्यक्ष होकर बोला कि, ''हे राजन्! शाबाश है, तुमको अपने स्थान से पर्वत के समान समकित से कोई भी चलित नहीं कर सकता। हे नरेश्वर! इंद्र ने अपनी सभा मैं जैसी तुम्हारी प्रशंसा की थी, वैसे ही तुम दिखाई दिये हो। ऐसे पुरुष मिथ्यावचन नहीं बोलते?'' इस प्रकार कहकर उसने दिन में नक्षत्रों की श्रेणी रची हो वैसा एक सुन्दर हार तथा दो गोले श्रेणिक राजा को दिये और कहा कि जो इस टूटे हुए हार को जोड़ेगा, वह मृत्यु को प्राप्त करेगा। वह देव स्वप्नदृष्ट की भांति शीघ्र ही अंतर्ध्यान हो गया।

(गा. 147 से 153)

श्रेणिक राजा ने हर्ष से वह दिव्य मनोहर हार चेल्लणा को दिया और दोनों गोल्लक नंदा देवी को दिये। यह देख 'मैं ऐसे तुच्छ दान के योग्य हुई' ऐसा ईर्ष्यावश नंदा ने उन दोनों गोलों को स्तंभ से टकरा कर फोड़ डाले। तब एक गोले में से चन्द्र के जैसे निर्मल दो कुंडल और दूसरे में से देदीप्यमान रेशमी दो वस्त्र निकले। नंदा ने उन दिव्य वस्तुओं को आनंद से ग्रहण किया। ''महान जनों को बादल बिना वृष्टि जैसे अचिंतित लाभ हो जाते हैं।''

(गा. 154 से 157)

राजा ने उस कपिला ब्राह्मणी को बुलाकर उससे मांग की कि, 'हे भद्रे! तू साधुओं को श्रद्धा से भिक्षा दे, मैं तुझे अपार धनराशि देकर निहाल कर दूंगा।' कपिला बोली कि, 'कभी मुझे सम्पूर्ण सुवर्णमय करो या मुझे मार डालो, तो भी मैं यह अकृत्य कभी नहीं करूँगी। तब राजा ने कालसौरिक को बुलाकर कहा कि यदि तु कसाई का कार्य छोड़ दे तो तुझे बहुत सा द्रव्य दूंगा, क्योंकि तू धन के लोभ से ही कसाई बना है। कालसौरिक बोला कि इस कसाई के कार्य में क्या दोष है? जिससे अनेक मनुष्य जीते हैं ऐसे कसाई के धंधे को मैं कदापि नहीं छोडूंगा 'तब कसाई का व्यापार कैसे करेगा? ऐसा कहकर राजा ने उसे अंधकूप में एक रात–दिन के लिए डाल दिया। पश्चात् राजा श्रेणिक ने भगवंत के सम्मुख जाकर कहा कि, 'हे स्वामी! मैंने कालसौरिक को एक अहोरात्र तक कसाई का कार्य छुडा दिया है।' तब सर्वज्ञ प्रभु बोले कि, हे राजन्! उसने

अंधकूप में भी मृत्तिका के पांच सौ पाड़े बनाकर हनन किया है।' शीघ्र ही श्रेणिक ने वहाँ जाकर देखा तो वैसा ही दिखाई दिया। तब उसे बहुत ही उद्वेग हुआ कि, मेरे पूर्व कर्म को धिक्कार है, ऐसे दुष्कर्म के योग से भगवंत की वाणी अन्यथा नहीं होगी।

(गा. 158 से 165)

सुरासुरों से सेवित श्री वीर प्रभु वहाँ से विहार करके परिवार के साथ पृष्टचंपा नगरी में पधारे। वहाँ साल एवं महासाल नामक ये दोनों बंधु त्रिजगत् बंधु श्री वीरप्रभु को वंदन करने के लिए आए। प्रभु की देशना सुनकर वे दोनों प्रतिबोध को प्राप्त हुए। तब यशोमती और पिठर का गागली नामका पुत्र कि जो कि उनका भाणजा (भागिनेय) था, उसका राज्याभिषेक किया और उन दोनों ने संसार से विरक्त होकर श्री वीर प्रभु के चरण कमलों मे जाकर दीक्षा ली। भगवंत श्री वीरप्रभु कालांतर में विहार करते हुए परिवार से परिवृत होकर चौंतीस अतिश्य सहित चंपापुरी में पधारे। प्रभु की आज्ञा लेकर गौतम स्वामी साल और महासाल मुनि के साथ पृष्टचंपा नगरी में गये। वहां गागली राजा ने भक्ति से गौतम गणधर को वंदना की। साथ ही उसके माता–पिता और अन्य मंत्री आदि पौरजनों ने भी उनको वंदना की। तत्पश्चात् देवताओं द्वारा रचित सुवर्णकमल पर आसीन होकर चतुर्ज्ञानी इंद्रभूति गणधर ने धर्मदेशना दी जिसे सुनकर गागली प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, तब अपने पुत्र को राज्य पर बिठाकर अपने माता पिता के साथ गौतमगणधर के पास दीक्षा ली। उन मुनियों एवं साल महासाल से परिवृत होकर गौतम गणधर चंपानगरी में प्रभु को वंदन करने के लिए आए। गौतम स्वामी का अनुगमन करते हुए मार्ग में शुभ भावना भाते हुए उन पांचों को ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सर्व चंपा पुरी में आए। उन्होंने प्रभु को प्रदक्षिणा दी और गौतम स्वामी को नमन किया। तीर्थंकर प्रभु को नमन करके के पांचों केवली पर्षदा की ओर चल दिये। गौतम ने कहा कि प्रभु को वंदना करो। तब प्रभु ने कहा कि, 'गौतम! केवली की आशातना मत करो। तत्काल गौतम गणधर ने मिथ्या दुष्कृत देकर उनको खमाया।

(गा. 166 से 179)

पश्चात् गौतम खेदित होते हुए चिंतन करने लगे कि क्या मुझे केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा ? क्या मैं इस भव में सिद्ध नहीं होऊंगा ? ऐसा विचार करते हैं

कि इतने में जो अष्टापद पर अपनी लब्धि के द्वारा जाकर वहां जिनेश्वर परमात्मा को वंदन करके एकरात्रि वहाँ रहे, वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त करे।' ऐसा अरिहंत परमात्मा ने देशना में कहा है। इस प्रकार स्वयं को देवताओं ने कहा था वह स्मरण करके, देववाणी की प्रतीति आने से शीघ्र ही गौतम स्वामी ने अष्टापद पर स्थित जिनबिंबों के दर्शन के लिए जाने की इच्छा की। वहाँ भविष्य में तापसों को प्रतिबोध होगा जानकर प्रभु ने गौतम को अष्टापद तीर्थ पर तीर्थंकरों के बिंब को वंदन करने जाने की अनुज्ञा दी। स्वइच्छानुसार आज्ञा मिलने से गौतम हर्षित हुए और चारण लब्धि से वायु सम वेग द्वारा क्षणभर में अष्टापद के समीप में आ पहुँचे। इस समय कौडिन्य, दत्त और सेवाल आदि पंद्रह सौ तपस्वी अष्टापद को मोक्ष का हेतु सुनकर उस गिरि पर आरोहण करने आए थे। उन में से पांचसौ तपस्वी चतुर्थ तप करके आर्द्र कंदादि का पारणा करने पर भी अष्टापद की पहली मेखला तक आए थे। दूसरे पांचसौ तापस छट्ठ तप करके आर्द्र कंदादि का पारणा करने पर भी अष्टापद की दूसरी मेखला तक आए थे। तीसरे पांचसों तापस अट्ठम तप करके सूखे कंदादि का पारणा करने पर भी तीसरी मेखला तक आ पहुँचे थे। वहाँ से ऊपर चढ़ने में अशक्त होने से ये तीन ही समूह पहली, दूसरी और तीसरी मेखला में ही अटक गये थे। वहाँ से उपर चढ़ने में अशक्त होने से वे तीनों ही समूह पहली, दूसरी और तीसरी मेखला में अटक गये थे। इतने में सुवर्ण जैसी कांतिवाले और पुष्ट आकृतिवाले गौतम को उन्होंने वहाँ आते हुए देखा। उनको देखकर वे परस्पर कहने लगे कि, 'अपन शरीर में एकदम कृश हो गये हैं, तथापि इससे आगे चढ़ नहीं सकते हैं। तो यह स्थूल शरीर वाले मुनि किस प्रकार चढ़ सकेंगे? इस प्रकार आपस में वार्तालाप कर रहे थे कि इतने में तो गौतम उस महागिरि पर चढ़ गये एवं क्षणभर में तो देव की भांति उन सब से अदृश्य भी हो गये। यह देख वे परस्पर कहने लगे कि, 'इन महर्षि के पास कोई महाशक्ति है। यदि ये वापिस यहाँ आवेंगे, तो अपने शिष्य हो जावेंगे। ऐसा निश्चय करके वे तापस एक ध्यान से बंधु की भांति उनके वापिस आने की राह देखते रहे।

(गा. 180 से 193)

यहाँ गौतम स्वामी ने भरतेश्वर ने बंधाए नंदीश्वर द्वीप के चैत्य तुल्य चैत्य में प्रवेश किया, और वहाँ स्थित चौवीस तीर्थंकरों के अनुपम बिंबो को भक्तिभावपूर्वक वंदन किया। वहाँ चैत्य से निकलकर गौतम गणधर एक विशाल

अशोक वृक्ष के नीचे आसीन हुए। वहाँ पर अनेक सुर, असुर एवं विद्याधरों ने उनको वंदना की। गौतम ने उनको योग्यतानुसार धर्मदेशना दी। उनके पूछे हुए संदेहों को तर्क शक्ति द्वारा केवली भगवन्त के तुल्य दूर किया। देशना देते हुए प्रसंगोपात उन्होंने निर्देश किया कि 'साधुगण शरीर से शिथिल हो जाते हैं, और ग्लानि पा जाने मात्र से जीवसत्ता द्वारा कांपते कांपते चलते हों, वैसे हो जाते हैं। गौतम स्वामी के ऐसे वचन श्रवण करके वैश्रवण (कुबेर) उनके शरीर की स्थूलता देखकर वे वचन उनमें में अघटित जानकर किंचित्मात्र हंसा। उस समय मनः पर्यव ज्ञानी इंद्रभूति उसके मन का भाव जानकर बोले कि, – 'मुनि जीवन में शरीर की कृशता का कुछ प्रमाण नहीं है, परंतु शुभ भावों एवं ध्यान द्वारा आत्मा का निग्रह करना, वह प्रमाण है। इसके ऊपर एक कथा निग्रह करना, वह प्रमाण है। इसके ऊपर एक कथा इस प्रकार है–

(गा. 194 से 201)

इस जंबूदीप में महाविदेह क्षेत्र के आभूषण रूप पुष्कलावती नामक विजय में पुंडरीकिणी नामकी नगरी है। वहाँ महापद्म नामक राजा था। उसके पद्मावती नाम की प्रिया थी। उसके पुंडरीक और कंडरीक नाम के दो पुत्र थे। एक बार नलिनी वन नाम के उद्यान में कुछ मुनिगण पधारे। उनके पास महापद्म राजा ने धर्म श्रवण किया। जिससे प्रतिबोधित होकर पुंडरीक का राज्याभिषेक करके महापद्म राजा ने व्रत अंगीकार किया। अनुक्रम से केवलज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष में पधारे। एक बार परिभ्रमण करते हुए कुछ मुनि उस पुंडरीकिणी नगरी में आए। तब पुंडरीक और कंडरीक भी धर्मश्रवण करने गये। जिसमें पुंडरीक भावयति होकर स्वगृह में आए थे। उन्होंने मंत्रियों के समक्ष कंडरीक को बुलाकर का– वत्स! तू इस पिता के राज्य को ग्रहण कर, मैं इस संसार से भयभीत हुआ हूँ, अतः भयों से रक्षण करने वाली दीक्षा को अंगीकार करूंगा। तब कंडरीक ने कहा कि, बंधु! क्या तुम मुझे संसार में गिरा रहे हो? इसलिए मैं दीक्षा लूं और भवसागर से तिर जाऊँ।' पुंडरीक ने दो तीन बार उसे राज्य लेने को कहा। परंतु जब उसने उसे मान्य न किया तब पुंडरीक ने उसे कहा कि– "हे बंधु! इंद्रियाँ बहुत ही दुर्जय है। मन सदा चंचल है, तारुण्य वय विकार का धाम है और प्राणी को प्रमाद तो स्वाभाविक है, और फिर परीषह तथा उपसर्ग सहन करना दुःसह है, इसलिए तुझे दृढ़प्रतिज्ञ होना पड़ेगा। क्योंकि दीक्षा पालन करना अत्यन्त दुष्कर है। अभी तो श्रावक धर्म

पालन करके राज्य कर और यौवन व्यातीत हो जाने के पश्चात् दीक्षा लेना। ऐसा करना सर्व प्रकार से योग्य है।'' कंडरीक बोला– भाई! यह सत्य है। परंतु मैं जो बोला वह मुझे पालन करना ही चाहिए। इसलिए मैं तो अवश्य ही दीक्षा लूंगा। ऐसा कहकर कंडरीक ने दीक्षा ले ली एवं पुंडरीक को मंत्रियों ने व्रत लेने से रोक लिया, इसलिए वह भावयति होकर घर में ही रहा।

(गा. 202 से 207)

कंडरीक मुनि विविध प्रकार के तप से कायक्लेश करते एवं समाचारी की विधिवत् परिपालना करने से साधुओं को प्रिय पात्र हो गये। एक वक्त वसंत का समय आने पर चारित्रावरणीय कर्म के उदय से महर्षि कंडरीक का मन चलायमान हो गया। उन्होंने विचार किया कि 'मुझे अब दीक्षा से क्या? मेरा भाई जो पूर्व में मुझे राज्य देना चाह रहा था, वह अब मैं ग्रहण करूंगा। ऐसा विचार करके वह भग्नचित्त से शीघ्र ही पुंडरीकिणी नगरी में आया और उसके उद्यान में एक वृक्ष के नीचे हरे पत्र आदि के शीतल संथारे पर लोटने लगा। अपनी उपाधि को वृक्ष पर लटका दी। उद्यान पालक के द्वारा अपने आने के समाचार राजा को भेज दिये। राजा ने अपने प्रधान के साथ आकर वंदना की। वृक्ष पर अकरण लटकाकर वनस्पति का संथारा करके पड़ा हुआ। उसे देखकर 'यह मुनिजीवन से निर्वेद पाया हुआ लगता है, ऐसा सोचकर पुंडरीक राजा अपने मंत्रियों से बोला–'अरे भाईयों! तुमको याद है क्या? जब इसने बालपने में साहस से व्रत ग्रहण किया, तब मैंने उसे रोका था। ऐसा कहकर पुंडरीक ने उसे इच्छित राज्य पर बिठाया, राज्यचिह्न अर्पित किये एवं स्वयं ने उसके यतिलिंग को ग्रहण करके शुद्ध बुद्धि से दीक्षा लेकर वहाँ से विहार किया। इधर इसने अन्न के लिए रंक की भांति व्रत भग्न किया 'ऐसा कहकर सेवक लोग कंडरीक का उपहास करने लगे। इससे वह हृदय में अत्यन्त कोपायमान होता। परंतु उसने सोचा कि, 'प्रथम मैं अच्छा अच्छा भोजन कर लूं, पश्चात् इस उपवास करने वालों को वध आदि का दंड दूंगा ऐसा सोचकर वह राजमहल में गया। पश्चात् प्रातः काल में जैसे युवा कपोत खाते हैं, उस भांति उसने जघन्य, माध्यम उत्कृष्ट इस प्रकार तीन प्रकार का आकंठ आहार किया एवं रात्रि में विषयभोग के लिए जागरण किया। रात्रिजागरण से एवं अति आहार के दुर्जरपने से उसे विशूचिका हो गई, इससे उसे बहुत ही अरति उत्पन्न हो गई। पवन से पूरित धामण के जैसे उसका उदर फूल गया, पवन का रोध हो जाने से

उसे अत्यन्त तृषा का दाह हो गया। उस समय 'यह पापी प्रतिज्ञाभ्रष्ट हुआ है' ऐसा जानकर उसके मंत्रियों ने उसकी चिकित्सा भी नहीं कराई। इससे वह अति व्यथित होकर सोचने लगा, यह रात्रि निर्गमन हो जाने पर प्रातः काल में इन सब अधिकारियों को कुटुम्ब सहित मरवा डालूंगा। इस प्रकार की कृष्णलेश्या से और महारौद्रध्यान से मरकर वह सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुआ।

(गा. 208 से 232)

इधर पुंडरीकमुनि चिंतन करने लगे कि ''सद्भाग्य से चिर–इच्छित यति धर्म मुझे प्राप्त हुआ है, तो अब इसे गुरु भगवन्त की साक्षी से ग्रहण करूं ऐसा सोचकर वे गुरुभगवन्त के पास चल दिये। गुरु के समक्ष व्रत ग्रहण करके उन्होंने अट्ठम तप का पारणा किया। परंतु नीरस, शीतल (ठंडा) रुक्ष (लूखा) आहार लेने से, साथ ही गुरु के पास आने की जल्दी जल्दी में, उनके कोमल चरणों में से रुधिर निकलने से बहुत कठिनाई से चलकर गांव के मध्य उपाश्रय में आकर खेदित होकर घास के संथारे पर सो गये। दीक्षा ले लेने पर भी 'मैं गुरु के पास जाकर कब दीक्षा लूं? ऐसा चिंतन करते हुए उसी रात्रि में आराधना करके शुभध्यान से परायण के पुष्ट अंग में ही मृत्यु हो जाने से वे सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

(गा. 233 से 237)

इसलिए हे सभाजनों! तपस्वियों को कृशता हो या पुष्टता हो इसमें कुछ प्रमाण नहीं है। शुभध्यान ही परम पुरुषार्थ का कारणभूत है। इस प्रकार गौतमस्वामी कथित पुंडरीक अध्ययन का समीप में बैठे वैश्रमण के सामानिक देव ने एक निष्ठा से श्रवण किया एवं सम्यक्त्व उपार्जन किया। गौतमस्वामी ने उसका अभिप्राय जान लिया। ऐसा जानकर वह भी हर्षित होता हुआ अपने स्थान की ओर चला गया।

(गा. 238 से 240)

देशना के पश्चात् शेष रात्रि वहाँ व्यतीत करके गौतम स्वामी प्रातः काल उस पर्वत से नीचे उतरने लगे। तब राह देखते हुए उन तापसों ने उनको देखा। तापसों ने उनके पास आकर प्रणाम करके कहा कि, 'हे तपोनिधि महात्मा! हम

आपके शिष्य बनेंगे और आप हमारे गुरु बनें। गौतम स्वामी बोले कि– 'सर्वज्ञ परमेश्वर महावीर प्रभु हैं, वे ही तुम्हारे गुरु हैं। उन्होंने अत्यन्त आग्रह किया।' तब गौतम गणधर ने उनको दीक्षा दी। देवताओं ने उनको यतिलिंग दिया। पश्चात् विंध्यगिरि में यूथपति के साथ में जैसे अन्य हाथी चलते हैं, वैसे वे गौतम स्वामी के साथ प्रभु के पास जाने को चल दिये। मार्ग में किसी गाँव के आने पर भिक्षा का समय हो जाने से गौतम गणधर ने उन तापस मुनियों को पूछा कि, तुम्हारे लिए पारणा करने के लिए क्या इष्ट वस्तु लाऊं? उन्होंने कहा कि, 'पायसान्न लाईएगा।' तब गौतम स्वामी लब्धि की सम्पत्ति से अपना उदर पोषण हो, उतनी खीर एक पात्र में लेकर आए। पश्चात् इंद्रभूति गौतम बोले कि, 'हे महर्षियों! आप सब बैठ जाईये और इस पायसान्न से सब लोग पारणा करें! 'इतनी सी खीर से क्या होगा? ऐसा सभी के मन में प्रश्न उठा, तथापि अपने गुरु की आज्ञा अपने को माननी चाहिये ऐसा सोच कर सभी एक साथ बैठे गये। पश्चात् इंद्रभूति गौतम ने अक्षीणमहानस लब्धि के द्वारा उन सबको आहार करा दिया। इस प्रकार उन सबको विस्मित करके स्वयं आहार करने लगे।

(गा. 241 से 250)

जब तापस आहार करने बैठे थे, तब 'अपने पूर्ण भाग्ययोग से श्री वीर परमात्मा जगद्गुरु अपने को धर्मगुरु रूप से प्राप्त हुए हैं, साथ ही पितृ तुल्य ऐसे मुनि बोध कराने वाले मिले, यह भी अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए अपन लोग सर्वथा पुण्यवान् है। इस प्रकार भावना भाते भाते शुष्क सेवालभक्षी पांचसौ तापसों को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। दत्त आदि पांचसौ तापसों को तो दूर से ही प्रभु के प्रातिहार्य के दर्शन करने ही उज्जवल केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। साथ ही कैडिन्य आदि पांचसौं को भगवन्त के दर्शन दूर से ही होने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। पश्चात् वे वीर प्रभु को वंदन करो।' तब प्रभु बोले कि गौतम! केवली की आशातना मत करो।' गौतम ने शीघ्र ही 'मिच्छामि दुक्कडम्' करके उन सबको खमाया। इस समय गौतम ने पुनः चिंतन किया कि, 'अवश्य ही इस भव में मैं सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकूंगा। कारण कि मैं भारी कर्मी हूँ। इन महात्माओं को धन्य है कि, जो मेरे से दीक्षित होने पर भी क्षणभर में इनको केवलज्ञान हो गया। ऐसी चिंता करते हुए गौतम को श्री वीर प्रभु बोले कि– हे गौतम् तीर्थंकरों का वचन सत्य होता है, या देवताओं का? गौतम ने कहा,

'तीर्थंकरों का' तब प्रभु बोले ''अब अधैर्य मत रखना।' गुरु का स्नेह शिष्यों के ऊपर द्विदल के ऊपर के तृण के जैसा होता है, जो कि तत्काल दूर हो जाता है, और गुरु के ऊपर शिष्य का हो वैसा तुम्हारा स्नेह तो ऊन की चटाई जैसा दृढ़ है। चिरकाल के संसर्ग से हमारे ऊपर तुम्हारा स्नेह बहुत ही दृढ़ हुआ है, इसीलिए तुम्हारा केवलज्ञान अटका हुआ है। उस स्नेह का जब अभाव होगा, तब प्रगट होगा।' पश्चात् प्रभु ने गौतम और अन्य को बोध करने के लिए 'द्रुम पत्रीय' अध्ययन की व्याख्या की।

(गा. 251 से 261)

प्रभु के चरण की उपासना करने वाला अंबड नामका परिव्राजक छत्र और त्रिदंड हाथ में धारण करके वहां आया। तीन प्रदक्षिणा देकर प्रभु को नमन किया। भक्ति से रोमांचित होकर अंजलीबद्ध होकर इस प्रकार स्तुति करने लगा, ''हे नाथ! मैं आपके चित्त में वर्तु ऐसी तो वार्ता भी दुर्लभ है, परंतु आप यदि मेरे चित्त में रहो तो मुझे अन्य किसी का प्रयोजन नहीं है। ठगने में तत्पर ऐसे लोग मृदुबुद्धि पुरुषों में कोई कोष से, कोई तुष्टि से तो कोई अनुग्रह से ठगते है। वे कहते हैं कि– जो प्रसन्न नहीं होते उनके पास फल किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? परंतु चिंतामणि आदि तो अचेतन हैं, तो क्या वे फल नहीं देते? हे वीतराग! आपकी सेवा की अपेक्षा भी आपकी आज्ञा का पालन करना, वह विशेष उत्तम है क्योंकि आपकी आज्ञा की आराधना तो मोक्ष का सर्जक है और विराधना सांसार का सृजन करती है। आपकी आज्ञा अनादि काल से हेय और उपादेय गोचर है, अर्थात् आस्रव सर्वथा हेय है और संवर सर्वथा उपादेय है, ऐसी आपकी आज्ञा है। 'आस्रव संसार का तथा संवर मोक्ष को हेतु है। इस प्रकार आर्हती मुष्टि है अर्थात् मूल ज्ञान तो इतना ही है, शेष अन्य तो उसका विस्तार है। इस प्रकार आज्ञा की आराधना में तत्पर ऐसे अनंत जीवों ने मोक्ष को प्राप्त किया, अनंत प्राप्त कर रहे हैं, और अनंत प्राप्त करेंगे। चित्त की प्रसन्नता के द्वारा दीनता का त्याग करके मात्र आपकी आज्ञा का पालन करके भी प्राणी सर्वथा कर्म रूपी पिंजरे से मुक्त होते हैं।''

(गा. 262 से 271)

इस प्रकार जगद्गुरु वीरप्रभु की स्तुति करके वह संन्यासी योग्य स्थान पर बैठकर देव की भांति अनिमेष दृष्टि से प्रभु की देशना सुनने लगा। देशना

पूर्ण होने के पश्चात् वह राजगृह नगर की ओर जाने की तैयारी करने लगा। तब प्रभु ने उसे कहा कि, 'तू राजगृही में जाकर नाग नामके रथकार की स्त्री सुलसा को हमारी ओर से कोमल वाणी से (धर्मलाभ) कहना कुशलता पूछना।' प्रभु की आज्ञा को स्वीकार करके अंबड आकाशमार्ग से उड़कर शीघ्र ही राजगृही आया। पश्चात् सुलसा का पक्षपात किया, इसका क्या कारण? इसलिए मैं उसकी परीक्षा करूँ?

(गा. 272 से 276)

ऐसा विचार करके जिसे वैक्रियलब्धिप्राप्त हुई है, ऐसे अंबड़ ने रूप परिवर्तन करके उसके घर में प्रवेश किया एवं भिक्षा मांगी। सुलसा का नियम था कि मेरे हाथ से सुपात्र को ही भिक्षा देना।' इसलिए उसने इस याचक तापस को भिक्षा नहीं दी। (दासी को आज्ञा दी) तब अंबड़ ने राजगृही नगरी के बाहर जाकर पूर्वदिशा के द्वार पर ब्रह्मा का रूप विकुर्वित किया। उसने पद्मासन लगाकर चार बाहू और चार मुख किये। ब्रह्मास्त्र तीन अक्षसूत्र और जयमुकुट धारण किया। सावित्री को साथ में रखकर हंस का वाहन खड़ा किया। पश्चात् धर्म का उपदेश देकर मानो साक्षात् ब्रह्मा आए हैं, ऐसे मानने वालों के मन का हरण कर लिया। यह समाचार सुनकर सखियों ने आकर सुलसा को कहा कि, 'अपने नगर के बाहर साक्षात् ब्रह्मा जी आए हैं, इसलिए चलो देखने चले।' इस प्रकार अनेक बार कहने पर भी मिथ्यादृष्टि के परिचय से भयभीत सुलसा वहाँ नहीं गई।

(गा. 277 से 282)

दूसरे दिन वह अंबड़ दक्षिण दिशा के द्वार पर गरुड़ पर बैठकर, शंख, चक्र, गदा और खड्ग को धारण करके साक्षात् विष्णु पधारे हैं। ऐसे समाचार सुलसा ने सुने, तो भी सम्यग्दर्शन में निश्चल सुलसा वहाँ नहीं गई।

(गा. 283 से 284)

तीसरे दिन अबंड पश्चिम दिशा के दरवाजे पर शंकर का रूप धारण करके बैठा। अपने नीचे वृषभ का वाहन रखा। ललाट पर चंद्र धारण किया। साथ में पार्वती को रखा गजचर्म के वस्त्र पहने, तीन लोचन किये, शरीर पर भस्म का अंगराग किया भुजा में खट्वांग, त्रिशूल और पिनाक रखे। कपालों की शूद्रमाला गले में धारण की एवं भूतों के विविध गणों की विकुर्वणा की। उस

रूप में धर्मोपदेश करके उसने नगरजनों के मन को हर लिया। परंतु ये समाचार सुनकर भी परम श्राविका सुलसा वहाँ देखने तक नहीं गई।

(गा. 285 से 290)

तब चौथे दिन उसने उत्तर दिशा में तीन गढ़ से सुशोभित और देदीप्यमान तोरणों से युक्त दिव्य समवसरण विकुर्वित किया एवं उसमें स्वयं जिनेश्वर होकर बैठा। यह सुनकर नगरजन विशेष विपुल समृद्धि सहित वहाँ आकर धर्म श्रवण करने लगे। यह समाचार सुनकर श्री सुलसा वहाँ नहीं गई। तब अंबड ने उसे चलायमान करने के लिए एक पुरुष को वहाँ भेजा। उसने आकर इस प्रकार कहा कि, हे सुलसा! श्री विश्वस्वामी जिनेश्वर नगर के बाहर समवसरे हैं। हे भद्रे! उनको वंदन करने में किसलिए विलंब कर रही हो? सुलसा बोली कि, "चौवीसवें तीर्थंकर जगद्गुरु श्री वीर प्रभु नहीं है।" वह बोला कि "अरे मुग्धे! ये तो पच्चीसवें तीर्थंकर हैं, अतः उनको प्रत्यक्ष आकर देखो।" सुलसा बोली, 'कभी भी पच्चीसवें तीर्थंकर हो ही नहीं सकते। इसलिए यह तो कोई कपट बुद्धि वालामहापाखंडी लगता है। वह बिचारे भोले लोगों को ठग रहा है।" वह बोला – भद्रे! ऐसा मत बोलो। इससे तो जैन शासन की प्रभावना होगी। इससे तुमको क्या हानि होने वाली है? इसलिए वहाँ चलो।" सुलसा बोली, ऐसे खोटे प्रपंच से कोई जैन शासन की प्रभावना नहीं होती, बल्कि उससे अप्रभावना होती है।" इस प्रकार सुलसा को अचलित मनवाली देखकर अबंड हृदय में प्रतीति लाकर चिंतन करने लगा कि, जगद्गुरु श्री वीरप्रभु ने भरसभा में इस सती की संभावना की, वह युक्त ही है। क्योंकि विशालमाया करके भी मैं उसे समकित से चलित नहीं कर सका। तब अपना सर्व प्रपंच संहरण करके वह मूलरूप से नैषेधिकी बोलता, हुआ सलसा के घर में गया। सुलसा ने सामने आकर कहा, हे धर्मबंधु! जगदबंधु! श्री वीर के उत्तम श्रावक! आपका स्वागत है! इस प्रकार कहकर माता ने समान वात्सल्य से सुलसा ने उसके चरण पखारे और अपने गृहचैत्य के दर्शन कराये। चैत्यवंदन करके शुद्ध बुद्धि से अंबड बोला, 'भद्रे! मेरे वचन से तू शाश्वत चैत्यों की वंदना कर।' पश्चात् पृथ्वीपर मस्तक नमाकर उसने मानो प्रत्यक्ष देख रही हो वैसे मन में भक्ति भाव से वंदना की। अंबड़ ने पुनः कहा कि 'इस जगत में तू एक गुणवती है कि जिसके समाचार वीरप्रभु ने पूछे हैं।' यह सुनकर सुलसा ने हर्षित होकर वीरप्रभु को वंदना की साथ ही रोमांचित शरीर से उत्तम वाणी से प्रभु की स्तुति की। पुनः

परीक्षा करने की इच्छा से वह चतुर बोला कि, 'हे भद्रे! अभी ब्रह्मादि देव इस नगर के बाहर प्रगट हुए थे और धर्म की व्याख्या करते थे। नगर जन उनको वंदन करने गये थे। उनके पास धर्म श्रवण करने गये थे। परंतु तुम तो कौतुक से भी उनको देखने नहीं गई। सुलसा बोली, हे महाशय! तुम सुज्ञ हो, फिर भी अज्ञानी की तरह क्यों पूछ रहे हो ? ये विचारे ब्रह्मा आदि क्या है ? हिंसा करने के लिए शस्त्र धारण करने वाले, भोगों के लिए स्त्री को पास में रखने वाले, इस प्रकार स्वयं अधर्म में रहने वाले वे धर्म का व्याख्यान क्या देंगे ? जगत् में अद्वितीय आप्तपुरुष श्री वीरप्रभु के दर्शन के पश्चात् एवं धर्म को अंगीकार करने के बाद जो उन देव को देखता है, वह वस्तुतः अपने स्वार्थ का घातक है।'' सुलसा के इस प्रकार वचन सुनकर चित्त में हर्षित होता हुआ और सुलसा को साधु–साधु कहता हुआ अंबड अपने स्थान पर गया। वह महासती सुलसा अनिन्दित आर्हत् धर्म को सर्वदा हृदय में वहन करने लगी।

(गा. 291 से 311)

दशम पर्व का नवम सर्ग समाप्त

दशम सर्ग

दशार्णभद्र और धन्नाशालिभद्र का चरित्र

सुर–असुर से परिवृत्त श्री वीरप्रभु चंपानगरी से विहार करके अनुक्रम से दशार्ण देश में आए। उस देश में दशार्ण नगर में दशार्णभद्र नामक राजा राज्य करता था। एक वक्त वह राजा सांयकाल में अपनी सभा में बैठा था, इतने में चर पुरुषों ने आकर कहा कि, प्रातः काल में आपके नगर के बाहर श्री वीर प्रभु समवसरेंगे। सेवकों के ऐसे वचन सुनकर मेघ की गर्जना से जैसे, विदुरगिरि में रत्न के अंकुर प्रगट होते हैं, वैसे राजा के शरीर में से अतिहर्ष से रोमांच कंचुक उत्पन्न हुआ। तत्काल ही उन्होंने सभा के समक्ष कहा कि, प्रातः काल में मैं ऐसा समृद्धि से प्रभु को वंदन करूंगा कि वैसी समृद्धि से पूर्व में किसी ने भी उनको वंदन नहीं किया होगा। इस प्रकार मंत्री आदि के कहकर वह अपने अंतःपुर में गया और मैं प्रातःकाल में प्रभु को इस प्रकार वंदन करूंगा, स्तुति करूंगा' ऐसी चिंतन करते हुए उसने वह रात्रि निर्गमन की। अभी सूर्योदय भी हुआ नहीं था, वहाँ तो राजसूर्य दशार्ण राजा ने नगर के अध्यक्ष आदि को बुलाकर आज्ञा दी कि– मेरे महल से समवसरण तक विपुल समृद्धि से मेरे जाने योग्य मार्ग को शणगारो।

(गा. 1 से 9)

इधर वीरप्रभु नगर के बाहर पधारे और देवताओं ने समवसरण की। रचना की इधर क्षणभर में राजा की आज्ञानुसार सर्व कर दिया। देवताओं को जैसे मन द्वारा सर्व कार्य सिद्ध होते हैं, वैसे राजाओं के वचन द्वारा होते हैं।" राजमार्ग की रज को कुंकुम के जल द्वारा शमन किया, मार्ग की भूमि पर सर्वत्र पुष्प बिछा दिये। स्थान स्थान पर सुवर्ण के स्तंभ सहित तोरण बांध दिये। सुवर्ण के पात्रों की श्रेणि से शोभित ऐसे मंत्र स्थापित कर दिये। भिन्न–भिन्न चित्रों से

चित्रित वस्त्रों से सुशोभित, रत्नमय दर्पणों से आश्चर्यकारी वैसे और सुगन्धित मालाएँ मार्ग के चारों तरफ सुंदर स्तंभों के साथ लटका दी। ऊंचे दंड वाले, और मोती के झालर वाले मंडप कि जो मेघाडम्बर की शोभा की धारण करते थे, उससे भी आगे बढ़े वैसी एक छाया कर दी। स्थान–स्थान पर अग्नि के साथ धूप घटाओं के अंदर अगुरु, कपूर की धूम्र से मंडप को अंकुरित करे वैसा कर दिया। इस प्रकार मानो स्वर्ग का एक खंड हो वैसा मार्ग का सुशोभित करके मंत्रियों ने प्रभु के दर्शन को उत्साहित राजा को सर्व हकीकत निवेदन की।

(गा. 10 से 18)

राजा स्नान करके, दिव्य अंगराग और सर्व अंग पर आभूषण तथा शुद्ध वस्त्र धारण करके, पुष्प की माला पहन कर, उत्तम गजेन्द्र पर आरुढ़ हुआ। मस्तक पर श्वेतछत्र और दोनों ओर चंवरों से विराजमान महाराजा इंद्र की भांति चले। महामूल्यवान आभूषणों को धारण करके उनके हजारों सामन्त मानो उनका वैक्रिय स्वरूप हो उनके पीछे पीछे चल दिय। उनके पश्चात् चलित चंवरों से विराजित और इंद्राणी के रूप को भी पराभव करती हुई उनकी अंतःपुर की मृगाक्षियाँ उनके पीछे पीछे चली। मार्ग में बंदीजन राजा की स्तुति कर रहे थे। गायक गीत गा रहे थे और मार्ग को सजाने वाले अपना कौशल्य बता रहे थे।

(गा. 19 से 23)

इस प्रकार अन्य राजाओं के बड़े बड़े छत्रों से जिनके मार्ग में नवीन मंडप हो गया था, ऐसा दशार्णभद्र राजा अनुक्रम से समवसरण में आ गये। उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर प्रभु को वंदना की। अपनी समृद्धि से गर्वित होकर अपने योग्य स्थान पर बैठे।

(गा. 24 से 25)

उस समय दशार्णपति को समृद्धि से गर्वित हुआ जानकर उनको प्रतिबोध करने के लिए इंद्र ने एक जलमय विमान की विकुर्वणा की। उसमें स्फटिक मणि जैसे निर्मल जल के प्रांतभाग में सुंदर कमल विकस्वर कर रहे थे। सारसपक्षियों के मधुर शब्द के प्रतिनाद हो रहे थे। देव वृक्ष और देवलताओं की श्रेणी में से झरते पुष्पों से वह सुशोभित था। नीलकमलों की शोभा से वह इंद्रनीलमणिमय हो वैसा लगता था। मरकत मणिमय नलिनी में सुवर्णमय विकस्वर कमलों का

प्रकाश प्रवेश होने पर अधिक चमकता था एवं जल की चपल तरंग मालाओं से वे पताकाओं की शोभा की धारण करती ऐसे जलकांत विमान में इंद्र देवतओं के साथ बैठा। उस समय हजारों देवांगनाएँ उनको चंवर ढुलाने लगी एवं गंधर्वगण प्रारंभ किये संगीत में वह कुछ कुछ कान लगाने लगा। इस प्रकार प्रभु के चरणों से पवित्र ऐसी पृथ्वी पर बीच दृष्टि करता हुआ इंद्र मनुष्य लोक में आया। नीचे नीचे उतरते उतरते मरकत मणि के नाल से विराजित सुवर्ण के कमल पर मानो चरण सहित पर्वत हो इस प्रकार चरण रखता रखता मणिमय आठ दंत शूल से शोभित और देवदूष्य वस्त्रों से जिसका पृष्ट भाग आच्छादित था, ऐसे ऐरावण हाथी पर इंद्र आरुढ हुआ। उस समय वहाँ उस हस्ति पर पूर्व में ही आरुढ़ हुई देवांगनाओं ने उनको हाथ से सहारा दिया। उसके पश्चात् जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में वंदन को इच्छुक भक्तजनों में शिरोमणि इंद्र ने भक्तिभावित चित्त से उस समवसरण में प्रवेश किया। उस समय उसके जलकांत विमान में आई हुई क्रीड़ा वापिकाओं में स्थित प्रत्येक कमल के अंदर संगीत होने लगा। प्रत्येक संगीत में इंद्र के समान वैभववाला एक एक सामानिक देव दिव्य रूप और सुंदर वेश युक्त दिखाई देने लगा। प्रत्येक देव का परिवार इंद्र के परिवार के सदृश महर्द्धिक और विश्व को विस्मयकारक था। इस प्रकार की विमान की समृद्धि से इंद्र स्वयं विस्मित हो गया तो अल्प समृद्धि वालों अन्यों की तो बात ही क्या?

(गा. 26 से 40)

तत्पश्चात् सुर–नरों से विस्मित होकर दृष्ट उस इंद्र ने कंठ में आरोपित हार पृथ्वीतल पर लोटाते हुए प्रभु को बारम्बार नमन किया। इंद्र की इस प्रकार की पारावार समृद्धि देखकर दशार्णभद्र राजा तो जिस प्रकार शहर की समृद्धि देखकर ग्राम्यजन स्तंभित हो जाते है, वैसा हो गया। तब विस्मय से विकसित नेत्रों से उसने विचार किया कि, 'अहो! इन्द्र के विमान की कैसी लोकोत्तर शोभा है? अहो! इस ऐरावण हाथी के गात्र कितने सुंदर है? अहो! इस इंद्र के वैभव का विस्तार तो अलौकिक ज्ञात होता है। अरे! मुझे धिक्कार है कि जो मैंने मेरी संपत्ति था अभिमान किया। मेरी और इंद्र की समृद्धि में तो गड्ढे और समुद्र जितना अंतर है। मैंने मेरी इस समृद्धि के गर्व से मेरी आत्मा को तुच्छ बना दिया। पूर्व में ऐसी समृद्धि नहीं देखने की वजह से मैं कूप मंडूक जैसा था। ऐसी भावना भाते हुए धीरे धीरे वैराग्य वासित हो जाने पर, अल्प कर्म के कारण

शुभ परिणाम हो गये। उन्होंने सोचा कि ''ऐसी समृद्धि के कारण इंद्र ने मुझे जीत लिया है। तथापि अब दीक्षा लेकर में उसको पराजित करूंगा। इतना ही नहीं दीक्षा लेकर केवल उस पर ही विजय नहीं करूंगा, बल्कि भव भ्रमण कराने वाले जो कर्म रुपी शत्रु हैं, उनको भी जीत लूँगा। ऐसा विचार करके विवेकी दशार्णपति ने तत्काल वहाँ ही मुकुट, कड़े आदि आभूषण उतार दिये और मानो कर्म रूप वृक्षों को मूल खींचकर निकालते हों, वैसे पंचमुष्ठि द्वारा मस्तक के केश खींचकर निकाल डाले। विस्मित नेत्रों द्वारा इंद्र के देखते देखते तो उन्होंने गणधर भगवंत के पास आकर यतिलिंग ग्रहण कर लिया। पश्चात अपूर्व उत्साह और साहसी उन दशार्णभद्र मुनि प्रभु को प्रदक्षिणा पूर्वक वंदना की। उसने वक्त इंद्र ने उनके समक्ष आकर कहा कि 'अहो महात्मन! आपका यह कोई महान् पराक्रम हैं कि तुमने मुझको कभी जीत लिया। तो अन्य की तो बात ही क्या करनी ? ऐसा कहकर इंद्र उनको नमस्कार करके अपने स्थान पर चला गया। दशार्ण भद्र मुनि उत्तम प्रकार से व्रतों की परिपालना करने लगे एवं श्री वीर प्रभु जी ने भव्यजनों के उपकार के लिए वहां से अन्यत्र विहार किया।

(गा. 41 से 56)

राजगृही नगरी के समीप शाली गांव में एक धन्या नामकी स्त्री रहती थी। उसके समग्र वंश का उच्छेद हो गया था। मात्र संगमक नामक एक पुत्र ही अवशेष रहा था। वह उसे अपने साथ ही लेकर आई थी। ''क्योंकि कितने ही दुःख में भी अपने उदर से उत्पन्न संतान को छोड़ देना अशक्य है।'' वह संगमक वहाँ रहकर लोगों के बछड़ों को चराता था। ''गरीब बालकों को ऐसी मृदु आजीविक ही घटित हैं।'' एक बार कोई पर्वोत्सव का दिन आया। उस समय घर घर में पायसान्न (खीर) बना हुआ, संगमक को दिखाई दिया। इससे उस मुग्ध बालक ने घर जाकर अपनी दीन माता के पास खीर को मांग की। वह बोलीयाँ, पुत्र मैं तो दरिद्री हूँ, मेरे पास पायसान्न कहाँ से हो ? अज्ञता से जब बालक बार–बार खीर मांगने लगा, खीर खाने की जिद्द करने लगा, तब धन्या अपने पूर्व वैभव का स्मरण करती हुई तार स्वर से रुदन करने लगी। उसके रुदन दुःख से जिनका हृदय बींध गया, ऐसी पड़ौसिनों के आकर उसके दुःख का कारण पूछा। तब धन्या ने गद्गद् स्वर से अपने दुःख का करण कहा। तब उन सबने मिलकर दूध आदि सर्व साम्रगी लाकर दे दी। तब उसने खीर बनाई। एक थाली में उसे थोड़ी खीर परोस कर वह किसी गृहकार्य में लग गई। उस

समय एक मासक्षमण तप धारी कोई मुनि पारणे के लिए एवं संगमक को तारने के लिए वहाँ आए। उनको देखने ही संगमक विचार करने लगा कि, ये सचेतन चिंतामणिरत्न, जंगम कल्पवृक्ष और कामधेनु रूपी मुनि महाराज मेरे भाग्य से ही इस समय यहाँ पधारे हैं, यह बहुत ही अच्छा हुआ। नहीं तो मुझ जैसे गरीब को ऐसे उत्तम पात्र का योग कहाँ से हो ? मेरे किसी भाग्य के योग से आज चित्त, वित्त और पात्र रूप त्रिवेणी संगम हुआ है। इस प्रकार विचार करके उसने थाल से रही हुई संपूर्ण खीर मुनि महाराज को वहरा दी। दयालु मुनि महाराज ने उसके अनुग्रह के कारण उसे ग्रहण भी कर ली। मुनि भगवन्त उसके घर से बाहर निकले कि वहाँ धन्या आई और थाल में खीर दिखाई न देने से 'स्वयं ने दी हुई खीर पुत्र ने खा ली होगी' ऐसा सोचकर उसने पुनः खीर उसे दी। वह खीर संगमक ने अतृप्त रूप से आकंठ खा ली। इससे अजीर्ण हो जाने से उसी रात्रि को मुनि का स्मरण करते हुए संगमक मृत्यु को प्राप्त हुआ।

(गा. 57 से 72)

मुनिदान के प्रभाव से संगमक का जीव वहाँ से राजगृही नगरी मे गोभद्र सेठ की भद्रा नामकी स्त्री के उदर में अवतरा। भद्रा ने स्वप्न में पक्कशाली का क्षेत्र (खेत) देखा। उसने यह बात अपने पति को कही। तब पति ने तुझे 'पुत्र होगा' ऐसा कहा। पश्चात् में दानधर्म आदि सुकृत्य करूं'' ऐसा भद्रा को दोहद उत्पन्न हुआ। भद्र बुद्धिवाले गोभद्र सेठ ने उसके दोहद को पूर्ण किया। समय पूर्ण होने पर विदुरगिरि की भूमि जैसे रत्न को जन्म दे, वैसे भद्रा ने दिशाओं के मुख को उद्योत करने वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया। स्वप्नानुसार माता पिता ने शुभ दिन में शालिभद्र ऐसा नामकरण किया। पांच धायमाताओं से लालन पालन करते हुए तब उसके पिता ने उसे पाठशाला में भेजकर सर्व कलाओं में उसे पारंगत किया। अनुक्रम से युवतिजनों का वल्लभ ऐसा वह शालिभद्र यौवन वय को प्राप्त होने पर नवीन प्रद्युम्न के सदृश समयी मित्रों के साथ घूमने फिरने लगा। उस नगर के श्रेष्टिगण अपनी बत्तीस कन्याओं को शालिभद्र को देने के लिए गोभद्र सेठ को विज्ञप्ति की। गोभद्र सेठ ने हर्षित होकर उन सबको स्वीकार किया एवं सर्व लक्षणसम्पूर्ण बत्तीस कन्याओं का विवाह शालिभद्र के साथ कर दिया। विमान के तुल्य रमणीय अपने मंदिर में स्त्रियों के साथ शालिभद्र विलास करने लगा। वह ऐसे आनंद में मग्न था कि रात्रि और दिन का भी उसे पता नहीं चलता। माता पिता उसके लिए भोग्य सामग्री का भी प्रबंध करते। किसी समय

गोभद्र सेठ ने वीरप्रभु के पास दीक्षा ली और विधिपूर्वक अनशन करके वे देवलोक में गये। वहाँ से उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा अपने पुत्र शालिभद्र को देखकर उनके पुण्य से वशीभूत होकर पुत्रवात्सल्य से तत्पर हो गये। साथ ही कल्पवृक्ष के समान स्त्री सहित उसे प्रतिदिन दिव्य वस्त्र एवं नेपथ्य आदि प्रेषित करने लगे। इधर पुरुष योग्य जो जो कार्य होते वे सब भद्रा संभालती थी, और शालिभद्र तो पूर्वदान के प्रभाव से केवल भोगों को ही भोगता था।

(गा. 73 से 87)

अन्यदा कोई परदेशी व्यापारी रत्नकंबल लेकर श्रेणिक राजा के पास विक्रय करने हेतु आए। परंतु उनकी कीमत अति विशेष होने से श्रेणिक राजा ने वे खरीदे नहीं। तब वे घूमते घूमते शालिभद्र के घर गये। तब भद्रा ने मुँह मांगा मूल्य देकर उन सबको ही खरीद लिया। इतने में चेलणा ने उस दिन श्रेणिक महाराज से कहा कि, 'मेरे योग्य एक रत्नकंबल ला दो।' तब श्रेणिक महाराज ने एक रत्नकंबल खरीदने हेतु उस व्यापारी को बुलाया। उन्होंने कहा कि 'सभी रत्नकंबल तो भद्रा ने खरीद लिये। तब श्रेणिक राजा के एक चतुर पुरुष को मूल्य देकर रत्नकंबल लेने के लिए भद्र के पास भेजा। उसने आकर रत्नकंबल की मांग की। तब भद्रा बोली कि, 'शालिभद्र की स्त्रियों को पैर पोंछने के लिए मैंने टुकड़े करके दे दिये हैं। इसलिए यदि जीर्ण रत्न कंबलों का कार्य हो तो श्रेणिक महाराज को पूछकर आओ एवं ले जाओ।' चतुर पुरुष ने यह सब वृत्तांत राजा को कह सुनाया यह सुनकर चेलणा रानी बोली कि 'देखों! आपमें और उस वणिक में पीतल और सुवर्ण जितना अंतर है। तब राजा ने कौतुक से उसी पुरुष को भेजकर शालिभद्र को अपने पास बुलाया। तब भद्रा ने राजा के पास आकर कहा कि 'मेरा पुत्र तो कभी भी घर से बाहर भी नहीं निकलता' इसलिए आप ही मेरे घर पधारने की कृपा करो।' श्रेणिक ने कौतुक से वैसा करना चाहा। तब क्षणभर के पश्चात् आने का कहकर भद्रा अपने घर आई एवं इतने समय में तो विचित्र वस्त्र और माणकादि द्वारा राजमार्ग की शोभा राजमहल से अपने घर तक अत्यन्त सुंदर करवा दी। तब उसके कहे अनुसार देवता के समान क्षण में तैयार की हुई शोभा को देखने हुए श्रेणिक राजा शालिभद्र के घर आया। जहाँ स्वर्ण के स्तंभ पर इंद्रनीलमणि के तोरण झूल रहे थे, द्वार की भूमि पर मोतियों के स्वस्तिकों की श्रेणियाँ की हुई थी, स्थान स्थान पर दिव्य वस्त्रों के चंदरवे बांधे हुए तथा सम्पूर्ण घर सुगंधित द्रव्य से धूपित किया हुआ था। यह सब विस्मय से

विकसित नेत्रों से देखते हुए श्रेणिक राजा ने गृह में प्रवेश किया। तथा चार मंजिल तक चढ़ने पर सुशोभित सिंहासन को अलंकृत किया। तब भद्रा ने सातवीं भूमिका (मंजिल) पर स्थित शालिभद्र के पास जाकर कहा कि, पुत्र! श्रेणिक यहाँ आए हैं, तो तुम उनको देखने को चलो।'

(गा. 88 से 103)

शालिभद्र ने कहा – "माता! उसके विषय में आप सबकुछ जानती हो, इसलिए योग्य मूल्य देकर उसे ले लो। मुझे वहाँ आकर क्या करना है?" भद्रा ने कहा "पुत्र! श्रेणिक यह कोई खरीदने का पदार्थ नहीं है, परंतु वे तो सब लोगों के एवं तेरे भी स्वामी है। यह सुनकर शालिभद्र कुछ खेदित हुए, फिर भी चिंतन करने लगे कि, 'मेरे इस सांसारिक ऐश्वर्य को धिक्कार है कि जिससे मेरे कोई अन्य स्वामी भी हैं। इसलिए मुझे अब सर्प के फण जैसे इन भोगों से क्या लेना? अब तो मैं श्री वीरप्रभु के चरणों में व्रत ग्रहण कर लूंगा।" इस प्रकार उसे उत्कृष्ट संवेग प्राप्त हुआ। तथापि माता के आग्रह से वह स्त्रियों सहित श्रेणिक राजा के पास आये और विनय से राजा के प्रणाम किया। राजा श्रेणिक ने आलिंगन करके स्वपुत्रवत् अपनी गोद में बिठाया। साथ ही स्नेह से हर्षाश्रु भी गिर पडे। तब भद्रा बोली हे देव! अब इसे छोड़ दो। यह मनुष्य है, फिर भी इसे मनुष्य की गंध से बाधा होती है। इसके पिता देवता बने हैं, वे प्रतिदिन स्त्रियों के साथ अपने पुत्र को दिव्य वेष, वस्त्र तथा अंगरण देते हैं।' यह सुनकर श्रेणिक ने उसे जाने की इजाजत दी और वह अपनी सातवीं मंजिल पर चला गया।

(गा. 104 से 113)

तत्पश्चात् भद्रा ने राजा को विज्ञप्ति की कि आज तो यही पर भोजन करने की कृपा करें।' भद्रा के अत्याग्रह से राजा ने स्वीकार कर लिया। तब भद्रा ने शीघ्र ही भोजन की तैयारी करवाई "श्रीमन्तों को क्या सिद्ध नहीं होता? "तब राजा ने स्नान के योग्य तेल जल से और चूर्ण द्वारा स्नान किया। स्नान करते समय उनकी उंगली में से एक मुद्रिका (अंगूठी) गृहवापिका में गिर गई। राजा इधर उधर उसे शोधने लगा। भद्रा ने दासी को आज्ञा दी कि वापी का जल दूसरी ओर निकाल दें। ऐसा करने पर उस वापिका में दिव्य आभरणों के बीच में अपनी फीकी लगती अंगूठी देखकर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ। राजा ने पूछा कि, 'यह सब क्या है?' दासी बोली कि,'प्रतिदिन शालिभद्र और उसकी स्त्रियों के निर्माल्य आभरणादि निकाल दिये जाते हैं, वे सब ये हैं।' राजा विचार

करने लगा, धन्य है इस शालिभद्र को, साथ ही धन्य हूँ मैं भी कि मेरे राज्य में ऐसे धनाढ्य पुरुष भी वसते हैं। पश्चात् राजाओं में अग्रणी श्रेणिक राजा ने परिवार सहित भोजन किया। भोजन के पश्चात् विचित्र अलंकारों एवं वस्त्रों से अर्चित होकर राजा राजमहल में गया।

(गा. 114 से 120)

इधर शालिभद्र संसार से मुक्त होने का विचार कर रहे थे, इतने में उसके धर्ममित्र ने आकर विज्ञप्ति की कि–'चतुर्ज्ञानधारी और सुर असुरों से नमस्कृत मानों मूर्तिमान् धर्म हों ऐसे धर्मघोष नाम के मुनि उद्यान में पधारें हैं' यह श्रवण करके शालिभद्र हर्ष से रथ में बैठकर वहाँ आया। आचार्य भगवन्त को तथा अन्य साधुओं को वंदन करके उनके सम्मुख बैठा। सूरि भगवन्त के देशना देने के पश्चात् उसने पूछा कि, 'हे भगवन्! कौनसे कर्म से राजा स्वामी न हों? मुनि ने फरमाया, कि–'जो दीक्षा ग्रहण करता है, वह इस जगत् का भी स्वामी होता है। शालिभद्र ने कहा कि, यदि ऐसा है तो मैं घर जाकर मेरी माता से अनुमति लेकर दीक्षा ग्रहण करूंगा।'' सूरि प्रवर ने कहा कि ''धर्म कार्य में प्रमाद मत करो।'' शालिभद्र ने घर जाकर माता को नमस्कार करके कहा कि– ''हे माता! आज श्री धर्मघोषसूरि के मुख कमल से मैंने धर्म श्रवण किया, वह धर्म इस संसार के सर्व दुःख से छूटने के उपाय रूप है।'' भद्रा बोली कि– 'वत्स! बहुत अच्छा किया, क्योंकि तू ऐसे धर्मी पिता का पुत्र है' इस प्रकार हर्ष से शालिभद्र की प्रशंसा की। तब शालिभद्र ने कहा कि– 'माता! यदि ऐसा ही है तो प्रसन्न होकर मुझे अनुमति दो, मैं व्रत अंगीकार करूंगा। क्योंकि मैं उन पिता का पुत्र हूँ। भद्रा बोली 'वत्स! तेरा व्रत लेने का उद्यम युक्त है। परंतु उसमें तो निरन्तर ही लोहे के चने चबाने का है। तू प्रकृति से ही सुकोमल है और दिव्य भोगों से लालित है, इसलिए विशाल रथ को छोटे छोटे बछडे की तरह तू किस प्रकार व्रत के भार को वहन कर सकेगा?' शालिभद्र बोले– 'हे माता! भोग लालित जो पुरुष व्रत के कष्टों को सहन नहीं करते, उनको कायर समझना किन्तु सभी कोई वैसे नहीं होते।' भद्रा बोली – हे वत्स! यदि तेरा ऐसा ही विचार है तो तू धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा भोगों का त्याग करके मनुष्य की मलिनता की गंध को सहन करने का अभ्यास कर पश्चात् व्रत ग्रहण करना।' शालिभद्र ने उनके वचनों को शीघ्र ही मान्य किया और उस दिन से प्रतिदिन एक एक स्त्री का एवं शय्या का त्याग करने लगा।

(गा. 121 से 135)

उसी नगर में धन्य नामक एक बड़ा धनाढ्य सेठ रहता था, जो कि शालिभद्र की कनिष्ट भगिनी का पति था। अपने बंधु के ये समाचार सुनकर अपने पति को स्नान कराते समय शालिभद्र की बहन की आंख में आँसू आ गये। यह देखकर धन्य ने पूछा कि, 'तुम किस कारण से रो रही हो?' तब वहगद्‌गद् स्वर में बोली कि– 'हे स्वामी! मेरे भाई शालिभद्र व्रत लेने के लिए प्रतिदिन एक एक स्त्री का एवं शय्या का त्याग कर रहे हैं, इसलिए मुझे रुदन आ रहा है। यह सुनकर धन्य ने मश्करी (मजाक) में कहा कि, 'जो ऐसा करता है वह तो सियाल के समान डरपोक माना जाय। अतः तेरा भाई भी हीनसत्त्व लगता है।'' यह सुनकर उनकी अन्य स्त्रियाँ भी बोल उठी कि 'हे नाथ! यदि व्रत लेना सरल है, तो आप क्यों नहीं ले लेते?' धन्य बोले– 'मुझे व्रत लेने में तुम ही विघ्न रूप थी, जो आज पुण्ययोग से अनुकूल हुई, तो अब मैं शीघ्र ही व्रत लूंगा। वे बोली कि – 'प्राणेश! प्रसन्न हो जाइये! हम तो मजाक कर रही थी।' स्त्रियों के ऐसे वचनों के जवाब में 'ये स्त्रियाँ तथा द्रव्य आदि सर्व अनित्य हैं, निरन्तर त्याग करने योग्य है, इसलिए अब मैं तो अवश्य ही दीक्षा लूंगा। इस प्रकार बोलता हुआ धन्य शीघ्र ही खड़ा हो गया, तब हम भी आपके साथ दीक्षा लेंगे ऐसा सर्व स्त्रियाँ बोल उठी। अपनी आत्मा को धन्य मानने वाले महा मनस्वी धन्य ने उसमें अपनी संमति दी।

(गा. 136 से 144)

इसी समय में श्री वीर प्रभु वैभारगिरि पर समवसरे। धन्य ने धर्म मित्र के कहने पर ये समाचार जाने। इसलिए शीघ्र ही दीनजनों को अत्यन्त दान आदि देकर स्त्रियों के सहित शिबिका में बैठकर भवभ्रमण से भयभीत हुआ धन्य महावीर भगवन्त के चरण–शरण में आया एवं ये समाचार सुनकर शालिभद्र अपने को विजित मानकर त्वरा करने लगा। तब श्रेणिक राजा से अनुसरित शालिभद्र एवं धन्ना ने तुरंत ही श्री वीरप्रभु के पास आकर व्रत ग्रहण किया।

(गा. 145 से 148)

धन्य और शालिभद्र दोनों अनुक्रम से बहुश्रुत हुए एवं खड्‌गधारा सदृश महातप करने लगे। शरीर की किंचित् भी अपेक्षा के बिना वे पक्ष, मास, दो मास, तीन मास, और चारमास की तपस्या करके पारणा करते थे। ऐसी उग्रतपस्या से मांस और रुधिर रहित शरीर से धन्य और शालिभद्र चमड़े की

धमण जैसे दिखने लगे। अन्यदा श्री महावीर स्वामी प्रभु के साथ वे दोनों महामुनि अपनी जन्मभूमि राजगृही नगरी में आए। प्रभु समवसरे हैं, ऐसा ज्ञात होने पर अतिशय श्रद्धा से लोग उनको नमन करने के लिए त्वरित गति से नगर से बाहर आये। इस अवसर पर धन्य और शालिभद्र दोनों मुनि मासक्षमण के पारणे के लिए भिक्षा लेने जाने की अनुज्ञा के लिए प्रभु के पास आए एवं नमस्कार करके खड़े हो गये। तब शालिभद्र के प्रति प्रभु ने कहा कि 'आज तुम्हारी माता के हाथ से प्राप्त आहार से तुम्हारा पारणा होगा।' तब मैं चाहता हूँ' ऐसा कहकर शालिभद्र मुनि धन्य के साथ नगर में गए। दोनों ही मुनि भद्रा के गृहद्वार के पास आकर खड़े हुए। परंतु तपस्या के कारण अतिकृशता की वजह से किसी के भी पहचानने में नहीं आए। परंतु 'आज श्री वीर प्रभु शालिभद्र और धन्य मुनि के साथ यहाँ पधारें हैं, तो मैं उनको वंदन करने के लिए जाऊँ' ऐसी इच्छा के कारण आकुलव्याकुल हुई रोमांचित शरीर वाली भद्रा भी उसमें व्यस्त हो गई। उसका भी लक्ष्य वहाँ नहीं पहुँचा। इधर दोनों मुनि क्षणभर खड़े रहकर शीघ्र ही वहाँ से मुड़ गये। वे नगर के दरवाजे से बाहर निकल ही रहे थे कि शालिभद्र की पूर्व भव की माता धन्या नगर में दूध दही बेचने के लिए आती हुई सामने मिली। शालिभद्र को देखते ही उसके स्तन में से पय झरने लगा। तब उन दोनों मुनि के चरणों में वन्दन करके उसने भक्तिपूर्वक दही वहराया। वहाँ से शालिभद्र मुनि प्रभु के समक्ष आए एवं गोचरी की आलोचना करके अंजलिबद्ध होकर पूछने लगे कि "हे प्रभो! आपके कहे अनुसार मुझे मेरी माता के पास से पारणे के लिए आहार क्यों नहीं मिला?" सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया कि 'हे शालिभद्र महामुनि! यह दही वहराने वाली तुम्हारी पूर्व भवकी माता धन्या थी।' पश्चात् दही से पारणा करके प्रभुकी आज्ञा लेकर शालिभद्र मुनि धन्य के साथ अनशन करने के लिए वैभारगिरि पर गये। वहाँ धन्य सहित शालिभद्र मुनि ने शिलातल पर प्रतिलेखना करके पादपोपगमन नामक अनशन अंगीकार किया।

(गा. 149 से 165)

इधर शालिभद्र की माता भद्रा और श्रेणिक राजा उसी समय भक्तियुक्त चित्त से श्री वीर प्रभु के पास आये। प्रभु को नमस्कार करके भद्रा ने पूछा कि "हे जगत्पति! धन्य और शालिभद्र मुनि कहाँ गये? वे हमारे घर भिक्षा के लिए क्यों नहीं आए?" सर्वज्ञ प्रभु ने फरमाया कि, 'वे दोनों मुनि तुम्हारे घर पर

भिक्षा के लिए आए थे, परंतु तुम यहाँ आने की व्यग्रता में थे, अतः तुमको विदित नहीं हुआ। पश्चात् तम्हारे पुत्र की पूर्व जन्म की माता धन्या नगर की ओर आ रही थी, उसने उनको दहीं वहराया। उससे पारणा करके महासत्त्वधारी उन दोनों महामुनि ने शीघ्र ही संसार से मुक्त हाने के लिए अभी ही वैभारगिरि पर जाकर अनशन अंगीकार कर लिया है। यह सुनकर भद्रा श्रेणिक राजा के साथ तत्काल ही वैभारगिरि पर आई। वहाँ वे दोनों मुनि मानो पाषाण द्वारा घड़े हो वैसे स्थिर उसको दृष्टिगत हुए। उनके कष्ट को देखती हुई और पूर्व के सुखों का स्मरण करती हुई भद्रा/प्रतिध्वनि से मानोवैभारगिरि को भी रुलाती हो वैसे रोने लगी। वह बोली कि 'हे वत्स! तुम घर आए तो भी मैं अभागिनी तुमको पहचान न सकी। इससे मुझ पर अप्रसन्न मत होओ। यद्यपि तुमने तो हमारा त्याग किया ही है, परंतु किसी समय तुम मेरी दृष्टि को तो आनंदित करोगे, ऐसा प्रथम मेरा मनोरथ था। परंतु हे पुत्र! इस शरीर त्याग के हेतु रूप आरंभ से भी तुम अब मेरा यह मनोरथ भी भंग करने को उद्यत हुए हो। हे मुनियों! तुमने जो यह उग्र तप आरंभ किया है, उसमें मैं विघ्न रूप नहीं होती, परंतु मेरा मन इस शिलातल के समान अतिशय कठोर हो गया है।'' पश्चात् श्रेणिक राजा बोले कि–''हे भद्रे! अभी हर्ष के स्थान रुदन क्यों कर रही हो? तम्हारा पुत्र ऐसा महासत्त्ववान् होने से तुम एक ही सर्व स्त्रियों में वास्तव में पुत्रवती हो। इन तत्त्वज्ञ महासत्त्वधारी पुरुष ने तृण के समान लक्ष्मी को छोड़कर साक्षात् मोक्षपद तुल्य प्रभु के चरणों को अंगीकार किया है। हे मुग्धे! इन महाशय जगत्स्वामी के शिष्य ने जैसा चाहा वैसा तप किया है, तुम स्त्रीस्वभाव से वृथा ही परिताप किसलिए करती हो? राजा ने इस प्रकार प्रतिबोध दिया, जिससे भद्रा उन मुनियों को वंदन करके खेदयुक्त चित्त से अपने घर लौट आई और श्रेणिक राजा भी अपने स्थान पर चले गये।

(गा. 166 से 180)

दशम पर्व में दशार्णभद्र शालिभद्र, धन्य चरित्र वर्णक नामक दशम सर्ग

एकादश सर्ग

रोहिणेय का चरित्र, अभयकुमार का अपहरण उदायन का वृत्तांत, प्रद्योत का बंधन एवं उदायन की दीक्षा

श्री वीर भगवान् लागों पर अनुग्रह करने की इच्छा से नगर गाँव खान और द्रोणमुख (किसान लोगों के गांव) आदि में विचरण करते थे। उस समय राजगृही नगरी के पास वैभारगगिरि की गुफा में मानो मूर्तिमान् रौद्ररस हो ऐसा लोहखुर नामक एक चोर रहता था। जब राजगृही नगरी में लोग उत्सवादिक में मग्न होते, तब वह चोर छिद्र, देखकर पिशाच की तरह उपद्रव करता था। वह द्रव्य ले आता और परस्त्रियों को भोगता था। उस नगर के सब भंडार व महल वह अपना ही मानता था। उसे चोरी करने की वृत्ति में ही प्रीति थी, अन्य में न थी। " राक्षसगण मांस के बिना अन्य भक्ष्य से तृप्त नहीं होते।" उसके रोहिणी नाम की स्त्री से आकृति और चेष्टा में उसके जैसा ही रोहिणेय नाम का पुत्र हुआ। जब लोहखुर चोर की मृत्यु का समय नजदीक आया, तब उसने रौहिणेय को बुलाकर कहा कि, 'हे पुत्र! यदि तू मेरे कहे अनुसार ही करे तो मैं तुझे कुछ आवश्यक उपदेश दूँ।' वह बोला कि 'आपके वचनों का पालन तो मुझे अवश्यमेव करना ही चाहिए। पृथ्वी में पिता की आज्ञा को कौन नहीं उठाता है?' पुत्र के इन वचनों से लोहखुर अत्यन्त हर्षित हुआ और पुत्र के पीठ पर हाथ फिराता हुआ इस प्रकार के निष्ठुर वचन बोला कि–"जो यह देवताओं के द्वारा रचित समवसरण में बैठकर महावीर नामका योगी देशना देता है, उसके भाषण को तू कभी भी नहीं सुनेगा, बाकी अन्य ठिकाने पर तू स्वेच्छा से वर्तन करना।" ऐसा उपदेश देकर लोहखुर ने पंचत्व को प्राप्त किया।

(गा. 1 से 9)

पिता की मृतक्रिया करने के पश्चात् रोहिणिया भी मानो दूसरा लोहखुर हो उस प्रकार निरंतर चोरी करने लगा। अपने जीवितव्य के समान पिता की

आज्ञा का पालन करता हुआ वह अपनी स्त्री के समान संपूर्ण राजगृही नगरी को लूंटने लगा। इसी समय नगर, गांव और खानों आदि में विचरण करते हुए चौदह हजार मुनियों से परिवृत्त चरम तीर्थंकर श्री वीर प्रभु जी राजगृही नगरी में पधारे। देवताओं द्वारा संरचित सुंदर स्वर्ण कमल पर चरण रखते हुए प्रभु जी समीप में ही पधारे। तब वैमानिक, ज्योतिष, भुवनपति और व्यंतर देवों ने मिलकर प्रभु के समवसरण की रचना थी। उसमें आसीन होकर श्री वीरप्रभु योजन प्रमाण प्रसरती सर्वभाषानुसारी वाणी द्वारा धर्म देशना देने लगे। उस समय वह रोहिणेय चोर राजगृही नगरी की ओर जा रहा था। उसी मार्ग में यह समवसरण था। यह देखकर वह सोचने लगा 'यदि इस मार्ग से मैं जाऊँगा, तो महावीर के वचन मुझे सुनाई दे देंगे, तो पिता की आज्ञा का भंग होगा एवं इसके सिवा अन्य कोई राजगृही में जाने का अन्य मार्ग भी नहीं है। अब क्या करना ? ऐसा विचार करके दोनों कानों के आड़े हाथ रखकर उसी मार्ग से वह राजगृही नगरी में गया। इस प्रकार गमनागमन करते हुए एक बार समवसरण के पास ही उसके पैर में कांटा लग गया। जल्दी जल्दी चलने से वह काँटा खूब ऊँडा उसके पैर में घुस गया। उसे निकाले बिना वह एक कदम भी चलने में शक्तिमान् नहीं हुआ। जब उसे कोई अन्य उपाय न सूझा तब कान पर से एक हाथ हटाकर वह काँटा निकालने लगा। उस समय प्रभु के मुख से निकली वाणी सुनने में आई "जिनके चरण पृथ्वी का स्पर्श भी नहीं करते, नेत्र भी निमेष रहित होते हैं, पुष्पमाला मुरझाती नहीं और शरीर प्रस्वेद तथा रज रहित होता है, वह देवता होते है।" ओह! मैंन तो बहुत कुछ सुन लिया, मुझे धिक्कार है, ऐसा सोचता हुआ जल्दी जल्दी पैर में से काँटा निकाल कर पुनः कान पर हाथ रखकर वह रोहिणेय वहाँ से शीघ्र ही अपने काम पर चला गया।

(गा. 10 से 25)

वह चोर प्रतिदिन शहर में चोरी करता था। उससे उकताकर (घबराकर) नगर के श्रेष्ठी गण श्रेणिक राजा के पास आकर कहने लगे कि, 'हे देव! आपके राज्य पालन करने पर भी हमें अन्य किसी का भय न होकर चेटक की भांति कोई चोर अदृश्य रहकर हमको लूंटता है उसका भय है।' बंधु के सदृश उनकी यह पीड़ा सुनकर श्रेणिक राजा ने कुपित होकर कोतवाल को बुलाकर कहा कि, 'अरे कोतवाल! क्या तुम चोर होकर या चोर के भागीदार होकर मेरा वेतन खाते हो ? कि जिससे तुम्हारी उपेक्षा होने से इन प्रजाजनों की चोर लूंटते

हैं। कोतवाल बोला कि, 'महाराज! कोई रोहिणेय नामका चोर नगरजनों को इस प्रकार लूंटता है कि हमारे देखने पर भी पकड़ा नहीं जा सका है। बिजली की उछलती किरणों की भांति वह उछलकर बंदर के समान कूदकर एक हेलामात्र में तो वह घर से दूसरे घर में पहुँच जाता है और नगर का किल्ला भी उलांघ जाता है। हम उसके जाने के मार्ग में पीछे पीछे भी जाते हैं, पर वह वहाँ दिखाई ही नहीं देता। एक पगला भी छूट जाता है, तो वह हमसे सौ पगले दूर चला जाता है। मैं तो उसे पकड़ने में या उसके हनन करने में शक्तिमान् नहीं हूँ। इसलिए आप आपके द्वारा प्रदत्त कोतवालपन का अधिकार खुशी से वापिस ले लीजिए।'' तब राजा ने भृकुटि की संज्ञा से सूचित किया, तब अभयकुमार ने कोतवाल से कहा कि ''तुम चतुरंग सेना को सज्ज करके नगर के बाहर रखो, पश्चात् जब चोर अंदर घुसे तब लश्कर उसे चारों ओर से घेर लेवे और अंदर से उस चोर को त्रास देने का। तब पाश में हिरण आ जाता है, वैसे ही वह चोर भी बिजली के चमकारे की तरह उछलकर स्वयमेव सैन्य को पकड़ में आ जावेगा। पश्चात् मानो उसके जमानत देने वाले हों, वैसे उस महाचोर को प्रमाद रहित सावधान रहे सुभटों को उसे पकड़ लेना।

(गा. 26 से 33)

इस प्रकार अभयकुमार की आज्ञानुसार कोतवाल वहाँ से निकला और गुप्तरीति से सेना को सज्ज किया। राजा ने आज्ञा दी, उस दिन रोहिणेय अन्य गांव में गया हुआ था, इसलिए उसे इस बात का पता नहीं चला। जब वह दूसरे दिन पानी में हाथी घुसे उसी भांति नगर में घुसा और वह वहाँ नगर के घेरा किया हुआ सैन्य के जाल में मछली की तरह पकड़ा गया। उसे बांधकर कोतवाल ने राजा के समक्ष पेश किया। ''राजनीति के अनुसार सत्पुरुषों की रक्षा एवं दुर्जनों का निग्रह राजा को करना चाहिये, इससे इसका निग्रह करो।'' ऐसा कहकर राजा ने उसे अभयकुमार को सौंप दिया। अभयकुमार ने कहा कि– छल द्वारा पकड़े हुए चोरी के माल समान के साथ अथवा उसकी कबूलात के सिवा इस चोर का निग्रह करना योग्य नहीं है। इसलिए उसका निग्रह विचार पूर्वक करना चाहिए। तब राजा ने रौहिणेय से पूछा कि, तूं कहाँ का रहनेवाला है? तेरी आजीविका कैसे चलती है? तू इस नगर में किसलिए आया है? तेरा नाम रोहिणेय कहते है, वह सही है? अपना नाम सुनकर शंकित हो कर उसने राजा से कहा कि ''मैं शालिग्राम में रहने वाला दुर्गचंड नामका कुटुम्बी हूँ।

किसी प्रयोजन से कौतुक होने से आज यहाँ आया था, और किसी देवालय में रात्रि में रहा था। रात्रि व्यतीत होने पर वहाँ से पुनः घर जाने को निकल ही रहा था कि राक्षस जैसे कोतवाल और उसके सिपाहियों ने मुझे झड़प लिया। तब उनसे भयभीत होकर में किला उल्लंघन करके भागने लगा। आप जानते ही हैं कि 'प्राणियों को बड़े से बड़ा भय प्राणों का है।' मध्यभाग के रक्षकों के हाथों से में जैसे तैसे छूट गया, परंतु पुनः बाध्य रक्षकों के हाथों में मछुआरे के हाथ में से छूटी हुई मछली जैसे जाल में फँस जाती है, वैसे मैं भी आ गया। तब वे मुझ निरपराधी को चोर की भांति बांधकर यहाँ ले आए। इसलिए हे नीतिमान् राजा! अब न्यायपूर्वक विचार कर जैसा भी करना हो करें।'' तब राजा ने उसकी प्रवृत्ति के समाचार जानने के लिए उसके बताए हुए गांव में गुप्तचरों को भेजा। परंतु उस चोर ने तो पहले से ही उस गांव के लोगों को संकेत कर ही रखा था। क्योंकि कितनेक चोर लोगों के मन में भी विचित्र चिंतन हुआ करता है। राजपुरुष ने उस गांव में जाकर पूछा। तब लोगों ने कहा कि, हाँ! यहाँ एक दुर्गचंडनाम का कुटुम्बी रहता है। परंतु वह अभी यहाँ से अन्य गांव में गया हुआ है। राजा ने उनके द्वारा कही हकीकत राजा से कह सुनाई। तब अभयकुमार को विचाराधीन होकर गए, 'अहो! अच्छी तरह रचित दंभ को अंत को ब्रह्माजी भी नहीं जान सकते।'

(गा. 34 से 52)

तब अभयकुमार ने देवता के विमान जैसा महा मूल्यवान् रत्नजड़ित सात मंजिल के महल में उसे रखा। वह महल मानो स्वर्ग से गिरा अमरावती का एक खंड हो, ऐसा ज्ञात होता था। उसमें गंधर्व संगीत का महोत्सव करते थे। इससे वह अकस्मात् उत्पन्न हुआ गंधर्व नगर की शोभा को सूचित करते थे। अभयकुमार ने उस चोर को मद्यपान कराकर मूर्च्छित कर दिया और उसे देवदूष्य वस्त्र पहनाकर उस महल में शय्या पर सुला दिया। जब उसका नशा उतर गया, तब वह चारों ओर देखने लगा तो अकस्मात् विस्मयकारी अपूर्व दिव्य संपत्ति उसे दृष्टिगोचर हुआ। उसी समय अभयकुमार की आज्ञा से नर–नारी का समूह जय हो जगत् में आनंद करो' ऐसी मंगलध्वनि पूर्वक उसको कहा कि, ''हे भद्र! आप इस विशाल विमान में देवता हुए हो आप हमारे स्वामी हो! और हम आपके किंकर हैं, इसलिए इन अप्सराओं के साथ इंद्र की भांति क्रीड़ा करो।'' इस प्रकार अनेक प्रकार के खुशामत भरे वचनों से चतुराई युक्त वचनों से

उनको कहने लगे। यह सुनकर 'क्या मैं देव हुआ हूँ?' ऐसा रोहिणिया विचार करने लगा। गंधर्वों ने मधुर संगीत प्रारंभ किया। इतने में सुवर्ण की छड़ी लेकर कोई पुरुष आया, उसने गंधर्वों से कहा कि, 'अरे! एकदम तुमने यह क्या चालू कर दिया? उन गंधर्वों ने उत्तर दिया कि, 'अरे प्रतिहार! हमने हमारे स्वामी के समक्ष हमारा विज्ञान कौशल्य दर्शाना चालू कर दिया।' प्रतिहार ने कहा, बहुत अच्छा, तुम तुम्हारा कौशल्य बताओ। परंतु पहले देवलोक के जो आचार हैं, वे भी उनसे करवा लो। तब गंधर्व बोले, क्या आचार करवाना है? प्रतिहार आक्षेप पूर्वक बोला कि, 'अरे! यह भी क्या तुम नये स्वामी के लाभ में भूल गये क्या? सुनो सबसे प्रथम तो यहाँ जो नूतन देव उत्पन्न होता है। वह अपने पूर्व भव के सुकृत्य और दुष्कृत्य की जानकारी दे, पश्चात् वह स्वर्ग के सुख भोग का अनुभव करे।' गंधर्वों ने कहा कि– 'हे देव! हम तो नए स्वामी के लाभ से यह सब कुछ भूल गये हैं। इसलिए अब आप पहले सर्व देवलोक की आचार संहिता कराओ। इस प्रकार उन्होंने कहा। तब उस पुरुष ने उस रोहिणेय चोर से कहा, 'हे भद्र! आप आपके पूर्व भव के सुकृत्य दुष्कृत्य यथार्थ रूप से हमें कहो, पश्चात् स्वर्ग के सुखों का भोग करो। यह सुनकर रोहिणिया विचारमग्न हो गया कि, क्या यह सब सत्य होगा? अथवा मुझे मेरे कबूलात के द्वारा पकड़ने का अभयकुमार द्वारा रचा गया कोई प्रपंच है? परंतु उसकी जानकारी कैसे करना? ऐसा चिंतन करते करते यकायक उसके पैर में से कांटा निकालते समय श्री वीरप्रभु के वचन याद आ गये। तब वह सोचने लगा कि श्री वीरप्रभु के मुखारविंद से जो वचन सुने है, उसके अनुसार तो जो देवता के चिह्न मिल जायेंगे तो मैं उसका सत्य उत्तर दूंगा अन्यथा जैसा ठीक लगेगा वैसा उत्तर दूंगा। ऐसा विचार करके उसने प्रतिहारी, गंधर्व, अप्सराओं आदि का अवलोकन किया, तो वे सब पृथ्वी पर स्पर्श करते हुए, प्रस्वेद से मलिन, मुरझाई हुई पुष्पमाला और निमेष युक्त (पलक झपकते) उनको देखा।

(गा. 53 से 72)

प्रभु के वचनों के आधार पर यह सब कपट माया जानकर रेहिणिया ने जवाब देने का विचार कर लिया। पुनः वह पुरुष बोला कि, 'कहो तुम्हारा उत्तर सुनने को ये सर्व देव देवियाँ उत्सुक हुई हैं।' तब रोहिणेय बोला कि, 'मैंने पूर्वजन्म में सुपात्र दान दिया है, जिनचैत्य कराये हैं, जिनबिंब रचवाये हैं, अष्टप्रकारी पूजा के द्वारा उनकी पूजा की है। तीर्थयात्राएं की है एवं सद्गुरुओं

की सेवा की है। इस प्रकार पूर्व जन्म में मैंने सुकृत्य किये हैं। पश्चात् वह दंडधारी बोला कि, 'अब जो दुष्कृत्य किया हो, वह भी बताओ। रेहिणेय बोला कि, 'साधु के संसर्ग से मैंने कोई भी दुष्टकृत्य तो किया ही नहीं है।' प्रतिहार पुनः बोला कि, 'एक समान स्वभाव से संपूर्ण जीवन व्यतीत होता नहीं, 'इसलिए जो कोई चोरी जारी आदि जो कुछ दुष्कृत्य किया हो तो वह भी कहो।' तब रोहिणेय बोला कि, 'जो इस प्रकार के दुष्कृत्य करता हो तो क्या वह स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है? क्या अंध मनुष्य पर्वत पर चढ़ सकता है?

(गा. 73 से 79)

पश्चात् छड़ीदार ने सर्व वृत्तांत अभयकुमार को निवेदन किया एवं अभयकुमार ने श्रेणिक महाराज ने कहा, "इतने उपायों से भी जिसे चोर के रूप से पकड़ा नहीं जा सका, तो उस चोर को छोड देना चाहिए। क्योंकि नीति का उल्लंघन करना योग्य नहीं है। राजा के कथनानुसार अभय कुमार ने चोर को छोड़ दिया। 'किसी समय वंचना करने में चतुर पुरुषों से होशियार पुरुष भी ठगे है जाते हैं।

(गा. 80 से 82)

वहाँ से छूट जाने के पश्चात् रोहिणेय ने विचार किया कि, मेरे पिता की आज्ञा को भी धिक्कार है कि जिससे भगवन्त के वचनामृत से आज दिन तक मैं निर्भागी रहा। यह भी प्रभु का वचन यदि मेरे कान में नहीं आया होता तो मैं अब तक तो विविध प्रकार की यातनाओं को भोगकर यमराज के द्वार पर पहुँचा गया होता। उस समय तो अनिच्छा से मैंने भगवान् के वचन ग्रहण किये थे, फिर भी वह रोगी के लिए औषधि के समान मेरे लिए भी जीवन रूप हो गया। अर्हन्त के वचन का त्याग करके आज तक मैंने चोर की वाणी में प्रीति की। यह तो कौवे के समान आम्रफल को छोड़कर नीम के फल की प्रीति करने के समान मैंने किया। मुझे धिक्कार हो। जिनके उपदेश के एक लेश ने भी इतना फल दिया तो, यदि मैंने सर्व उपदेश सुना होता तो क्या फल नहीं मिलता?" मन में इस प्रकार का विचार करके वह शीघ्र ही भगवान् के पास गया और प्रभु के चरणों में प्रणाम करके उसने इस प्रकार विज्ञप्ति की–

(गा. 83 से 90)

"हे नाथ! घोर विपत्ति रूपी अनेक मगरमच्छों से आकुल व्याकुल इस संसार सागर में जन मानस में प्रसरती आपकी देशना की वाणी नौका के

समान आचरण करती है। हे जगत्त्रय गरो! आप्त होने पर भी अनाप्त पने को मानते ऐसे मेरे पिता ने आपके वचनों को श्रवण करने का निषेध करके मुझे इतने हद तक ठगा है। हे त्रिलोकपति! जो कर्णांजली रूपी संपुट से आपके वचनामृत का श्रद्धापूर्वक पान करते हैं, वे धन्य हैं। मैं तो ऐसा पापी हूँ जो आपके वचनों को न सुनने की इच्छा से कान पर हाथ रखकर इस स्थान का उल्लंघन कर रहा था। ऐसे में मैंने एक बार इच्छा रहित आपके वचनों का श्रवण किया था, परंतु मंत्राक्षर जैसे उन वचनों द्वारा राजा रूप राक्षस से मेरी रक्षा हो गई। हे जगत्पति! जिस प्रकार मुझे मरण से बचाया है, उसी इस संसार सागर में डूबने से मुझे भी बचाओं।'' तब प्रभु ने उस पर कृपा करके निर्वाण पद प्रदात्री शुद्ध धर्म देशना दी। जिसे सुनकर प्रतिबोध को प्राप्त कर रोहिणेय बोला कि, 'हे स्वामिन्! मैं यतिधर्म के योग्य हूँ या नहीं ? प्रभु ने उसे योग्य बताया तब वह बोला कि, ''हे विभु! ऐसा ही है तो मैं व्रत ग्रहण करूंगा। परंतु उससे पूर्व मुझे राजा श्रेणिक को कुछ कहना है।' श्रेणिक राजा सभा में ही बैठे थे, उन्होंने कहा कि 'तुझे जो कुछ भी कहना हो, वह विकल्प या शंका रहित होकर कह। तब वह रोहिणेय बोला कि, 'हे राजन्! आपने जिसे लोकवार्ता से सुना था, वही मैं आपके नगर को लूटने वाला रोहिणेय चोर हूँ। परंतु प्रभु के एक ही वचन श्रवण करने से, उसके आधार से मैं नौका द्वारा नदी की भांति अभयकुमार की दुर्लंध्य बुद्धि का भी उल्लंघन कर गया हूँ। हो राजरवि! आपके संपूर्ण नगर को मैंने ही लूटा है, इसलिए आप अन्य कोई चोर की शोध मत करना। अभी मेरे साथ किसी को भेंजें कि जिससे चोरी का सब माल बता दूं एवं पश्चात् दीक्षा लेकर मेरा जन्म सफल करूं।

(गा. 91 से 102)

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा की आज्ञा से अभयकुमार एवं अन्य अनेक लोग कौतुक से उस चोर के साथ चल दिये। रोहिणेय ने पर्वत, नदी, कुंज एवं श्मशान आदि में छिपाया हुआ धन अभयकुमार को बताया। अभयकुमार ने जो जिसका था, वह उसे सौंप दिया। 'नीतिज्ञ एवं निर्लोभ मंत्रियों की अन्य मर्यादा होती नहीं है।'' तब अपने व्यक्तियों को जो बात थी, वह सब समझाकर श्रद्धालु रोहिणेय प्रभु के समक्ष आया। श्रेणिक राजा ने जिसका निष्क्रमण महोत्सव किया है, ऐसे उस रोहिणेय ने प्रभु को पास दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से उसने कर्म का उन्मूलन करने के लिए चतुर्थ (उपवास) से लेकर छमासी

उपवास तक उज्ज्वल तप आदर! अंत में तपस्या से कृश होकर, भाव संलेखना करके, परमात्मा वीरप्रभु की अनुमति लेकर उसने वैभार पर्वत पर पादपोपगम अनशन किया। शुभ ध्यान पूर्वक पंच परमेष्ठी नमस्कार का स्मरण करते हुए रोहिणेय महाम ुनि मनुष्य देह का त्याग करके स्वर्ग सिधाये।

(गा. 103 से 110)

भगवंत श्री वीर प्रभु जघन्य से कोटि देवताओं से परिवृत तीर्थकृत नामकर्म की निर्जरा करने के लिए विचरण करने लगे। धर्मदेशना द्वारा कितनेक राजा मंत्री आदि को श्रावक बनाये और कितनेक को यति बनाये। इधर श्रेणिक राजा राजगृही नगरी में समकित धारण करके नीति से राज्य का पालन करते थे। इतने में एक वक्त चंडप्रद्योत राजा उज्जयिनी नगरी से सर्व सामग्री सहित राजगृही नगरी को रोंदने के लिए चल पड़ा। चंडप्रद्योत राजा और उसके साथ अन्य मुकुटबंध चौदह राजा मानों पंद्रह परमाधार्मिक हो इस प्रकार लोगों ने उनको नजरों से देखा। सुंदर गति से चलते अश्वों से मानों पृथ्वी की फोडता हो, इस प्रकार आते हुए चंडप्रद्योत राजा के समाचार बातमीदारों (गुप्तचरों) ने श्रेणिक राजा को दिये। तब श्रेणिक राजा चिंतित हो गये कि क्रूर ग्रह के सदृश क्रोधित प्रद्योत राजा को यहाँ आते हुए कैसे अटकाना? औत्पातिकी आदि बुद्धि के निधान रूप अभयकुमार के मुख के सन्मुख श्रेणिकराजा ने अमृत जैसी दृष्टि से देखा। तब यथार्थ नाम वाले अभयकुमर ने कहा कि उज्जयिनी नगरी का प्रद्योत मेरे युद्ध का अतिथि हो, इसमें चिंता क्या करनी? और फिर यदि उसे परास्त करने का काम बुद्धिसाध्य लगेगा तो मैं शास्त्राशस्त्र की कथा के साथ उसमें मेरी बुद्धि का भी प्रयोग करूँगा क्योंकि ''बुद्धिशत्रु का विजय करने में कामधेनु जैसी है।''

(गा. 111 से 120)

तब अभयकुमार शत्रु के सैन्य के निवास योग्य भूमि में लोहे के संपुट में सौनेया भर भर के गाड़ने लगा। इतने में तो समुद्र के जल से भूगोल भांति प्रद्योत राजा के सैनिकों ने राजगृह पुरी को घेर लिया। अभयकुमार ने देव जैसी मधुर वाणी बोलने वाले गुप्त पुरुष द्वारा प्रद्योत राजा को एक गुप्त लेख भेजा। उसमें लिखा कि ''शिवा देवी और चिल्लणा देवी में मैं किंचित् मात्र भी अंतर देखता नहीं हूँ, इसलिए आप भी शिवादेवी के संबंध से मेरे माननीय हो। हे

उज्ञयिनी के राजा! इसी कारण से आपका एकान्त हितेच्छु होने से मैं आपको ज्ञात कराता हूँ कि आपके साथी सर्व राजाओं को श्रेणिक राजा ने फोड़ दिया है। उनको स्वाधीन करने के लिए प्रचुर सोनामोहरें भेजी हैं। जिससे वे लोग अवसर देखकर तुमको बांधकर मेरे पिता को सौंप देंगे। उसकी जानकारी के लिए उनके वासगृह में उन्होंने सोना मोहरें गाड़ रखी होगी वह खुदवा कर देख लेना। क्योंकि दीपक होने पर अग्नि को कौन देखें ?'' तथा प्रकार के पत्र का वांचन करके उसने एक राजा के आवास के नीचे खुदवाया तो वहाँ से सौनेया निकली। तब प्रद्योत राजा ने वहाँ से पड़ाव उठाया और उज्ञयिनी की ओर चल दिया। उसके भाग जाने से सर्व सैन्य सागर के समान क्षुभित हो गया। मगधाधिपति ने उसमें से घोड़े आदि जितना लिया जा सके उतना ले लिया। जीव नासिका पर चढ़ा कर प्रद्योत राजा तो वायुवेग से अश्व से वह जल्दी जल्दी अपनी नगरी में घुस गया। उसके साथ जो मुकुटबंध राजा और अन्य महारथी वे भी कौवें की भांति भाग गये। क्योंकि नायक बिना सैन्य हनन किया हुआ ही होता है। केश बांधने का भी अवकाश न मिलने से केश और साथ ही छत्र बिना के मस्तक से भागते हुए वह प्रद्योत राजा के पीछे उज्ञयिनी में आ पहुँचें। पश्चात् परस्पर बातचीत होने पर 'यह सब अभयकुमार की माया है, हम सब टूटे नहीं है' ऐसा कहकर उन्होंने सौगन्ध खाकर प्रद्योत राजा को विश्वास दिलाया।

(गा. 121 से 131)

एकदा उज्ञयिनी के राजा प्रद्योत ने क्रोध पूर्वक सभा के बीच कहा कि जो कोई अभयकुमार को बांधकर लाकर मुझे सौंप देगा, उसे मैं प्रसन्न करूंगा। उस समय कोई गणिका हाथ ऊंचा करके बोली कि यह काम करने में मैं समर्थ हूँ।'' यह सुनकर प्रद्योत राजा ने उसे आज्ञा दी कि तू यह कार्य कर तुझे जितना चाहिये उतना द्रव्य आदि की सहायता मैं करूंगा।' उसने विचार किया कि, 'अभयकुमार अन्य किसी उपायों से पकड़ा नहीं जा सकेगा इसलिए धर्म का छल करके मैं मेरा कार्य सिद्ध करूं।' ऐसा विचार करके उसने दो युवा स्त्रियों की मांग की। राजा ने उसे उन दो स्त्रियों के साथ साथ प्रचुर धन भी दिया। उन तीनो स्त्रियों ने किसी साध्वी की आदरपूर्वक उपासना की। ये अत्यन्त बुद्धिशाली होने से अल्प समय में तो बहुश्रुत हो गई मानों तीन जगत् को छलने के लिए माया की तीन मूर्ति हों, ऐसी वे तीनों ही श्रेणिक के नगर में आ गई।

(गा. 132 से 140)

उन वारांगनाओं ने नगर के बाहर उद्यान में निवास किया और फिर चैत्यों के दर्शन की इच्छा से वे शहर में आई। अतिशय विभूति द्वारा नैषेधि की आदि क्रिया करके और प्रभु की पूजा करके उन्होंने मालकोश आदि राग रागिनियों से प्रभु की स्तुति की। उस समय देव वंदन करने के लिए अभयकुमार भी वहाँ आए हुए थे। अपने आगे ही प्रभु की स्तवना करते हुए उन तीनों स्त्रियों को देखा। इसलिए मेरे प्रवेश से इन श्राविकाओं को देवभक्ति के विघ्न न हो ऐसा सोचकर वह द्वार के पास ही खड़ा रहा रंगमंडप में नहीं आया। मुक्ताशुक्ति मुद्रा द्वारा प्रणिधान स्तुति करके वह खड़ी हो गई, तब वह अंदर आए और उसकी सुंदर भावना, सुंदर वेष एवं उपशम भाव देखकर उसकी प्रशंसा करके आनंदपूर्वक बोले कि, भद्रे! सद्भाग्य से मुझे आप जैसे साधर्मिकों को समागम हुआ है। इस संसार में विवेकियों को साधर्मी तुल्य कोई बंधु नहीं है। आप कौन हैं? यहाँ कैसे आगमन हुआ? कहाँ निवास किया है? ये दोनों स्त्रियाँ कौन हैं? जिनसे स्वाति और अनुराधा नक्षत्र द्वारा चंद्रलेखा के समान आप सुशोभित हो रही हो" वह कपट श्राविका बोली– "उज्ज्ञयिनी नगरी के एक धनाढ्य व्यापारी की विवाहित विधवा स्त्री हूँ। ये दोनों मेरी पुत्र वधुएं हैं। ये भी कालधर्म से भग्न वृक्षवाली लता ही भांति विधवा हो जाने से निस्तेज हो गई हैं। इन्होंने विधवा होते ही व्रत लेने के लिए मुझे से अनुमति मांगी थी, कारण कि "विधवा स्त्रियों का शरण व्रत ही है।" तब मैंने कहा कि मैं अभी वृद्ध नहीं हुई मैं भी व्रत ग्रहण करूंगी, परंतु अभी तो तीर्थयात्रा द्वारा गृहस्थ जीवन का फल ग्रहण करेंगे। कारण कि व्रत लेने के पश्चात् तो भाव पूजा होती है, द्रव्यपूजा होती नहीं है। ऐसा सोचकर मैं और मेरी दोनों पुत्रवधुएं तीर्थयात्रा के लिए निकली हैं।" अभयकुमार ने कहा कि, 'आप आज मेरे अतिथि बनो, साधर्मिकों का आतिथ्य तीर्थ से भी अति पवित्र है।' यह सुनकर वह अभयकुमार के प्रति बोली कि 'आप युक्त कहते हो, परंतु आज तो हमने तीर्थोपवास किया है, इसलिए हम आपके अतिथि कैसे बने? ऐसी उनकी वृत्ति देखकर विशेष खुश होकर अभय ने कहा कि, तब कल प्रातःकाल में अवश्य मेरे घर आना।' वह बोली कि "एक क्षण में भी प्राणी अपना जन्म पूर्ण करता है, तो मैं कल प्रातःकाल में ऐसा करूंगी ऐसा सद्बुद्धि वाला मनुष्य कैसे बोले?' ठीक है। तब आज तो भले ऐसे हो, कल प्रातः काल में ऐसा करूँगी' ऐसा सद्बुद्धि वाला मनुष्य कैसे बोले?' ठीक है। तब आज तो

भले ऐसे हो, कल प्रातः काल में पुनः मैं तुमको आमंत्रित करूंगा।' ऐसा सोचकर अभयकुमार उनको विदा करके चैत्यवंदन करके अपने घर गये।

(गा. 141 से 159)

दूसरे दिन प्रातः काल में अभयकुमार ने उन को निमंत्रण दिया और गृहचैत्य के दर्शन वंदन करवा कर उनको प्रचुर वस्त्र आदि दिये। किसी समय उस कपट श्राविका ने अभय कुमार को निमन्त्रण दिया। इसलिए वह नम्र होकर उसके (निवास) उतारे पर गया। ''वैसे सज्जन साधर्मिक बंधु के आग्रह से क्या न करे?'' उसने विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों से अभयकुमार को भोजन कराया एवं चंद्रहास सुरा से मिश्रित जल का पान कराया। उसके प्रभाव से भोजन के पश्चात् वह तुरन्त सो गया। 'मद्यपान की प्रथम सहचरी निद्रा ही है। पश्चात् स्थान स्थान पर संकेत करके रखे रथों द्वारा उस दुर्लभ कपट वाली वेश्या ने अभयकुमार को उज्ञयिनी नगरी में पहुँचा दिया। इधर उसके बाद श्रेणिकराजा ने तुरन्त ही अभय की शोध के लिए स्थान स्थान पर अपने आदमी भेजे। उन्होंने ढूँढते ढूँढते उस कपटी श्राविका के पास जाकर पूछा कि 'यहाँ अभयकुमार आए थे?' वह बोली कि 'हाँ' यहाँ आए थे सही, परंतु वे तत्काल ही यहाँ से वापिस लौट गये। उसके वचनों पर विश्वास करके वे लोग अन्यत्र शोध करने लगे। तब वह कपटी श्राविका स्थान स्थान पर अश्वों द्वारा अवंती आ पहुँची। उस प्रचंड रमणी ने अभयकुमार को चंडप्रद्योत को सौंप दिया और अभयकुमार को किस उपाय के द्वारा वह यहाँ ले आई, उस उपाय का स्वरूप भी कह बताया। तब प्रद्योत ने कहा कि 'तू इस धर्म के विश्वासी अभयकुमार को धर्म के कपट से पकड़ कर ले आई, यह ठीक नहीं किया।' पश्चात् राजा ने अभयकुमार को कहा कि 'सत्तर बातों के कहने वाले तुम्हारे समान नीतिज्ञ पुरुष को भी शुक पक्षी को मार्जरी पकड़ लावे, वैसे ही यह स्त्री पकड़ कर ले आई। अभयकुमार ने कहा कि, 'तुम ही एक इस जगत में बुद्धिमान हो कि जिनकी ऐसी बुद्धि से राजधर्म वृद्धि पाता है। यह सुनकर चंडप्रद्योत शर्मा गया, साथ ही कोपायमान हुआ, जिससे उसने अभयकुमार को राजहंस के समान काष्ट के पिंजरे में डाल दिया।

(गा. 160 से 172)

प्रद्योत राजा के राज्य में अग्नि भीरु रथ, शिवादेवी रानी, अनलगिरि हाथी और लोह जंघ नाम का लेख ले जाने वाले दूत ये चार रत्न थे। राजा बार

बार लोहजंघ को भृगुकच्छ नगर भेजता था। उसके बार बार जाने आने से क्लेश को प्राप्त वहाँ के लोगों ने विचार किया कि, 'यह एक दिन में पच्चीस योजन आता है और अपने ऊपर नये नये हुकम लाता रहता है, इसलिए इसे मार देते हैं।' ऐसा विचार करके उन्होंने एक दिन उसके भाते में विषमिश्रित लड्डू रख दिये और अच्छे थे वे ले लिए। वह भाता लेकर लोहजंघ अवंती चल दिया। बहुत सा मार्ग उल्लंघन करके किसी नदी के तट पर वह भाता खाना बैठा वहाँ उसे अपशकुनों ने रोक दिया। फिर वह आगे चलकर पुनः खाने बैठा तो वहाँ भी अपशकुन होने से रुक गया, तो वह भाता खाये बिना ही अवंती आ गया, वहाँ उसने सर्व वृत्तांत आकर प्रद्योत राजा को कहा। राजा ने अभयकुमार को बुलाकर पूछा, तब उस बुद्धिमान ने भाता की थैली को मंगवाकर सूंघ कर कहा कि 'इसमें उस प्रकार के संयोग से दृष्टिविष सर्प उत्पन्न हो गया है। यदि इस थैली को लोहजंघ ने खोल दी होती तो वह दग्ध हो जाता। इसलिए अब इसे अरण्य में पराङ्मुख रहकर छोड़ दो। राजा ने उसी प्रकार छुड़ा दिया। उसकी दृष्टि से वहाँ से वृक्ष भी जल गये, और उसकी मृत्यु हो गई। यह सब देखकर चंडप्रद्योत ने अभयकुमार को कहा कि, ''अभय! तुमने लोहजंघ को बचाया है। इसलिए छूट जाने की मांग के अतिरिक्त अन्य कोई भी वरदान मांग ले। अभयकुमार बोला कि ''मैं यह वरदान अमानत के रूप में आपके पास रखता हूँ।

(गा. 173 से 183)

समुद्र में से लक्ष्मी के तुल्य चंडप्रद्योत राजा के अंगारवती रानी से वासवदत्ता नामक एक पुत्री थी। धायमाताओं से लालन पालन की हुई वह पुत्री अनुक्रम से साक्षात् राज्यलक्ष्मी के समान राजगृह के आंगण में क्रीड़ा करती थी। उस बाला ने गुरु के पास से सर्व कलाएँ ग्रहण की। मात्र किसी योग्य गुरु के अभाव में गंधर्ववेद सीखना अवशेष रहा। एक वक्त राजा ने अपने बहुदृष्ट और बहुश्रुत मंत्री को पूछा कि, 'इस दुहिता को गंधर्व की शिक्षा कौन से गुरु देंगे? मंत्री ने कहा कि, 'मानो तुंबरु गंधर्व की दूसरी मूर्ति हो वैसा उदायन नाम का राजा है, उसके पास गांधर्व कला अतिशयवाली है, ऐसा सुना है। वह वन में जाकर गीत के द्वारा मोहित करके विशाल गजेन्द्रों को भी बांध लेते हैं। वे गजेन्द्र मानो स्वादिष्ट रस पीता हो, वैसे बंधन को भी गिनता नहीं है। गीत के

उपाय से जैसे वह वन में हाथियों को बांध लेता है, वैसे ही उनको बांधकर यहाँ लाने का एक उपाय है। इस कार्य के लिए आपको मानो एक सच्चा हाथी हो, वैसा काष्ट का हाथी बनवाना होगा। उसमें ऐसा यंत्र प्रयोग कराओ कि जिससे वह गति एवं आसन आदि क्रियाएँ करे। उस काष्टगज के मध्य में शस्त्रधारी पुरुष रहे और उसे यंत्र से चलावे। उस हाथी के देखकर वत्सराज जब उसे पकड़ने के लिए आए, तब अंदर स्थित वे पुरुष उसे बांधकर यहाँ ले आवे। इस प्रकार होने से कब्जे में आया उदयन राजा आपकी दुहिता वासवदत्ता को गांधर्व विद्या सिखाएगा।''

(गा. 184 से 196)

राजा उसे शाबासी देता हुआ, उनके विचारों से संमत हुआ। तब मंत्री ने सच्चे हाथी से भी गुण में अधिक ऐसा काष्ठ का हाथी बनवाया। दंतघात कर (सूंड) का उत्क्षेप गर्जना एवं गति आदि से वनचरों को वह कृत्रिम हाथी रूप में ज्ञात नहीं हुआ। तब उन्होंने जाकर उस गजेन्द्र के समाचार उदयन राजा को दिये। तब उदयन राजा उसे बांधने हेतु वन में आया। परिवार को दूर रखकर स्वयं मानो शकुन शोधता हो, इस प्रकार धीरे धीरे वन में घुसा। वह मायावी हाथी के पास आकर किन्नर को पराभव करे, वैसे उच्च स्वर में गाने लगा। जैसे जैसे हाथी के अंदर स्थित पुरुष उस कृत्रिम हाथी के अंगों को स्तब्ध करने लगे। कौशांबीपति उदयन उस गजेन्द्र को गीत द्वारा मोहित जानकर अंधकार में चलता हो, वैसे मन्ध गति से उसके पास आया एवं यह 'हाथी मेरे गीत से स्तब्ध बन गया है' ऐसा सोचकर जैसे वृक्ष पर पक्षी छलांग मार कर चढ़ता है, वैसे वह राजा उस पर चढ़ गया। इतने में तो प्रद्योत राजा के सुभटों ने हाथी के उदर में से बाहर निकल कर वत्सराज (उदयन) को हाथी के स्कंध पर से नीचे गिरा कर बांध लिया। एकाकी, निःशस्त्र विश्वासी उदयन को जैसे सुअर को श्वान घेर लेता है, वैसे सुभटों ने उसे घेर लिया। इसलिए वह अपना कुछ भी पराक्रम न बता सका।

(गा. 197 से 206)

सुभटों ने उदयन को अवंती लाकर चंडप्रद्योत को सौंप दिया। तब राजा ने उसे कहा कि मेरी एकाक्षी पुत्री है, उसे तुम गंधर्वकला सिखाओ। मेरी दुहिता को अभ्यास कराने के कारण मेरे घर पर सुख रूप से रह सकोगे, अन्यथा मेरे

बंधन में आने से तुम्हारा जीवितव्य मेरे आधीन है।' उदयन ने सोचा ''अभी तो इस कन्या को अभ्यास करवाकर काल निर्गमन करूं। क्योंकि जीवित नर भद्र देखता है।'' इस प्रकार चित्त में निश्चय करके वत्सराज ने चंडप्रद्योत के आदेश को स्वीकार किया। ''जो समयज्ञ हो, वह पुरुष है।'' चंडप्रद्योत ने कहा – मेरी पुत्री काणी है, इसलिए तुम कभी भी उसे देखना नहीं अन्यथा वह लज्जित होगी।' इस प्रकार उदयन को कहकर उसने अतःपुर में जाकर राजकुमारी को कहा कि, ''तुझे गांधर्व विद्या की शिक्षा देने गुरु आए हैं, परंतु वह कुष्टि है, इसलिए तुझे उसे प्रत्यक्ष देखना नहीं।'' कन्या ने उसे स्वीकार कर लिया। वत्सराज ने उसे गांधर्वविद्या सिखाना प्रारंभ किया। परंतु प्रद्योत राजा से ठगे जाने के कारण दोनों एक दूसरे के सन्मुख देखते भी नहीं। एक बार 'मैं इसको देखूं तो सही 'ऐसा वासवदत्ता के मन में आया। इससे वह शून्य मन होकर पढ़ने लगी। क्योंकि 'मन के अधीन ही चेष्टा होती है।' वत्सराज ने उस समय अभ्यास में शून्यता देखकर अवंतीपति की कुमारी का तिरस्कार करते हुए कहा कि 'अरे काणी! सीखने में ध्यान न देकर तूं क्यों गांधर्व विद्या का विनाश कर रही है ? क्या तू दुःशिक्षिता है ? ऐसे तिरस्कार से कुपित होकर उसने वत्सराज को कहा कि 'तुम स्वयं कुष्ठि हो वह तो देखते नहीं और मिथ्या ही मुझे काणी कहते हो ?' वत्सराज ने विचार किया कि 'जैसा मैं कुष्ठि हूँ, वैसी ही यह काणी होगी अर्थात् ये दोनों ही बातें झंठी हैं। तब तो अवश्य ही इसे देखूं। ऐसा विचार करके चतुर उदयन ने शीघ्र ही मध्य में रहे वस्त्र के पर्दे को दूर कर दिया। तब बादलों से मुक्त हुई चंद्रलेखा के सदृश वासवदत्ता उसे दृष्टिगत हुई। वासवदत्ता ने भी लोचन विस्तरित हुए साक्षात् कामदेव तुल्य सर्वांग सुंदर उदयन कुमार को देखा। वासवदत्ता और वत्सराज ने परस्वर अवलोकन करके अनुराग की समृध्दि को सूचित करने वाला स्मित प्रदान किया। प्रद्योतकुमारी बोली, 'हे सुंदर! धिक्कार है मुझे कि मेरे पिता के छल से मैंने अमावस्या के चंद्र रूप गणना करके मैंने आज तक आपको निहारा नहीं। हे कलाचार्य! आपने आपकी कला जो मुझ में संक्रमित की है, वह आपके ही उपयोग में आवे। अर्थात् आप ही मेरे स्वामी हो। वत्सराज ने कहा कि, भद्रे! तू काणी है ऐसा कहकर तेरे पिता ने मुझे भी तुझे देखने से इन्कार करके मुझे भी छला है। हे कांते! अभी तो यहाँ रहते हुए अपना योग हो ही रहा है, पश्चात् समय आने पर जैसे अमृत को गरुड़ ले गया, उसी भांति मैं भी तुझे हरण करके ले जाऊंगा। इस प्रकार स्वयंदूती रूप

करके चातुर्ययुक्त आलाप संलाप करते हुए मन के संयोग की स्पर्धा करता हो वैसे शरीर संयोग भी हो गया। वासवदत्ता की विश्वासपात्र कांचनमाला नामक की एक दासी थी, मात्र एक वहीं इन दोनों का चारित्र जानती थी। उस एक ही दासी से सेवित होने से उन दोनों के दाम्पत्य का किसी को ज्ञान नहीं हुआ। अतः वे दोनों सुखपूर्वककाल निर्गमन करने लगे।

(गा. 207 से 227)

एक बार अनलगिरि हाथी बंधस्थान को तोड़कर महावतों को गिरा कर स्वेच्छा से स्वच्छंद हो गया एवं इतः ततः भ्रमण करता हुआ नगरजनों को क्षुभित करने लगा। तब 'इस अवश हाथी को कैसे वशीभूत करना ? ऐसा राजा ने अभयकुमार को पूछा। तब अभयकुमार ने कहा कि 'उदयन राजा के गीत गान से यह वश में हो जाएगा। तब प्रद्योत राजा ने अभयकुमार को पूछा। तब अभयकुमार ने कहा कि 'उदयन राजा के गीत गान से यह वश में हो जाएगा। प्रद्योत राजाा ने उदयन, से कहा कि अनलगिरि हाथी के पास जाकर गायन करो। 'उदयन ने वासवदत्ता के साथ हाथी के पास जाकर गायन किया वह गायकी सुनकर हाथी स्तब्ध हो गया, तब उसे बांध लिया गया। राजा प्रद्योत ने अभयकुमार को दूसरी बार वरदान मांगने को कहा। अभयकुमार ने पूर्व की भांति उसे भी अमानत स्वरूप रहने दिया।

(गा. 228 से 231)

एक बार महोत्सव के निमित्त से चंडप्रद्योत राजा अंतः पुर–परिवार के साथ, महर्द्धिक नगर जनों के साथ उद्यान में गया हुआ था। उस समय योगंधरायण नाम का उदयन राजा का मंत्री उनको मुक्त करने का उपाय का चिंतन करता हुआ मार्ग में घूम रहा था। उसे आज उपाय मिल जाने से वह अपनी बुद्धि के वैभव की गर्मी को अंतर में झेल न सका। इसलिए वह बोल उठा "प्रायः जो मन में होता है, वह वचन में आता है।" वह बोला कि 'उस विशाल लोचन वाली स्त्री को मैं मेरे राजा के लिए उसका हरण न करूंग तो मेरा नाम योगंधरायण नहीं।' मार्ग में जाते हुए चंडप्रद्योत राजा ने उसकी यह गर्विष्ट वाणी को सुनकर उसकी ओर दुष्ट कटाक्ष भरे नेत्रों से देखा। चेष्टाओं से हृदयभाव के ज्ञाता योगंधरायण ने शीघ्र ही प्रद्योत राजा का कुपित होूना जान लिया। इसलिए तात्कालिक बुद्धिवालों में अग्रणी उसने शीघ्र अपना उत्तरीय

निकालकर सिर पर रखा एवं प्रेत जैसी विकृत आकृति करके स्वयं मानो कौशांबीपंति के कब्जे में आ गया हो एवं उससे छूटने के लिए उपाय करने की आकृति करके मूत्रोत्सर्ग करता हुआ वह मानो भूत लगा हो, ऐसा बताने लगा। यह देखकर यह कोई पिशाचक है ऐसा सोचकर राजा ने तुरंत कोस का निग्रह किया, तब महावत ने भी हाथी को आगे चलाया।

(गा. 232 से 240)

चंडप्रद्योत राजा ने सुंदर उद्यान में जाकर कामदेव रूपी उन्मत्त हस्ति को उत्तेजित करने के लिए महा औषध रूपी गांधर्व गोष्ठी शुरु की। कौतुकी प्रद्योत राजा ने गांधर्व विद्या की नवीन कुशलता देखने के लिए वासवदत्ता और वत्सराज को भी वहाँ बुलाया। उस समय वत्सराज ने वासवदत्ता को कहा कि, 'हे शुभमुखी बाला! आज वेगवती हथिनी पर बैठकर पलायन कर जाने का समय आ गया है।' यह सुनकर अज्ञयिनीपति की दुहिता ने उदयन राजा की आज्ञा से तत्काल वेगवती हथिनी को सज्ज करके मंगवायी। जब हथिनी को तंग बांधने लगा तब उस हथिनी ने गर्जना की। यह सुनकर किसी अंध ज्योतिषी ने कहा कि 'तंग बांधते जिस हथिनी ने गर्जना की है, वह सौ योजन जाकर अपने प्राण त्याग कर देगी।' उदयन की आज्ञा से वसंत महावत ने हथिनी के दोनों पार्श्व मे चार उसके मूत्र के घड़े भी बांध दिये। तब वत्सराज, घोषवती वासवदत्ता कांचनमाला धाय और बसंत महावत ये पांचों व्यक्ति वेगवती हाथी पर आरुढ हुए। इतने में योगंधरायण ने आकर उदयन को हाथ से इशारा करके कहा कि, चले जाओ चले जाओ। पश्चात् वह चलता चलता बोला कि– '' ये वासवदत्ता कांचनमाला वसंतक, घोषवती और वत्सराज वेगवती के उपर पर बैठकर जा रहे हैं। अत्यन्त वेग से हथिनी को चलाते हुए वत्सराज भी सर्व का ज्ञाता हो गया। गुप्त रूप से पलायन करके भी उसने क्षत्रियव्रत का खंडन नहीं किया।

(गा. 241 से 251)

इस प्रकार पांच जनों के साथ उदयन के चले जाने के समाचार जानकर मानो पाशक्रीड़ा करता हो, वैसे प्रद्योत हाथ मलने लगा। पश्चात् महापराक्रमी उज्ञयिनी पति ने शीघ्र ही अनलगिरि हाथी को सज्ज कराया उन पर महायोद्धाओं को बैठाकर उनको पकड़ कर वापिस लाने को रवाना किया। एक साथ पच्चीस योजन का उल्लंघन करके वह हाथी वेगवती हथिनी के समीप आ पहुँचा। उदयन

ने उस भयंकर हाथी को देखा। उसने तुरंत ही चार घड़ों में से एक मूत्र का घड़ा पृथ्वी पर पछाड़ कर फोड़ डाला एवं हाथी को आगे हंकार दिया। हथिननी का मूत्र सूंघने हेतु वह हाथी क्षणभर के लिए स्तंभित हो गया। अति कष्ट से आगे धकेला गया। वह पुनः उदयन के पीछे दौड़ा। दूसरी बार समीप आने पर उसने फिर से दूसरा मूत्र का घड़ा फोड दिया। तब वह हाथी फिर से अटक गया। इस प्रकार उदयन ने घड़ा फोड़ करके चार बार उस हाथी को अवरुद्ध कर दिया एवं सौ योजन पृथ्वी का उल्लंघन करके वह कौशांबी नगरी में घुस गया। श्रांत हुई उस हथिनी की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। जब मूत्र को सूंघता हुआ, वह हाथी वहाँ आ पहुँचा। तब तक कौशांबीपति की सेना भी युद्ध करने के लिए सामने आ पहुँची। हाथी पर बैठे महावत अनलगिरि को वापिस लौटा कर जैसे आए वैसे पुनः उज्ज्ञयिनी लौट गए।

(गा. 252 से 260)

तत्पश्चात् क्रोध में यमराज जैसे राजाचंडप्रद्योत सैन्य की तैयारी करने लगे। परंतु भक्त समान कुल मंत्रियों ने उसे युक्तिपूर्वक रोका और कहा कि 'हे राजन्! आपको किसी योग्य वर को कन्या तो देनी ही थी ना, तो वत्सराज से अधिक योग्य कौन सा जमाता आपको मिलेगा? वासवदत्ता ने स्वयंवरा होकर उनको वरा है, तो हे स्वमिन्! उसके पुण्य से तो योग्य वर की प्राप्ति हो गई है, ऐसा ही मानो। इसलिए युद्ध की तैयारी मत करो। बल्कि उसे जमाता रूप मान्य कर लो। क्योंकि वासवदत्ता के कौमार्य का उसने हरण किया है। ऐसा मंत्रिगणों के समझाने पर राजा ने हर्ष से उसे जमातृरूप योग्य अनेक वस्तुएँ प्रेषित की।

(गा. 261 से 265)

एक बार उज्ज्ञयिनी नगरी में भयंकर आग लगी तब प्रद्योत राजा ने उसकी शांति का उपाय अभयकुमार को पूछा। तब अभय बोला कि जैसे विष का उपाय विष है, उसी प्रकार अग्नि का उपाय अग्नि है। अतः अन्त्रय अग्नि प्रज्वलित करो तो यह अग्नि शांत हो जाएगी। तब राजा ने प्रसन्न होकर तीसरा वरदान लेने को कहा, वह भी अभयकुमार ने अमानत रूप से रखा।

(गा. 266 से 268)

एक बार उज्ज्ञयिनी में महा मरकी फैल गई, उसकी शांति के लिए राजा ने अभयकुमार को पूछा। तब अभयकुमार बोला कि 'आप आपके अंतःपुर में

आओं, तब विभूषित हुई आपकी सर्व रानियों मे से जो रानी आपकी दृष्टि से जीत ले उसका नाम मुझे बताना। राजा ने वैसा ही किया। उस समय शिवादेवी ने राजा को दृष्टि से जीत लिया। राजा ने यह बात अभयकुमार को बताई। अभयकुमार बोला कि – ये महारानी शिवादेवी अपने हाथों से कूर का बलिदान देकर भूतों की पूजा करे, जो भूत सियार के रूप में सामने आवे अथवा आकर बैठे, उसके मुख में देवी को अपने हाथ से कूरबलि प्रक्षेप करनी है।'' शिवादेवी ने उसके अनुसार ही किया। इसलिए तुरंत ही (महामारी) (अशिव) की शांति हो गई। इससे प्रसन्न होकर राजा ने चौथा वरदान दिया। उस समय अभयकुमार ने चारों ही वरदान एक साथ मांगे 'आप अनलगिरि हाथी पर महावत होकर बैठे और पीछे मैं शिवा देवी के उत्संग में बैठूं। पश्चात् अग्निभीरु रथ का भंग करके उसकी काष्ट चिता में प्रवेश करें। ऐसे अभयकुमार द्वारा मांगे गए वरदान को देने में असमर्थ प्रद्योत राजा खेदित होकर अंजली बद्ध होकर अभयकुमार को छोड़ कर राजगृही की ओर विदा किया। जाते समय अभयकुमार ने प्रतिज्ञा पूर्वक कहा कि, 'आपने तो मुझे छलपूर्वक पकड़ कर यहाँ मंगवाया किन्तु मैं तो आपको घोले दिन में नगरी के मध्य में से मैं राजा हूँ ऐसा पुकारते आपका हरण करके ले जाऊंगा। अनुक्रम से वह राजगृही नगरी में आया और उस महामति ने बहुत सा समय निर्गमन किया।

(गा. 269 से 278)

अन्यदा अभयकुमार ने वणिक् का वेश धारण करके गणिका की दो रुपवती पुत्रियों को साथ लेकर अवंती नगरी में आया। राजमार्ग पर किराये से एक घर लेकर रहा। किसी समय मार्ग में जाते हुए प्रद्योत ने उन दोनों रमणियों को देखा एवं उन्होंने भी विलासपूर्वक प्रद्योत राजा को निरखा। दूसरे दिन उस रागी राजा ने उनके पास एक दूती भेजी। दूती ने आकर बहुत प्रकार से विनति करी, परंतु उन्होंने रोष से उनका तिरस्कार किया। दूसरे दिन भी उस आकर पुनः राजा के लिए आकर प्रार्थना की। उस समय उन्होंने कुछ धीरे से रोषपूर्वक अवज्ञा करके निकाल दिया। तीसरे दिन आकर पुनः उन्होंने खेद के साथ माँग की। तब वे बोली कि, 'यह हमारा सदाचारी भ्राता हमारी रक्षा करता है। वह आज से सातवें दिन बाहर गांव जाने वाले हैं, उस समय राजा को गुप्त रीति से यहाँ आना होगा, तो हमारा संग हो सकेगा।' इधर अभयकुमार ने प्रद्योतराजा के जैसे ही अपने ही व्यक्ति को कृत्रिम पागल बना दिया और उसका नाम भी

प्रद्योत रखा। अभयकुमार लोगों को उसके लिए बार बार कहता कि 'यह मेरा भाई पागल हो गया है, यह इधर उधर घूमता रहता है। मुझे इसे बहुत कठिनाई से संभालना पड़ता है। क्या करूं कुछ समझ में नहीं आता।'' अभयकुमार प्रतिदिन वैद्य के घर ले जाने के बहाने उसे आर्त्त के समान खाट पर सुलाकर बांधकर मार्ग के बीच में से ले जाता था। उस समय वह पागल चिल्लाता हुआ उन्मत्त होकर ऊँचे स्वर से आँख में अश्रु लाकर कहता था कि, 'मैं प्रद्योत हूँ' यह मेरा हरण करके ले जा रहा है।'

(गा. 279 से 288)

इधर सातवाँ दिन आ गया, तब प्रद्योतन राजा गुप्त रीति से अभयकुमार के ठहरने के स्थान पर आया। तत्काल अभयकुमार के सुभटों ने हाथी के जैसे उस कामांध को बांध लिया। पश्चात् अभय ने 'इसे वैद्य के घर ले जाते हैं' ऐसा कहकर वह पुकारता ही रहा और दिन के समय में शहर के बीच में से होकर उसे ले गया। उसने पहले ही एक एक कोश पर श्रेष्ठ अश्ववाले रथ तैयार रखे थे। इस प्रकार निर्भय होकर अभयकुमार ने उसे एक दम राजगृही नगरी में पहुँचा दिया। पश्चात् उसे अभयकुमार श्रेणिक राजा के पास ले गया, उसे देखते ही श्रेणिक राजा खड्ग खींचकर मारने के लिए दौड़े। अभयकुमार ने उनको समझाकर शांत किया एवं वस्त्राभरण से सन्मान करके उन्होंने प्रद्योत राजा को हर्ष पूर्वक विदा कर दिया।

(गा. 289 से 293)

एक बार किसी कठियारे (काष्ट बेचने वाले) ने विरक्त होकर गणधर श्री सुधर्मा स्वामी के पास राजगृही में दीक्षा ली। उसे शहर में गोचरी आदि कारणों से भ्रमण करते समय उसकी पूर्वावस्था को जानने वाले नगरी के लोग स्थान स्थान पर उसका तिरस्कार मस्करी और निंदा करने लगे। ऐसी अवज्ञा को सहन नहीं कर सकने के कारण उसने श्री सुधर्मा स्वामी को विहार करने के लिए कहा। श्री सुधर्मास्वामी ने अभयकुमार को विहार करने विचार ज्ञात कराया। अभयकुमार ने उसका कारण पूछा। तब सुधर्मास्वामी ने पूर्वोक्त कारण दर्शाया। अभयकुमार ने उनसे एक दिन रहने की विनति की। इसलिए सुधर्मा स्वामी ने कठियारा मुनि के साथ वहाँ स्थिरता की।

(गा. 294 से 297)

दूसरे दिन अभयकुमार ने राज्य भंडार ने तीन कोटि रत्न निकालवाये और मार्ग के बीचों बीच उसका ढेर करवाकर पटह बजवाकर ऐसी आघोषणा कराई कि हे लोगों! यहाँ आओ, 'मैं तुमको ये तीन कोटि रत्न देता हूँ।' यह सुनकर बेशुमार लोग वहाँ एकत्रित हो गए। तब उसने कहा कि, 'जो पुरुष सचित जल, अग्नि और स्त्री का सर्वथा त्याग करेगा, उसकी यह रत्नराशि है।' तब वे बोले कि – हे स्वामिन्! ऐसा लोकोत्तर कार्य करने में कौन समर्थ है? अभयकुमार बोले कि– 'यदि तुममें से कोई ऐसा न हो तो जल, अग्नि एवं स्त्री के सर्वथा त्यागी ये काष्ठ हारी (कठियारा) मुनि की यह रत्न राशि होवे। वे बोले – अरे! ये साधु ऐसे त्यागी और दानपात्र है? हमने उनका वृथा ही उपहास किया। 'तब अभयकुमार ने आदेश दिया कि– अब कोई भी इन मुनि का तिरस्कार या हास्य करेगा नहीं, लोगों ने यह बात स्वीकार की और अपने अपने स्थान पर गये।

(गा. 298 से 304)

इस प्रकार बुद्धि का महासागर और पितृभक्ति में तत्पर अभयकुमार निःस्पृह और धर्मास्तिभाव से पिता के राज्य का पालन करता था। स्वयं के धार्मिक प्रवृत्ति करने से प्रजा भी धर्म परायण थी। क्योंकि 'प्रजा और पशुओं की प्रवृत्ति गोप (राजा) के आधीन ही होती है। अभयकुमार जिस प्रकार बारह प्रकार के राजचक्र में जागृत रहता था, उसी प्रकार अप्रमत्त भाव से बारह प्रकार के श्रावक धर्म में भी जागृत रहता था। दोनों लोकों को साधने में जैसे दुर्जय बाहिर शत्रुओं को उसने जीते थे, वैसे ही अंतर शत्रुओं को भी जीता था।

(गा. 305 से 308)

एक बार श्रेणिक राजा ने अभयकुमार को कहा कि, वत्स! अब तू राज्यभार संभाल तो मैं प्रतिदिन श्री वीरप्रभु की सेवा करके सुख का आश्रय करूं। 'पिता की आज्ञा के भंग से और संसार भीरु अभयकुमार बोला कि– 'आप जो आज्ञा कर रहे हैं, वह उचित है, परंतु उसके लिए थोड़ी प्रतीक्षा करें। ऐसी बात चल ही रही थी कि इतने में वीरप्रभु उदायन राजा को दीक्षा देकर मरुमंडल में से आकर वहाँ समवसरे। यह समाचार श्रवण करके 'आज मेरे सद्नसीब से भगवंत यहाँ पधारे हैं, ऐसा विचार करके हर्षित होकर अभयकुमार प्रभु के समीप आये एवं भक्तिपूर्वक भगवंत को नमन करके स्तुति करने लगे–

'हे स्वामिन्! यदि जीव का एकांत नित्य माने तो कृतनाश और अकृतागम दोष लगता, और यदि आत्मा का एकान्त नित्यत्व मानो तो सुख दुःख का भोग रहता नहीं और एकांत अनित्यत्व माने तो दर्शन में भी संभवित नहीं पुण्य और पाप तथा बंध और मोक्ष जीव को एकांत नित्य मानने वाले दर्शन में संभव नहीं है, वैसे ही एकांत अनित्य मानने वाले दर्शन में भी संभव नहीं है, क्रम अर्थ क्रिया घटित नहीं होती। इसी प्रकार यदि एकान्त क्षणिकत्व माने तो भी अर्थ क्रिया घटित नहीं होती। इसलिए हे भगवन्! यदि आपके कथनानुसार वस्तु का नित्यानित्यत्व स्वरूप हो तो वह यथार्थ है, उसमें कोई दोष नहीं लगता। गुड़ से कफ उत्पन्न होता है, तो सुंठ पित्त को उत्पन्न करती है परंतु ये इन दोनों का मिश्रण औषधि में हो तो कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं होता। फिर असत् प्रमाण की प्रसिद्धि द्वार दो विरुद्ध भाव एक एक स्थान पर न हो, यह कहना भी मिथ्या है, कारण कि रंगबिरंगी वस्तु में विरुद्ध वर्ण का योग नजर से देखा जाता है। विज्ञान का एक आकार विविध आकार के समुदाय से हुआ है, इस प्रकार माने तो त्राज्ञ ऐसा बौद्ध अनेकांत मत को तोड़ सकता नहीं है। एक और अनेक रूप प्रमाण विचित्र रीति से है, ऐसे कहने से वैशेषिक विरुद्ध गुणों से गूंथी हुई आत्मा के मानने से सांख्य मत वाले भी अनेकान्त मत को तोड़ सकता नहीं है। एवं चार्वाक की विमति और संमति मिलने की तो जरूरत ही नहीं है, क्योंकि उसकी बुद्धि तो परलोक, आत्मा और मोक्ष के संबंध में मूढ ही हो गई है। इसलिए हे स्वामिन! आपके कथनानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप गोरस आदि से जिस प्रकार सिद्ध हुई वस्तु वस्तु रूप हुई है, यह सर्व प्रकार से मान्य हैं।''

(गा. 309 से 325)

इस प्रकार स्तुति करके पुनः प्रभु नमन करके अभयकुमार ने पूछा कि 'हे स्वामिन्! अंतिम राजर्षि कौन होगा? प्रभु ने फरमाया कि 'उदायन राजा अभयकुमार ने पुनः पूछा, हे प्रभु! वे उदायन राजा कौन हैं? तब प्रभु ने उदायन राजा का चरित्र इस प्रकार कह सुनाया–

(गा. 326)

सिंधु सौवीर देश में वीतभय नामक नगर है, उस नगर में उदायन नामक राजा था, वह वीतभय आदि तीन सौ त्रेसठ नगर का और सिंधु सौवीर आदि

सोलह देश का स्वामी था। महासेन आदि दस मुकुटुबद्ध राजाओं का नायक था और अन्य भी अनेक सामान्य राजाओं का नेता तथा विजेता था। सम्यग्दर्शन से पवित्र और तीर्थ की प्रभावना करने वाली एक प्रभावाली (रूपवती) प्रभावती नामकी पत्नि थी। उस प्रभावती के उदर से युवराज की धुरा को धारण करने वाला अभीचि नामका एक श्रेष्ठ पुत्र था, जो कि केशी नाम के राजा का भागिनेय (भाणजा) था।

(गा. 327 से 331)

इधर चंपानगरी में जन्म से ही स्त्री लंपट कुमार नंदी नामका एक धनाढ्य सोनी रहता था। वह जिस जिस रूपवती कन्या को देखता या सुनता उसे तत्काल पांच सौ सौनिया देकर विवाह कर लेता था। ऐसा करके अनुक्रम से उसके पांच सौ स्त्रियाँ हो गई। वह ईर्ष्यालु सोनी एक स्तंभवाले महल में उनके साथ क्रीड़ा करता था। उस सोनी के नागिल नामका एक अतिवल्लभ मित्र था। वह मुनियों का उपासक और शुद्ध पंच अणुव्रत का धारक था। एक बार पंचशैल द्वीप में रहने वाली दो व्यंतर देवियाँ शक्रेन्द्र की आज्ञा से उसके साथ नंदीश्वर द्वीप की यात्रा करने चली। उसका पति विद्युन्माली जो पंचशैलद्वीप का स्वामी था उसका मार्ग में जाते च्यवन हो गया। इसलिए उन देवियों ने सोचा कि 'अपने किसी ऐसे मनुष्य को शोध ले कि जो मृत्यूपरान्त अपना पति बने।' ऐसा सोचती हुई वे चंपापुरी के पास से निकली वहाँ पाँचसौ स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ वह कुमार नंदी सोनी उनको दिखाई दिया। तब उसे अपना पति बनाने को इच्छुक वे दोनों उनके पास आई एवं उसे अपना रूप दिखाया। यह देखकर कुमारनंदी ने उनको पूछा– तुम कौन हो? वे बोली कि, हे मानव! हम हासा और प्रहासा नामक देवियाँ हैं।' उनको देखकर वह स्वर्णकार उन पर मोहित होकर मूर्च्छित हो गया। जब उसे चेतना आई तब उसने क्रीड़ा करने की इच्छा से उनको प्रार्थना की। वे बोली कि 'तुझे हमारी इच्छा हो तो तू पंचशैल द्वीप मे आना।' ऐसा कहकर वे आकाश में उड़ गई।

(गा. 332 से 341)

पश्चात् उस सोनी ने राजा को द्रव्य देकर शहर में इस प्रकार पटह बजाकर उद्घोषणा कराई कि जो मुझे पंचशैलगिरि पर ले जाएगा, उसे मैं कोटि द्रव्य दूंगा।'' किसी एक वृद्ध ने उस पटह को झेलकर धन ग्रहण किया,

और एक जहाज तैयार करवा कर उसमें प्रचुर भाता (अन्न–पानी) आदि भरा। लिया हुआ द्रव्य अपने पुत्रों में बांट दिया। तब वह वृद्ध कुमारनंदी के साथ में बैठकर समुद्रमार्ग से चल दिया। बहुत दूर जाने के पश्चात् उस वृद्ध ने कुमार नंदी को कहा कि ''इस समुद्र के किनारे पर स्थित पर्वत के प्रत्यंत भाग में जो यह बड़ का वृक्ष दिखाई देता है, उसके नीचे जब यह जहाज पसार हो, तब तुम उस वृक्ष को शाखा (डाल) को पकड़ लेना। पंचशैलद्वीप में से तीन पैर वाला भारंड पक्षी उस वृक्ष के ऊपर आकर बैठेगें। जब वे पक्षी निद्राधीन हो जावें तब उनमें से एक के पैर में तुम चिपक जाना। तेरे शरीर को वस्त्र के साथ बांधकर गाढ़ रीति से बांधकर दृढ़ मुट्ठियों से पकड़ लेना। जब प्रातः काल में जब वे भारंड पक्षी उड़ेगे तब उनके साथ तुम पंचशीलद्वीप में पहुँच जावोगे। यह यानपात्र अर्थात् जहाज भी समुद्र के वमन (तूफान) में घिरकर टकराकर टूट जाएगा। इसलिए यदि तुमने बड़ को पकड़ा नहीं तो यहीं पर मृत्यु हो जावेगी।

(गा. 342 से 348)

स्वर्णकार ने उसके कहे अनुसार वर्तन किया, तो वे भारंडपक्षी उसे उठा ले गये एवं वह पंच शैलद्वीप पहुँच गया। पंचशैलद्वीप में आए हुए उस सुनार की देखकर वे दोनों देवियाँ खुश हो गई। उस पर अनुरक्त होकर वे बोली कि– हे अनघ! तेरे इस मनुष्य शरीर से हम भोग्य नहीं हो सकती इसलिए अग्नि में प्रवेश करके तू पंचशैलगिरि का अधिपति, हो जा।' यह सुनकर 'अब मुझे क्या करना? और कहाँ जाना? ऐसा सोनी के कहने पर उन्होंने हाथ के संपुट में उसे लेकर चंपानगरी के उद्यान में उसे छोड़ दिया। लोगों ने उसे पहचान लिया और उससे वृत्तांत पूछा। तब उसने अपनी सर्व कथा कह सुनाई। हासा प्रहासा का स्मरण करके वह अग्नि में जलकर मरने को तैयार हो गया। उसके नागिल मित्र ने आकर प्रतिबोध करके कहा– ''तुझे कायरपुरुष को योग्य इस तरह मरना उचित नहीं है। यह मनुष्य जन्य दुष्प्राप्य है। उसे तुच्छ भोगफल प्राप्त करने के लिए वृथा ही हार मत जा। 'रत्न के बदले कोड़ी कौन मूर्ख ले? सुखभोग के लिए भी तू अर्हत् धर्म का आश्रय ले क्योंकि स्वर्ग और मोक्ष का प्रदाता वह धर्म अर्थ और काम में भी कामधेनू के समान है, ऐसा बहुत समझाकर उसे रोका, परंतु वह अग्निप्रवेश द्वारा मृत्यु प्राप्त करके पंचशैल का अधिपति बन गया।

(गा. 349 से 351)

अपने मित्र का इस प्रकार अपंडित मृत्यु देखकर नागिल ने निर्वेद प्राप्त कर सद्य ही दीक्षा अंगीकार कर ली। निरतिचार चारित्र का पालन करके काल करके वह अच्युत देवलोक में देव बना। उसने अवधिज्ञान के द्वारा अपने मित्र को पंचशैल में उत्पन्न हुआ देखा। एकदा श्री नंदीश्वर की यात्रा करने देवगण जा रहे थे उनकी आज्ञा से हासा एवं प्रहासा गायन करने के लिए साथ में चल दी। उस समय ढोल बजाने के लिए विद्युन्माली को कहा गया। वह बोला कि 'क्या मेरे ऊपर स्वामी का हुक्म चलता है? इस प्रकार अंहकार से मुख से हुंकार करता हुए उस विद्युन्माली के गले में माना मूर्तिमाना अभियोग्य कर्म हो वैसे वह ढोल उससे चिपक गया। वह उससे लज्जित होने लगा। हाथ पैर की भांति मानों शरीर के साथ उत्पन्न हुआ अवयव हो ऐसे वह ढोल किसी प्रकार से उतर सका नहीं। उस समय वह हासा प्रहासा बोली कि– 'अरे! यहाँ जन्म लेने वाले प्रणियों का यह कर्म ही है, इसलिए लज्ञा मत करो, तुमको यह ढोल अवश्य ही बजाना पड़ेगा। ऐस कहकर हासा प्रहासा गाने लगी और वह ढोल बजाना हुआ देवताओं के पास आगे चल दिया।

(गा. 352 से 365)

उस समय वह नागिल देव भी यात्रा करने जा रहा था। उसने हासा प्रहासा के साथ उस देव को ढोल बजाने हुए देखा। तब अवधिज्ञान द्वारा उसने अपना मित्र जान कर उसे कुछ कहने के लिए उसके पास आया। परंतु सूर्य की प्रभा से उलूक के समान उसके अंग की प्रभा को सहन करने में अशक्त वह विद्युन्माली देव वहाँ से पालयन करने लाग। यह देखकर उस अच्युत देव ने सांयकाल के सूर्य के सदृश अपने तेज का संहरण करके विद्युन्माली को रोक कर कहा कि, मेरे सामने देख, क्या तू मुझे नहीं पहचानता? पटहधारी ने कहा क्या मैं आपके जैसी विपुल समृद्धि वाले देवों को और इंद्रादिक को भी नहीं पहचानूंगा क्या?' तब अच्युतदेव ने पूर्वभव के श्रावक का रूप बनाकर हासा–प्रहासा के लिए मृत्यु का वरण करते समय उसे जो प्रतिबोध दिया था, वह याद कराया और कहा कि 'हे मित्र! उस समय मेरे उपदेश देने पर भी तूने आर्हत् धर्म का आश्रय किया नहीं और मूढ़ बुद्धि से पतंग की भांति अग्नि में गिर कर मृत्यु को प्राप्त किया और मैं तो जिनधर्म को जानकर दीक्षा ग्रहण करके चारित्र पालन करके मृत्यु प्राप्त की। इससे अपने दोनों के पूर्वकर्म का भिन्न भिन्न परिणाम आया। यह सुनकर पंचशैल गिरिपति देव को अत्यन्त निर्वेद हो गया।

तब वह बोला– 'हे मित्र! अब मैं क्या करूं? तब नागिलदेव ने कहा कि – "मित्र! तेरे गृहस्थपन की चित्रशाला में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित भावयति श्री महावीर प्रभु की प्रतिमा बनवा ले। हे बंधु! यह आर्हती प्रतिभा भराने से तुझे आगामी भव में बोधिबीज रूप महाफल की प्राप्ति होगी। क्योंकि रागद्वेष और मोह को जीतने वाले ऐसे श्री अरिहंत की प्रतिमा जो भराता है उसे स्वर्ग और मोक्ष प्रदाता धर्म की प्राप्ति होती है। जिनबिंब भराने वाले को कभी कुत्सित जन्म कुगति, दारिद्र, दौर्भाग्य और अन्य किसी प्रकार का कुत्सितपन प्राप्त नहीं होता।"

(गा. 366 से 378)

विद्युन्माली देव ने इस प्रकार आज्ञा की स्वीकार करके शीघ्र ही क्षत्रियकुंड गांव में आया। वहाँ उसने कायोत्सर्ग में स्थित हमको देखा पश्चात् उसने महाहिमवान् गिरि पर जाकर गोशीर्ष चंदन को काट कर उस काष्ट की जैसी हमारी मूर्ति जैसी उसने देखी थी वैसी अलंकारयुक्त प्रतिमा उसने बनाई। जातिवंत चंदन काष्ट के स्वयं द्वारा घडित संपुट में जैसे धनाढ्य व्यक्ति भंडार को गुप्त रखने हैं, वैसे उसने प्रतिमा स्थापित रखी। अन्यदा कोई एक जहाज उत्पात योग से छः महीने तक समुद्र में भ्रमण करते हुए उस विद्युन्माली देव को दिखाई दिया। उसने त्वरित गति से उसके उत्पात का संहरण करके उस जहाज के मलिक को वह प्रतिमावाला संपुट यह कहकर अर्पण किया कि, "हे भद्र! तेरा कल्याण हो। तू उपद्रव रहित समुद्र को पार करके सिंधु सौवीर देश में आए वीतभय नगर में जा और उस नगर के चौराहे पर खड़े रहकर ऐसी आघोषणा करना कि, 'यह देवाधिदेव की प्रतिमा कोई ग्रहण करो, ग्रहण करो।' जहाज के स्वामी ने यह बात स्वीकार कर ली। वह उस प्रतिमा के प्रभाव से शीघ्र ही नदी की भांति समुद्र को पार करके किनारे आ पहुँचा। वहाँ से सिंधु सौवीर देश में वीतभय नगर में आकर चौराहे पर खड़े रह कर उसने देव के कथनानुसार आघोषणा की। उस समय तापसों का परमभक्त उदायन राजा कितनेक त्रिदंड़ी, ब्राह्मण तथा तापस वहाँ आए। वे विष्णु, ब्रह्मा, शंकर आदि अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करके कुल्हाड़े द्वारा उस काष्ट से संपुट को तोड़ने लगे। लागों ने भी अपनी रूचि के अनुसार उनकी स्तुति करे करके बहुत से प्रहार किये, परंतु वे लोहे के कुल्हाड़े भी मानो एक थीर के हों वैसे उल्टे टूट गये। ऐसे आश्चर्य में प्रसक्त हुए राजा को वहाँ खड़े खड़े ललाट तपे वैसा मध्याह्न का समय हो गया।

परंतु वह संपुट खुल नहीं पाया। इतने में राजा के भोजन का समय का अतिक्रम हो जाने से रानी प्रभावती ने राजा को बुलाने के लिए एक दासी भेजी।' 'पतिभक्ता स्त्री का यही आचार होता है।' राजा ने आश्चर्य देखने के लिए आने को प्रभावती को आज्ञा दी। रानी भी आई। रानी ने हकीकत पूछी तो राजा ने सर्व विगत कह सुनाई। यह सुनकर प्रभावती बोली कि– 'हे स्वामिन्! ब्रह्मादिक देव कोई देवाधिदेव नहीं है। देवाधिदेव तो मात्र अरिहंत परमात्मा ही है। इसलिए इसमें संपुट में उन प्रभु की प्रतिमा ही होगी, इसमें किंचित् मात्र भी संशय नहीं है। ब्रह्मादि के नाम स्मरण से उस प्रतिमा के दर्शन नहीं होंगे। परन्तु उन अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा को इसमें से निकालकर सर्व लोगों को कौतुक बलाऊंगी।' तत्पश्चात् प्रभावती यक्षकर्दम द्वारा संपुट का सिंचन करके पुष्पांजली क्षेपन करके प्रणाम करके उच्च स्वर में बोला कि– राग द्वेष और मोह से रहित, साथ अष्ट प्रातिहार्य से आवृत्त ऐसे देवाधिदेव सर्वज्ञ अर्हन्त परमाात्मा मुझे दर्शन दो।' इस प्रकार उच्चारण करते ही वह प्रतिमावाला संपुट जैसे प्रातः काल कमलकोश विकसित होता है, वैसे स्वयमेव खुल गया। एवं उसमें स्थित गोशीर्ष चंदनमयी, देवनिर्मित, अम्लान माल्य को धाारण करती, सर्वांग, सम्पूर्ण अरिहंत प्रभु की प्रतिमा सर्व को दिखााई दी। उस समय अर्हन्त प्रभु के शासन की अत्यन्त प्रभावना हुई।

(गा. 379 से 401)

प्रभावती प्रभु प्रतिमा को नमन करके इस प्रकार स्तुति करने लगी– 'सौम्य दर्शन वाले, सर्वज्ञ अपुनर्भव, जगद्गुरु भव्यजाननंददायक एवं विश्वचिंतामणि रूप हे अर्हन्त प्रभु आपकी जय हो। पश्चात् प्रभावती ने उस जहाजमालिक का बंधु के समान सत्कार करके उस प्रतिमा को उत्सवपूर्वक अपने अंतःपुर में ले गई। और एक सुंदर चैत्य बनवा कर उसमें उस प्रतिमा को विराजमान की। वह त्रिकाल गानतान पूर्वक उस प्रतिमा की पूजा करने लगी। एक बार प्रभावती ने अपने पतिदेव के साथ हर्ष से पूजा करके निर्दोष संगीत का प्रारंभ किया। उस समय राजा व्यंजन, धातु, स्वर और राग स्पष्ट करता हुआ श्रवण करने योग्य वाणी को बजाने लगा। और प्रभावती अंगहार को स्पष्ट करती हुई साथ ही सर्व अंग के अभिनय को दर्शाती हुई ताडंवपूर्वक प्रीति से नृत्य करने लगी। इस प्रकार की प्रवृत्ति करते समय एक बार राजा ने क्षणमात्र के लिए प्रभावती का मस्तक को देखा ही नहीं एवं रणभूमि में हो वैसे मात्र घड़

को ही नाचते हुए देखा। इस अनिष्ट को देखने पर राजा शीघ्र ही क्षुब्ध हो गया। इससे मानो निद्रा आ गई हो वैसे उसके कर में से वीणा बजनाबंद हो गया। अकस्मात् वीणा बंद हो जाने से तांडव नृत्य का छेद हो जाने से रानी कुपित होकर बोली 'अरे स्वामिन्! आपने वाद्य बजाना क्यों बंद कर दिया? क्या मैं तालभ्रष्ट हो गई थी? उसने बार बार वैसा करने का कारण पूछा। अंत में राजा ने यथा तथ्य कह सुनाया। "स्त्री का आग्रह बलवान् है।" यह सुनकर रानी बोली– हे प्रिय! ऐसे दुर्निमित्त से मेरा आयुष्य अल्प है, ऐसा निश्चय होता है। जन्म से ही अर्हत् धर्म का पालन करने वाली मुझे मृत्यु का किंचित् भी भय नहीं है। बल्कि उस दुर्निमित्त का दर्शन तो मेरे लिए आनंद का हेतु है, क्योंकि वह मुझे सर्वविरति अंगीकार करने का समय सूचित करता है। ऐसा कहकर हृदय में चिंतन करती हुई प्रभावती अंतःपुर में गई परंतु अर्हद्धर्म के वचनों से जिनके कान आविद्ध है, ऐसा राजा मन ही मन कुछ खेदित हुआ।

(गा. 402 से 414)

एक बार प्रभावती ने शौच स्नान करके देवार्चन के योग्य वस्त्रों को दासी के पास से मंगाये। दासी वस्त्र लाई, भावी अनिष्ट के कारण रानी को वे वस्त्र रक्त दृष्टिगत हुए। ये वस्त्र पूजा के समय अनुचित है, ऐसा सोचकर रानी दासी पर कुपित हुई। इसलिए उसने शीघ्र ही दासी पर प्रहार किया। मात्र प्रहार से ही दासी की मृत्यु हो गई। 'मृत्यु की गति विषम है।' पश्चात् तुरंत ही रानी को वे वस्त्र उज्ज्वल दिखाई दिये।

इससे वह चिंतन करने लगी कि, 'मुझे धिक्कार है।' मैंने मेरे प्रथम व्रत को खंडित किया। दूसरा पंचेन्द्रिय का मैंने विघात किया, वह भी नरक का कारण है। तो स्त्री हत्या की तो बात ही क्या करनी? इसलिए अब तो मुझे चारित्र अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। रानी ने राजा को उस दुनिर्मित को विषय में ज्ञात कराया। स्वयं के द्वारा हुई स्त्री हत्या का महापाप एवं स्वयं को हुआ वैराग्य भी अंजली बद्ध होकर कहा' एवं प्रार्थना की कि, "हे स्वामिन्! वास्तव में मैं अल्पायुषी हूँ।" अतः सर्वविरति के लिए मुझे अभी ही अनुमति प्रदान करो। प्रथम आपने मुझे मस्तक रहित अवलोकन किया था और अभी मैंने वस्त्र के रंग में परिवर्तन देखा। ये दो दुर्निमित्त देखे। इन दोनों ही दुनिर्मितों से मुझे मेरी आयु अल्प निश्चित होती है। इसलिए अब आप मुझे योग्य समय में दीक्षा ग्रहण करने में विघ्न मत कीजिए।" इस प्रकार जब उसने अत्याग्रहपूर्वक कहा, तब

राजा बोला– "हे महादेवी! तुमको रुचे वैसा करो।' परन्तु हे देवी! तुम देवगति को प्राप्त करो, तो अवश्य ही मुझे प्रतिबोध करने के लिए आना। मेरे लिए क्षणभर के लिए स्वर्ग के सुखों की अंतराय सहन करना। यह शर्त स्वीकार करके प्रभावती ने सर्वविरति ग्रहण की। पश्चात् अनशन करके मृत्यु होने पर प्रथम देवलोक में महर्द्धिक देवता हुई।

(गा. 415 से 426)

देवाधिदेव की प्रतिमा जो अंतःपुर के चैत्य में स्थापित की थी उसकी देवदत्ता नामकी प्रभावती की कुब्जा दासी उस ही प्रकार पूजा करती थी। देवता बनी प्रभावती ने अनेक प्रकार से उदयन राजा को प्रतिबोध करने का प्रयत्न किया, परंतु वह प्रतिबोध को प्राप्त नहीं हुआ। तब अवधिज्ञान द्वारा उसका उपाय चिंतन करके उसने प्रयोग किया। एक बार वह प्रभावती देव तापस के रूप में हाथ में दिव्य अमृतफल से परिपूर्ण पात्र हाथ में लेकर उदयन राजा के पास आया। एक तो तापस और फिर वह इस प्रकार की उत्तम भेंट लेकर आया, तो सोने में सुगंध जैसा हो गया। तापसों के भक्त राजा ने उस तापस का बहुत का बहुत सन्मान किया। पश्चात् मानो परमानंद का बीज हो वैसे पक्व और कर्पूर की सुगंध से सुगन्धित वे इष्ट फल राजा ने भक्षण किये। उससे प्रसन्न होकर राजा ने उस तापस से पूछा कि, 'हे महाशय! ऐसे अपूर्व फल आपको कहाँ से संप्राप्त हुए? वह स्थान मुझे बताईये।' तापस ने कहा, 'इस नगर के समीप 'दृष्टिविश्राम' नामक एक आश्रम है, उसमें ये फल होते हैं। राजा को कहा 'चलो मुझे वह आश्रम बताओ' तब वह देवता राजा ने मानो विद्या देनी हो वैसे वहां से अकेला ही साथ लेकर चल दिया। थोड़ी दूर जाने पर उसने अपनी दिव्य शक्ति से वैसे ही फलों से मनोरथ एवं अनेक तापसों से व्याप्त ऐसा नंदनवन जैसा एक उद्यान दिखलाया 'यह तापसों का वन है और उन पर मेरी भक्ति है। इसलिए अब यहाँ मेरी फलों की इच्छा पूर्ण होगी। ऐसा सोचकर राजा वानर की भांति फल लेने के लिए दौड़ा। तो वे सभी मायावी तापस क्रुद्धित होकर उनके समाने दौड़े आए एवं राजा को मारने लगे। इससे कुपित होता हुआ वह नष्ट बुद्धि वाला राजा भी चोर के समान भागने लगा। भागते भगते उसने आगे के भाग में साधुओं को खड़ा हुआ देखा। उन्होंने राजा 'भयभीत मत हो' ऐसा कहा तब राजा उनकी शरण में गया। उनके द्वारा दिये आश्वासन से राजा

स्वस्थ होकर चिंतन करने लगा कि 'धिक्कार है, इन क्रूर कर्म करने वाले तापसों को कि जिन्होंने मुझे जन्म से ही छला है।' पश्चात् साधुओं ने उसे शिक्षा दी कि 'इस संसार में एक धर्म ही शरण करने योग्य है। इसलिए धर्मार्थी सद्बुद्धि वाले पुरुष को देव, गुरु धर्म की परीक्षा करनी चाहिये। जो अट्ठारह दोषों से मुक्त हों वे ही देव, जिसमें दया मुख्य हो वही धर्म और ब्रह्मचारी तथा आरंभ परिग्रह रहित हों, वे ही गुरु कहलाते हैं।' इत्यादि उपदेश द्वारा उन साधुओं ने राजा को प्रतिबोधित किया। इस प्रकार हृदय में कोतरा हो वैसे जिनधर्म उसके चित्त में स्थिर हो गया। पश्चात् उस देव ने प्रत्यक्ष होकर राजा को अर्हत् धर्म में स्थापन करके अतंर्धान हो गया। राजा ने अपने आपको सभा स्थान में ही बैठा पाया। उस दिन से उदयन राजा देवतत्त्व, गुरुतत्त्व से सम्यक् प्रकार से अधिवासित हुआ।

(गा. 427 से 444)

इसी समय में गांधार नाम का कोई पुरुष शाश्वत प्रतिमा को वंदन करने की इच्छा से वैताढ्यगिरि के पास आया और वैताढ्यगिरि के मूल में उपवास करके बैठ गया। तब शासन देवी ने संतुष्ट होकर उसके मनोरथ को पूर्ण किया। तब कृतार्थ हुए उस पुरुष को देवी ने वैताढ्यगिरि की तलहटी में रख दिया एवं चिंतित मनोरथ को करने वाली एक सौ आठ गोलियों उसे दी। उसमें से एक गोली मुख में रखकर उस विचार किया कि 'श्री वीतभय नगर में श्री देवाधिदेव की प्रतिमा को मुझे वंदन करना है।' ऐसा कहते ही वह वीतभय नगर में जा पहुँचा। वहाँ उस कुब्जा दासी ने उसे देवाधिदेव की प्रतिमा की वंदना कराई। वहाँ रहते हुए उसने गांधार के शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हुई, तब अर्हत् धर्म में वत्सल ऐसी कुब्जा ने उसकी सेवा की। सद्बुद्धि वाले गांधार ने अपना अवसान का नजदीक जानकर कुब्जा को वे सब गोलियां दे दी एवं स्वयं ने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुरुपा कुब्जा ने रूप की इच्छा से एक गोली मुख में रखी, इससे वह शीघ्र ही उपपात शय्या में उत्पन्न हुई दिव्य रूप को धारण करने वाली देवी जैसी बन गई। उसके सर्व अंगों का वर्ण सुवर्ण के जैसा हो गया। जिससे लोग उसे सुवर्णगुलिका' इस नाम से बुलाने लगे। पश्चात् उसने दूसरी गोली मुख में डाली और सोचने लगी कि 'यदि योग्य पति न हो तो मेरा यह रूप वृथा है, यहाँ के उदायन राजा तो मेरे पिता समान है, और दूसरे सब तो उसके नौकर है। इसलिए प्रचंडशासन वाले चंडप्रद्योत राजा मेरे पति बने।' तब देवता ने प्रद्योत राजा के पास जाकर उसके रूप का वर्णन किया। यह सुनकर प्रद्योत

राजा ने कुब्जा के लिए दूत भेजा। दूत ने वहाँ जाकर उससे मांग की। उसने दूत से कहा कि 'मुझे प्रद्योतराजा को बताओ। दूत ने आकर यथातथ्य हकीकत प्रद्योतराजा से कही। तत्काल ही ऐरावत हाथी पर इंद्र शोभाधारण करते हैं वैसे प्रद्योत राजा अनिलेवग हाथी पर बैठकर रात्रि में वहाँ आया। वह कुब्जा जैसे उसे रुची थी वैसे ही कुब्जा को भी रुचा। तब प्रद्योत ने कुब्जा से कहा– हे कमलाक्षि! मेरी नगरी में चलो।' तो कुब्जा बोली स्वामिन्! जिसके बिना में क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकूं, ऐसी ये देवाधिदेव की प्रतिमा को छोड़ कर मैं कहीं भी नहीं जा सकती। इसलिए हे राजन्! इस प्रतिमा के सदृश दूसरी प्रतिमा जी ला दो कि जिससे वह प्रतिमा यहाँ रखकर मैं यह प्रतिमा ले जाऊं। राजा ने उस प्रतिमा को अच्छी तरह निहार लिया एवं उस रात्रि में उसके साथ क्रीड़ा करके प्रातःकाल पुनः उज्ज्ञयिनी में आ गया। उज्ज्ञयिनी में आकर जैसी प्रतिमा उसने निरखी थी, वैसी ही हू–बहू जातिवंत श्री खण्ड काष्ट की प्रतिमा बनवायी।

(गा. 445 से 463)

पश्चात् उसने अपने मंत्रिगणों से पूछा, कि, 'मैंने यह देवाधिदेव की नूतन प्रतिमा बनवायी है, इनकी प्रतिष्ठा कौन करेगा? मंत्रियों ने कहा "स्वामिन्! कौशाम्बी नामक एक नगरी है, उसमें सार्थक नामवाला जितशत्रु नाम का राजा था। सर्व विद्यारूप सागर में प्रारंगत काश्यप नामका एक ब्राह्मण उसका पुरोहित था। उसके यशा नामकी स्त्री थी। उस विप्रदम्पती के कपिल नाम का पुत्र हुआ। कपिल की शिशुवय में ही काश्यप मृत्यु को प्राप्त हुआ। फलस्वरूप कपिल अनाथ हो गया। जितशत्रु राजा ने उस बालक कपिल का अनादर करके काश्यप के पुरोहित पद पर अन्य ब्राह्मण का स्थापन कर दिया। 'योग्यता बिना आम्नाय कहाँ से रहे? छत्र की संप्राप्ति से सूर्य की किरणों भी जिसके शरीर का स्पर्श तक करती नहीं ऐसा वह ब्राह्मण नाचते तुरंग पर आरुढ़ होकर नगर में भ्रमण करने लगा। उसे देखकर कपिल की माता अपने पति का स्मरण करके रुदन करने लगी। 'मंदभाग्यवाले को दुःख में रुदन करना, वह मित्र के समान है।' माता को रुदन करते देखकर कपिल भी उच्च स्वर से रोने लगा। कारण कि दर्पण में प्रतिबिंब के समान आप्तजन में शोक संक्रमित होता है। देनों नेत्रों से अश्रु की दो धारावाला माता का मुख ऊंचा करके कपिल बोला कि– हे माता! आप क्यों रो रही हो? माता ने उस पुरोहित को बताकर कहा कि– वत्स! इस

ब्राह्मण की भांति तेरे पिता भी एक वक्त ऐसी ही संपत्तिवाले थे। उसे याद करके मैं रो रही हूँ। जबकि तूने तेरे पिता ने समान गुण उपार्जन नहीं किए, इसलिए तेरे पिता की समृद्धि इस ब्राह्मण को प्राप्त हुई। 'निर्गुणी पुत्र पिता की समृद्धि को रख नहीं सकते।' यह सुनकर कपिल बोला, 'माता! मैं अब गुणों को अर्थी होकर अभ्यास करूं तो ? माता ने कहा कि, 'यहाँ तो सभी तेरे ईर्ष्यालु लोग हैं, इसलिए यहाँ तुझे कौन पढ़ायेगा ? इसलिए यदि तेरी ऐसी ही वृत्ति है तो तू श्रावस्ती नगरी में जा। वहाँ इंद्रदत्त नामका तेरे पिता का मित्र है। हे प्रिय पुत्र! ये सर्व शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण विद्या के लिए आए तुझे पुत्रसमान मानकर पितावत् प्रसन्न होकर तुझे कलापूर्ण करेंगे। तब कपिल इंद्रदत्त के पास गया और उनसे विज्ञप्ति की कि 'मुझे शास्त्राध्ययन कराओ, तुम्हारे बिना मुझे अन्य किसी की शरण नहीं है। उपाध्याय बोले– 'वत्स! तू मेरे भाई का ही पुत्र है। ऐसा विद्या का मनोरथ करके तूने तेरे पिता को लज्जित नहीं किया, परन्तु मैं तुझे क्या कहूँ ? निर्धानता के कारण मैं तेरा आतिथ्य करने में समर्थ नहीं हूँ। तू अभ्यास तो कर, परंतु नित्य भोजन कहाँ करेगा ? भोजन के बिना पढ़ने का मनोरथ व्यर्थ होगा। क्योंकि भोजन के बिना तो मृदंग भी बजता नहीं है। कपिल बोला – पिताजी! भिक्षा के द्वारा मैं भोजन की पूर्ति कर लूंगा। मुंज की कटिमेखला अथवा जनेऊ को धारण करने वाले विप्रबटुकों को 'भिक्षां देहि' इतने शब्दों से भोजन मिलना सिद्ध है। ब्राह्मण यदि हाथी पर भी चढ़ गया हो तो वह भिक्षा मांगते शरमाता नहीं है। भिक्षुक ब्राह्मण राजा की भांति कभी भी किसी के आधीन नहीं है। इंद्रदत्त बोला– वत्स! तपस्वियों को तो भिक्षा श्रेष्ठ है, किन्तु तुझे यदि एक बार भी भिक्षा न मिली तो तू अभ्यास कैसे सकेगा ? ऐसा कहकर वह इंद्रदत्त ब्राह्मण उस का हाथ पकड़ कर उसे किसी धनाढ्य शालिभद्र सेठ के ले गया एवं घर के बाहर खड़ा रहा। वहाँ 'ऊँ भूर्भव स्वः' इत्यादि गायत्री मंत्र ऊंचे स्वर से बोलकर अपना ब्राह्मण के रूप में परिचय दिया। श्रेष्ठी ने उसे बुलाकर पूछा कि 'तू क्या मांगता है ? वह बोला कि 'इस विप्रबटुक को प्रतिदिन भोजन करा दो।' श्रेष्ठा ने उसे भोजन कराना स्वीकार किया। तब कपिल शेठ के घर भोजन करके आकर इंद्रदत्त के पास आकर प्रतिदिन अध्ययन करने लगा। जब वह शालिभद्र सेठ के यहाँ भोजन करने जाता, तब उसे प्रतिदिन एक युवा दासी खाना खिलाती थी। यह युवा विद्यार्थी उपहास्य करते करते उस पर रागी हो गया है। 'युवा पुरुषों को स्त्री का सानिध्य कामदेव रूपी वृक्ष को दोहद तुल्य

होता है।' वह दासी भी उस पर अनुरक्त हो गई। अनुक्रम से वे परस्पर कामक्रीड़ा करने लगे।

(गा. 464 से 491)

एक बार अन्य पुरुष की इच्छुक नहीं होने से उस दासी ने एकान्त में आकर कपिल को कहा 'तुम्हीं मेरे प्राणनाथ हो परंतु तुम निर्धन हो,। इसलिए मैं प्राणयात्रा के लिए अन्य पुरुष को चाहूँ। कपिल ने वह स्वीकार किया। एक बार नगर में दासियों के उत्सव का दिन आया। उस समय यह दासी पुष्प पत्र आदि की चिंता से खेद करने लगी। उसे दुःखी देखकर कपिल बोला– ' हे सुंदरी! ओस बिंदु से मुरझाई कमलिनी की भांति तू निस्तेज क्यों लगा रही है? वह बोली 'कल दासियों का उत्सव है, और मेरे पास पुष्प पत्रादि कुछ भी नहीं है, इसलिए मैं दासियों के बीच उपहास का केन्द्र बनूंगी। अब न जाने मेरी क्या गति होगी? उसके कथन से दुःख रूप व्यंतर के आवेश से कपिल विवश हो गया। और अधैर्यता के कारण मौन धारण करके बैठ गया। तो वह दासी बोली हे प्रिय! तुम खेद मत करो। इस नगर के धन नामका एक श्रेष्ठी है, प्रातः काल जो प्रथम उसे जगाता है, वह उसे दो माषा सुवर्ण देता है। इसलिए रात्रि व्यतीत हो जाने से पहले तुम उनके घर जाना और वहाँ मृदु स्वर में कल्याण राग गाना।' कपिल ने वैसा करना स्वीकार कर लिया। उस रात्रि में घोर अंधकार था। उस समय उसने कपिल को श्रेष्ठी के घर भेजा। मनुष्यों का आवागमन न होने से कपिल जल्दी जल्दी चला जा रहा था। उसे चोर समझकर पुररक्षकों ने पकड़कर बांध दिया। प्रातः काल उसे प्रसेनजित राजा के पास ले गये। जब राजा ने उसे पूछा तब उसने दो माषा सुवर्ण के लिए जल्दी जाने की बात जैसी थी वैसी कह सुनाई। राजा को यह बात सुनकर उस पर बहुत दया आई और उसे बोले 'अरे द्विज! तेरी जो इच्छा हो सो मांग ले, मैं तुझे दूंगा। यह सुनकर वह बोला सोचकर मांगूगा। ऐसा कहकर कपिल वन में जाकर एकांत में एक चित्त से चिंतन करने लगा।

(गा. 492 से 503)

'यदि दो मासा सुवर्ण ही मांगूगा तो उससे तो मात्र अन्न वस्त्रादिक ही प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए राजा से सौ सौनैया मांग लू!' लोभ में पड़ने के बाद थोड़ी याचना क्यों की जाय? पुनः सोचा कि ''सौ सौनया से कोई वाहन आदि की

समृद्धि न होगी, इसलिए इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए एक हजार सौनैया मांग लू।' पुनः विचार किया कि 'एक हजार सौनैया से मेरे बच्चों के विवाहादि उत्सव कैसे होगा? अतः एक लाख सौनैया मांग लूं, क्योंकि मैं याचना करने में चतुर हूँ।' फिर सोचा कि एक लाख सोनैया से मेरे मित्र एवं सगे सम्बन्धियों साथ ही दीनजनों को उद्धार कैसे होगा? इसलिए एक करोड़ या हजार करोड़ सौनैया माँग लू।' ऐसा चिंतन करते करते किसी शुभ कर्म के उदय से उसे शुभ परिणाम वाली बुद्धि उत्पन्न हुई। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी होती है।' वह पुनः सोचने लगा कि 'अहो! दो माषा सुवर्ण से मुझे जो संतोष था, वह संतोष अभी कोटि सेनैया की प्राप्ति के विचार से मानो भयभीत हो गया हो, ऐसे मुझे छोड़ दिया लगता है। ओह! मैं यहाँ विद्या प्राप्त करने के लिए आया उसमें मुझे यह दुर्व्यसन लग गया। वह सागर की ओर जाने की इच्छावाला हिमालयीय जैसा हो गया। मुझ जैसे अधम में गुरु का ज्ञानदान, उस स्थल में कमल उगाने जैसा है। क्योंकि मैंने अकुलीन के योग्य ऐसी एक नीच दासी का भी दासपना किया है। परंतु मुझे अब इन महा दुःखदायी विषयों से क्या? ऐसा चिंतन मनन करते करते वह परम संवेग को प्राप्त हो गया और तत्काल ही उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने स्वयं संबद्ध हुआ। शीघ्र ही उसने स्वयमेव केश लोच किया और देवताओं से उसने रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका ग्रहण की, और वह राजा के पास आया। तब राजा ने पूछा 'कहो, क्या विचार किया? पश्चात् उसने अपने मनोरथ का विस्तार से कथन करके कहा जैसे जैसे लाभ होता है वैसे वैसे लोभ होता जाता है अर्थात् लाभ द्वारा लोभ में वृद्धि होती है। देखो, दो माषा सुवर्ण से सोचा कार्य कोटि सुवर्ण से भी पूर्ण नहीं हुआ। राजा विस्मित होकर बोला कि "मैं तुमको कोटि सोनैया दूंगा, इसलिए व्रत छोड़कर भोगों को भोगो। क्योंकि व्रत के फल के लिए कोई जमानत नहीं है।" कपिल मुनि बोले कि, हे राजन्! अनर्थ का ही सर्जन करने वाला ऐसे द्रव्य की मुझे आवश्यकता नहीं है। मैं तो अब निर्ग्रन्थ हो गया हूँ। इसलिए हे भद्र! आपको धर्म का लाभ हो। इस प्रकार कहकर कपिल मुनि वहाँ से निकले और निर्मम निस्पृह साथ ही निरंहकारी होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। दृढ़ता से व्रतों को पालन करते हुए उन महामुनि कपिल को छः महिने होने पर उज्ज्वल केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

(गा. 504 से 519)

राजगृही नगरी के अंतराल में अठारह योजन के प्रमाण की एक भयंकर अटवी है। उसमें कडदास के नाम से प्रसिद्ध बलभद्र आदि पाँच सौ चोर रहते थे। वे प्रतिबोध के योग्य है ऐसा कपिल मुनि को ज्ञात हुआ। इसलिए उन चोरों में से एक चोर वानर की भांति एक वृक्ष पर चढ़ा हुआ था। उसने दूर से ही उन कपिलमुनि को आते हुए देखा। तो उस चोर ने सोचा कि 'अपना पराभव करने के लिए कोई आ रहा है।'' उसने यह हकीकत सेनापति को ज्ञात कराई।' आज यह एक खिलौना आया है'' ऐसा बोलता हुआ सेनापति मुनि के पास आया। उस अज्ञ सेनापति ने आज्ञा दी कि, 'हे श्रमण! नृत्य करो।' कपिल मुनि बोले कि – 'कोई वाद्य बजाने वाला वादक नही है, तो वाद्य के बिना नृत्य किस प्रकार हो? कारण बिना कार्य होता नहीं है। पश्चात् पांच सौ चोर हाथ से तालियाँ देने लगे, तो कपिल मुनि नाचने लगे। श्रवण से सुख हो इस प्रकार उच्चस्वर से गाने लगे। '' इस नाशवंत संसार में पृथ्वी पर अनेक प्रकार के दुःख हैं, इसलिए ऐसा कार्य करूंगा कि जिससे मैं कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं करूँगा। इस अर्थ के पांच सौ ध्रुवपद कपिलमुनि ने गाकर सुनाए जो कि सर्व प्राकृत भाषा में श्रवण योग्य थे। महर्षि कपिल द्वारा गाए इन ध्रुवपदों के भिन्न भिन्न पदों से भिन्न भिन्न चोर प्रतिबोध को प्राप्त हुए। अंत में पांच सौ ही चोर प्रतिबुद्ध हो गए। तत्पश्चात् कपिल महामुनि ने उन पाँच सौ चोरों को दीक्षित किया। यह सर्व वृत्तान्त उनके ज्ञानचक्षु से दृष्टिगत ही था। ये ब्रह्मर्षि कपिल राजगृही नगरी में जाकर देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु की आज्ञा लेकर अभी आपकी नगरी को पवित्र कर रहे हैं। ये श्वेताम्बरियों में शिरोमणि हैं। वे यदि आपके पुण्योदय से इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करें तो अत्युत्तम होगा।''

(गा. 520 से 533)

तब उज्ज्ञयिनी के राजा ने कपिल केवली के पास जाकर उनसे प्रार्थना की। तब उन्होंने मंत्रित पवित्र वासक्षेप से उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। राजा ने दोनों हस्तों से उस प्रतिमा की पूजन अर्चन करके जैसे लुब्ध नर धन को रखता है वैसे उस प्रतिमा को अपने हृदय में स्थापित की। पश्चात् अनिलवेग हाथी के स्कंध पर प्रतिमा रखकर स्वयं एक सैनिक के समान उसके पीछे बैठकर उसको धारण करके, दिव्य विमान से भी अत्यधिक वेग वाले गजेन्द्र द्वारा वीतभय नगर में आकर उस प्रतिमा को उस दासी को अर्पण की। दासी ने उस प्रतिमा

को प्रत्य में रखकर पुरानी प्रतिमा को लेकर आ गई। राजा दासी सहित प्रतिमा को गजेन्द्र पर आसीन करके, स्वयं भी उस पर चढ़कर त्वरित गति उज्ञयिनी में आ गए। उस समय मानो सन्मुख आ रही हो ऐसी उज्ञयिनी नगर दिखाई दी।

(गा. 534 से 539)

किसी समय विदिशापुरी के निवासी भ्राजिल स्वामी नामक वणिक को विघ्नमाली देव से प्रकाशित गोशीर्ष चंदन की देवाधिदेव की वह प्रतिमा राजा और कुब्जा को पूजन के लिए सौंपी।'' उस विषयासक्त दंपती (चंडप्रद्योत और कुब्जा) को इतना भी बहुत है।'' एक वक्त मानो शरीर धारी कोई तेजपुंज हो, वैसे हाथ में पूजन सामग्री लेकर स्थित हुए दो पुरुष भ्राजिल को दृष्टिगत हुए। नेत्रों को सुखदाता और जन्म से ही मित्र हों, वैसे उन दोनों को अवलोकित करके भ्राजिल ने पूछा कि 'तुम कौन हो?' वे बोले 'हम कंबल और संबल नामक पातालभवनवासी नागकुमार देव हैं। धरणेंद्र की आज्ञा से विद्युन्माली देव द्वारा अधिष्ठित इन देवाधिदेव की प्रतिमा की पूजन सामग्री लेकर पूजा करने आए हैं। इस नगरी के समीप विदिशा नदी की द्रह के मार्ग से और नित्य ही हंस के सदृश मज्ञन एवं उन्मज्ञन करते हैं अर्थात् आते जाते हैं।' भ्राजिल बोला हे देवों! आज मुझे मनुष्य भव में ही तुम्हारे पाताल के भवन बताओं क्योंकि वहाँ स्थित शाश्वती प्रतिमाओं के दर्शन करने का मेरा मनोरथ है, वह आज कृपा करके पूर्ण करो, देव दर्शन कभी वृथा नहीं होता।'' देवों ने उसे स्वीकार किया। तब भ्राजिल ने जाने के उत्साह में अधूरी पूजा की। आधी शेष रखकर नदी के द्रह के मार्ग से वहाँ जाने को चल दिया। वहाँ जाकर उसने शाश्वती प्रतिमा की वंदना की। धरणेन्द्र ने संतुष्ट होकर कहा कि 'कुछ प्रसाद माँग ले।' भ्राजिल बोला– ''मेरा नाम सर्वत्र विख्यात हो जाय, ऐसा करो। ''अपने नाम को अविचल करना यहाँ पुरुषों का पुरुषार्थ है।'' तब धरणेन्द्र बोला – चंडप्रद्योत राजा तुम्हारे नाम से मानो देवनगर हो वैसा देवाधिदेव संबंधी एक नगर बसायेंगे। परंतु तुमने यहाँ आने के उत्साह में अर्ध पूजा की है, इससे यह प्रतिमा कितनेक काल तक गुप्त रीति से मिथ्यादृष्टि द्वारा पूजी जाएगी। वे उनकी नकल करके बाहर रखेंगे। और यह भ्राजिलस्वामी आदित्य है, ऐसा बोलेगे। सर्वजन 'भ्राजिलस्वामी सूर्य' इस नाम से वे कृत्रिम प्रतिमा की पूजा करेंगे।'' अच्छी तरह से योजित दंभ निष्फल नहीं जाता।'' यह सुनकर

भ्राजिल बोला– 'अरे! मेरे जैसी पापी को धिक्कार है। यह तो बहुत खराब हुआ। मैंने बहुत अशिवकारी कार्य किया है। क्योंकि मेरे निमित्त से देवाधिदेव की प्रतिमा को गुप्त करके वे दुराशयी मिथ्यात्वी मेरे नाम से सूर्य रूप से मेरी पूजा करेंगे।' धरणेन्द्र बोले हे निष्पापी! तुम क्यों शोक कर रहे हो? इस दुषम काल की लीला ही ऐसी हैं। पश्चात् नागकुमारों ने स्वप्नदर्शी के समान क्षणमात्र में जिस मार्ग से लाए थे, उसी मार्ग से वापिस भ्राजिल को उसके स्थानक पर ला दिया।

(गा. 540 से 559)

इधर वीतभय नगर में दासी प्रतिमा को बदल कर चली गई। उसके दूसरे दिन उदायन राजा नित्यकर्म में तत्पर होकर प्रातःकाल में देवालय में आए। प्रतिमा के सामने देखते ही कंठ में रही पुष्पमाला को ग्लानिसहित देखा। तत्काल उसने सोचा कि 'अवश्य ही यह प्रतिमा दूसरी है, असली नहीं है। क्योंकि उसके पुष्प तो दूसरे दिन भी मानो तत्काल के चूंटे हुए हो ऐसे लगते थे। यह क्या हुआ? फिर मानो स्तंभ पर रही हुई पुतली हो वैसे जो यहाँ सदा स्थिर रहती थी, वह दासी देवदत्ता भी यहाँ नहीं दिखाई देती, उसका क्या कारण? विचार करने पर लगता है कि ग्रीष्मऋतु में मरुवासी पंथियों के समान मेरे सर्व हाथियों का मद भी नाश हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि यहाँ अनिलवेग गंधहस्ती आया लगता है। उस अनिलवेग हाथी पर बैठकर यहाँ आकर चंडप्रद्योत राजा गत रात्रि को चोर के समान उस प्रतिमा का एवं देवदत्ता दासी का अपहरण करके ले गया है। ऐसा सोचकर तुरंत की उदायन राजा ने उस पर चढ़ाई करने की तैयारी की। मानो दूसरी जयभंभा हो वैसे अश्वों के खुरों के स्फालन से पृथ्वी को थर्राने लगे। दस मुकुटबुद्ध राजा भी उसके पीछे हो लिए। वे सर्व मिलकर ग्यारह रूद्र हो इस प्रकार महापराक्रम से सुशोभित होने लगे। वन में उदायन राजा के सैन्य पर सूर्य की तीष्ण किरण स्फुरायमान होने लगी। परस्पर स्फालन से और पृथ्वी पर गिरते हुए सैनिकों को तृषाक्रांत होने से उलूक के समान कुछ भी दिखाई नहीं दिया। तत्काल उदायन राजा ने प्रभावती देव का स्मरण किया। "व्यसन प्राप्त होने पर इष्ट देव को कौन याद नहीं करता?" स्मरण करते ही देव प्रगट हुआ और शीघ्र ही निर्मल जल के तीन सरोवर परिपूर्ण कर दिये। उसके साथ सैनिकों को भी हर्ष से भर दिया। उसका जलपान करके सैन्य स्वस्थ हुआ।" जल के बिना जीवन नहीं।' तब प्रभावती देव स्वस्थान पर चला गया एवं उदायन राजा उज्ज्ञयिनी नगरी के समीप आ पहुँचा। अल्पसमय में उदायन

राजा और चंडप्रद्योत राजा के परस्पर दूत के मुख से रथसंग्राम करने की प्रतिज्ञा हुई। धनुषधारी उदायन राजा संग्राम में रथ पर आसीन हुआ और अन्य रथवाद्य के साथ धनुष की टंकार का भी नाद किया। प्रद्योत को महसूस हुआ कि 'उदायन राजा रथ में अजेय है। अतः वह अनिलवेग हाथी पर बैठा। बलवान के सामने प्रतिज्ञा किस प्रकार रह सकती है।' उदायन राजा उसको गजारूढ़ हुआ देखकर बोला – अरे पापी! तू सत्यप्रतिज्ञ न रहा, तथापि जीवित नहीं रहने वाला।' ऐसा कहकर अपने रथ को वेग से गोलाकृति में फिराता हुआ वह महापराक्रमी उदायन राजा हंसता हंसता युद्ध करते के लिए उसके नजदीक जा पहुँचा। धनुर्धारियों में धुरंधर ऐसे उसने सुई की नोंक समान तीक्ष्ण बाणों से चारों ओर से अनिलवेग हाथी के पैर के तलियों को बींध दिया। जिससे घूमती शलाकाओं से भरे पात्र के मुख जैसे चरणों द्वारा वह हाथी चलने में असमर्थ हो गया एवं तत्काल ही वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब उदायन ने प्रद्योत को हाथी पर से नीचे गिरा कर अपनी यशराशि के तुल्य उसे हाथ से पकड़ कर बांध दिया। उस उज्ञयिनीपति के ललाट पर 'दासीपति' ये अक्षर अपनी नवीन प्रशस्ति के समान उदायन राजा ने लिखाया।

(गा. 560 से 582)

इस प्रकार दास की भांति अंकित करके वीतभय नगर का स्वामी अपनी दिव्यप्रतिमा लेने के लिए विदिशा में जहाँ रखी थी, वहाँ गया। वहाँ जाकर उस दिव्य प्रतिमा की पूजा करके नमन करके उसे लेने लगा, परंतु पर्वत की भांति वह किंचित मात्र भी चलायमान नहीं हुई। तब उदायन ने उसकी विशेष प्रकार के पूजन करके बोला कि, हे प्रभों! ऐसा क्या अभाग्य है कि आप पधारते नहीं हैं? उसके प्रत्युत्तर में उस प्रतिमा का अधिष्ठायक देव प्रतिमा में प्रवेश करके बोला कि– "हे महाशय! तू शोक मत कर तेरा वीतभय नगर रजोवृष्टि से स्थल जैसा हो जाने वाला है, अतः मैं वहाँ नहीं आ रहा।" उनके उत्तर को सुनकर उदायन वापिस लौट आया। अपने नगर में वापिस लौटते समय अंतराल में प्रयाण को अवरुद्ध करने वाली वर्षाऋतु आई। तब उदायन राजा ने मार्ग में ही नगर तुल्य छावनी डाली। "जहाँ राजागण रहते हैं, वहाँ नगर बस ही जाता है।" दस मुकुटबद्ध राजा उसकी रक्षा के लिए उसके चारों ओर धूल का किला बनाकर रहे, इससे वह छावनी दशपुर नाम से प्रसिद्ध हो गई।

(गा. 583 से 589)

उदायन राजा संग्राम में कैद करे हुए प्रद्योत राजा की भोजन आदि से अपने समान ही संभाल रखने लगा। ''क्षत्रिय का धर्म ही ऐसा है।'' अनुक्रम से पर्युषण पर्व आया, तो उदायन राजा ने उपवास किया। क्योंकि वह श्रावक था। उसकी आज्ञा से रसोइये ने प्रद्योत राजा को पूछा कि 'आज आप क्या खायेंगे? यह सुनकर उज्ञयिनी पति क्षुब्ध होकर सोचने लगे कि 'ऐसा प्रश्न आज तक तो कभी भी नहीं हुआ, यह आज ही हुआ है। अतः यह मेरे कुशलता के लिए नहीं लगता है। यह उपहास्य का वचन अवश्य ही मेरे वध या बंधन को सूचित करता है। ऐसा सोचकर उसने रसोईये से पूछा कि 'आज ऐसा प्रश्न करने का क्या कारण हैं? क्योंकि विद्या से आकर्षित होकर आती हो, उस प्रकार रसवती हमेशा ही समयानुसार आ जाया करती है।' रसोईया बोला कि राजन् आज पर्यूषण पर्व है, इसलिए हमारे स्वामी अंतपुर परिवार के साथ उपोषित रहे हैं, अर्थात् सभी ने उपवास किया है। हमेशा तो जो हमारे स्वामी के लिए रसोई होती थी, वही आपको भी खिलाते थे। परन्तु आज तो मात्र आपके लिए ही रसोई बनानी है, अतः अपको पूछा है। तब प्रद्योत ने कहा, ''हे पाचक! तो फिर आज मेरे भी उपवास ही हो, क्योंकि यह पर्व महाउत्तम कहा गया है और मेरे माता पिता भी श्रावक थे, इसलिए मुझे भी अंगीकार करने योग्य है। रसोईया ने प्रद्योतराजा ने जो कहा, वह उदायन राजा को भी बता दिया। यह सुनकर उदायन राजा बोले कि– 'यह धूर्त्तजन है, क्या तू यह नहीं जानता? परंतु वह चाहे जैसा हो तो भी कारागृह में रह कर पर्यूषण पर्व का शुभ नाम देकर आदरा है, इसलिए वह मेरा धर्मबंधु हुआ। तो उसे कारागृह में रखना योग्य नहीं है। ऐसा सोचकर तुरंत ही उदायन राजा ने प्रद्योत राजा को छोड़ दिया। पर्व की रीति के अनुसार उससे क्षमा मांगकर उसके ललाट पर जो 'दासीपति' ऐसे अक्षर लिखे थे, उसे ढंकने के लिए उसके ऊपर पट्टबंध किया। तब से राजाओं में वैभव सूचक पट्टबंध का रिवाज चालू हुआ। पहले तो वे केवल सिर पर मात्र मुकुट का ही बंध करते थे। उदायन राजा ने प्रद्योत राजा को अवंतिदेश पुनः सुपुर्द किया। वर्षाऋतु व्यतीत हो जाने पर वीतभय नगर में आ गए। उस छावणी में वणिकों ने ऐसा स्थिरवास किया कि वहाँ नगर बस गया, वह नगर दशपुर नगर के नाम से प्रख्याात हुआ। शुद्धबुद्धि संपन्न हुए प्रद्योतराजा ने वीतभय नगर की प्रतिमा के खर्च के लिए दशपुर नगर प्रदान किया एवं स्वयं उज्ञयिनी नगरी में आया।

(गा. 590 से 604)

एक वक्त विदिशा में जाकर प्रद्योत राजा ने भ्राजिलस्वामी के नाम से वहाँ देवकीय नगर बसाया "धरणेन्द्र के वचन अन्यथा नहीं होते है।" पश्चात् उसने विद्युन्माली वाली देवाधिदेव की प्रतिमा को शासन में बारह हजार गाँव प्रदान किये।

(गा. 605 से 606)

किसी समय वीतभय नगर में स्थित उदयन राजा के पास आकर प्रभावती देव ने स्नेहपूर्वक कहा कि– "हे राजन्! यहाँ जो प्रद्योत राजा ने जीवित स्वामी की प्रतिमा प्रेषित की है, वह भी सामान्य नहीं है। वह महाप्रभाविक उत्तम तीर्थस्वरूप है। वह प्रतिमा ब्रह्मर्षि महात्मा श्वेताम्बरी कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठित है। अतः इस प्रतिमा की उस प्रतिमा की भांति ही आपको पूजा करनी है एवं योग्य समय पर महाफलप्रदाता सर्वविरति को ग्रहण करना है।" उदायन ने उसकी वाणी को स्वीकार किया एवं उसके मन रूपी अंकुर में मेघ के समान वह देव अंतर्धान हो गया।

(गा. 607 से 611)

किसी समय उदायन ने धर्मकार्य में उद्युक्त होकर पौषधशाला में जाकर पाक्षिक पर्वणि में पौषध व्रत ग्रहण किया।' रात्रि जागरण में शुभध्यान घ्याते हुए उन राजा को विवेक के सहोदर समान इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि "वह गांव और वह नगर धन्य है कि जो श्री वीरप्रभु के चरणरज के पवित्र है। उन राजादिको को भी धन्य है, जिन्होंने प्रभु के मुखारविंद से धर्मश्रवण किया है, और जिन्होंने उन वीरप्रभु के चरणकमलों के सानिध्य में प्रतिबुद्ध होकर बारह प्रकार के गृहीधर्म को अंगीकरर करके कृतार्थ किया है। जिन्होंने प्रभु के प्रसाद से सर्वविरति ग्रहण की है वे श्लाघ्य और वंदनीय है। उन सबको मेरा नित्य ही नमस्कार हो। अब यदि जो स्वामी इस वीतभयनगर को अपनी विहारयात्रा द्वारा पवित्र करे तो मैं उनके चरणों में दीक्षा अंगीकार करके कृतार्थ हो जाऊँ। (प्रभु कहते हैं) हे अभयकुमार! तथा प्रकार के उनके अध्यवसाय ज्ञात होने पर, उस पर अनुग्रह करने की इच्छा से हम चंपापुरी से विहार करके उसके नगर में समवसरे। वह राजा हमारे पास आकर हमको वंदना करके, देशना श्रवण करके अपने घर गया। पश्चात् अपने विवेक गुण की योग्यता के अनुसार उसने विचार किया– 'मैं व्रत लेने का इच्छुक होकर यदि

पुत्र को राज्य देऊँ, तो मैंने उसे इस संसार रूपी नाटक का एक नाट्य किया, ऐसा कहा जाएगा। नीतिवेत्ताओं ने भी राज्य को नरकांत कहा है। अर्थात् राज्य के अंत में नरक कहा है। इसलिए मैं पुत्र को राज्य नहीं दूंगा, क्योंकि राज्य देने पर उसका हितकारी नहीं होऊंगा। ऐसा विचार करके सूर्य जैसे अग्नि को तेज अर्पण करता है वैसे ही उदायन ने अपने केशी नामक भागिनेय (भाणजे) को राज्य श्री अर्पण किया एवं जीवित स्वामी की पूजा के लिए अनेकशः गांव खाने और नगर आदि दिये। तत्पश्चात् केशी राजा ने जिनका महाभिनिष्क्रमण किया ऐसे उदायन राजा ने हमारे पास दीक्षा ग्रहण की। व्रत के दिन से लेकर छट्ठ, अट्ठम, दशम और द्वादश आदि तप करके उन्होंने अपने कर्मों की भांति अपने देह को भी शोषित कर दिया है।''

(गा. 612 से 625)

इस प्रकार वृत्तांत कहकर अंत में वीर प्रभु ने फरमाया कि– हे अभयकुमार! तृण की भांति राज्य– लक्ष्मी को छोड़कर शुद्ध साधुत्व के ग्राहक उदायन राजा अंतिम राजर्षि हैं।

(गा. 625)

दशम पर्व का एकादश सर्ग समाप्त

द्वादश सर्ग

वीतभयपत्तन में देवता द्वारा रेणुवृष्टि प्रद्योतराजा द्वारा प्रतिष्ठित जीवितस्वामी की प्रतिमा सह वीतभयनगर दब जाना, अभयकुमार की दीक्षा कूणिक चरित्र, चेटक राजा चरित्र, उदायिराजा–महावीर स्वामि के परिवार का वर्णन

अभयकुमार ने श्री महावीर प्रभु को नमन करके पुनः पूछा कि, 'हे स्वामी! राजर्षि उदायन का परिणाम क्या होगा? तब उत्कृष्ट नामकर्म की निर्जरा करने में तत्पर ऐसे श्री ज्ञातनदंन प्रभु ने प्रत्युत्तर दिया ''हे अभयकुमार! पृथ्वी पर विचरण करते से महाव्याधि उत्पन्न होगी। उनकी चिकित्सा करते हुए निष्पाप आशय वाले वैद्य उनको कहेंगे कि, 'हे गुणरत्नों के सागर! आप स्वदेह में निःस्पृह हो तथापि इस रोग की शांति के लिए दही खाओ।' पछी राजर्षि वहाँ से विहार करके किसी गायों के स्थान में आयेंगे क्योंकि वहाँ निर्दोष दधि की भिक्षा सुलभ होती है। पश्चात् वहाँ से प्रस्थान करके जहाँ अपने भाणजे केशी राजा को राज्य दिया था, वहाँ उस वीतभय नगर में आयेगें। उदायन को आया हुआ ज्ञात होने से केशीराजा के मंत्री उनको कहेंगे कि, हे राजन्! आपके मातुल उदायन अवश्य ही तप के क्षुब्ध होकर आए लगते हैं। इंद्रपद जैसे राज्य को छोड़ देने पर अवश्य ही उनको पश्चात्ताप हुआ होगा, इससे वे पुनः राज्य लेने की इच्छा से यहाँ आए लगते हैं, अतः आप उनका विश्वास मत करना। यह सुनकर केशी कहेंगे कि, ''वे अपना राज्य वापस ले तो मुझे क्या चिंता हैं? यदि धनवान अपना धन ले ले तो उसमें गोपाल किसलिए कुपित हो? तब मंत्री उसको कहेंगे कि 'हे राजन्! आपको आपके पुण्य से राज्य प्राप्ति हुई है। किसी ने दिया नहीं है, और राजधर्म भी तो वैसा ही है। क्षत्रिय तो पिता भाई, मामा मित्र या अन्य ये भी जबरन भी राज्य ले लेते हैं, तो जो प्रदत्त किया है, उसे कौन छोड़ देगा? मंत्रियों के ऐसे अत्याग्रह युक्तवचनों से केशी उदायन पर हुई भक्ति को त्याग देगा और कहेगा कि 'अब मुझे क्या करना? तब वे उदायन मुनि को विष दे देने की सलाह देंगे। तो केशी किसी पशुपालिका से उनको जहर मिश्रित दही दिला देगे। 'जो अन्य की प्रेरणा के

वशीभूत हो जाए उसमें बुद्धि कहाँ से हो?' उदायन पर भक्तिमन्त देवता उस विष का हरण कर देंगे एवं उनसें कहेंगे कि 'यहाँ आपको विषमिश्रित दही दिया जा रहा है, आप अब दही की स्पृहा न करें।' तब मुनि जो रोग था, उसमें वृद्धि होने लगेगी।' रोग भी भूत के तुल्य कुछ भी निमित्त पाकर वृद्धि करने लगता है। रोग वृद्धि हाने पर उसको निग्रह के लिए मुनि पुनः दधि ग्रहण करेगे। परंतु देवता तीन बार उसमें से विष अपहार कर देगे। एक बार वह देव प्रमाद के कारण विष हरण नहीं कर सकेगा। मुनि विष मिश्रित दही ग्रहण कर लेंगे। जब चैतन्य को चुराने वाले विष द्वारा मुनि अपने अवसान का समय जानेगे तब तत्काल ही अनशन ग्रहण कर लेगे। एक महिने पर्यन्त समाधि पूर्वक अनशन पालन करके केवलज्ञान प्राप्त करके मृत्यु के पश्चात् वह देव वहाँ आएगा। वह अवधिज्ञान से सारा वृत्तान्त जानकर काल रात्रि के समान कोपायमान हो जाएगा। और उस कोपावस्था में वह वीतभय नगर को रज के द्वारा ढक देगा। उसके पश्चात् भी वह निरंतर धूलि की वृष्टि करता रहेगा। हे महाभाग अभय! उस समय कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित वह प्रतिमा भी निधि के समान पृथ्वी में दब जाएगी। उदायन महामुनि का शय्यातर कुभार जो कि निरपराधी था, उसे वह धूलि की वृष्टि करने वाला देव वहाँ से उसका हरण करके सिनपल्ली में लाकर उसके नाम से 'कुंभकारकृत' नामका एक स्थान बसा कर वहाँ रखेगा।

(गा. 1 से 24)

यह हकीकत सुनकर अभयकुमार ने प्रभु को नमन करके पूछा कि "हे स्वामिन्! उदायन मुनि के कुमार सभीचि की क्या गति होगी? प्रभु ने फरमाया जब उदायन अपने भाणजे केशी को राज्य देगा, तब प्रभावती का पुत्र अभिचि विचार करेगा कि मेरे जैसा राज्याधिकारी और भक्तिवान् पुत्र होने पर भी पिता ने कर्ज देने के समान केशी को राज्य दिया। यह मेरे पिता का कैसा विवेक? क्योंकि केशी तो बहन का पुत्र होने से मात्र वह तो हाँ हाँ कहने का ही अधिकारी है। परंतु मेरे पिता तो स्वतंत्र है, सेवा किसलिए करूं? क्योंकि मैं तो राजपुत्र हूँ।' ऐसा सोचकर पिता से पराभव पाया हुआ वह अभिचि कुणिक के पास जाएगा। 'अभिमानी पुरुषों का पराभव होने पर विदेश गमन करना ही श्रेष्ठ है। कुणिक अभिचि का मौसी का पुत्र था, अभीचि को आया

देखकर उसका सन्मान करेगा वह वहाँ सुखपूर्वक रहेगा। साधुओं का उपासक और जीव आजीव अपने तत्त्वों के ज्ञाता अभीचि वहाँ रहता हुआ श्रावक धर्म को यथार्थ रूप से पालेगा। अनेक वर्षों तक अखंडित रूप से गृही धर्म को पालता हुआ भी अभीचि उदायन द्वारा हुए पराभव को याद करता हुआ वैर का शमन नहीं कर सकेगा। प्रांते उत्तम रीति से संलेखना करके पाक्षित अनशन की आराधना करके पिता के वैर आलोचना किये बिना मृत्यु के पश्चात् वह उत्तम देव बनेगा। वहाँ एक पल्योपम का आयुष्य निर्गमन करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर अभीचि का जीव मोक्ष में जाएगा। अभयकुमार ने पुनः पूछा, ''हे प्रभु! आपने फरमाया कि कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित वह प्रतिमा पृथ्वी में दब जाएगी, तो वह पुनः कब प्रगट होगी? प्रभु ने कहा कि सौराष्ट्र लाट और गुर्जर देश की सीमा पर एक अणहिलपुर पाटण नामक नगर बसेगा। वह नगर आर्य भूमि का शिरोमणि, कल्याणों का स्थान और अर्हत् धर्म का एक छत्र रूप तीर्थ होगा। वहाँ चैत्यों में स्थित रत्नमयी निर्मल अर्हन्त प्रतिमाएँ नंदीश्वर आदि स्थानों की प्रतिमाओं की सत्यता बता सकेगी। प्रकाशमान सुवर्णकलशों की श्रेणि से जिनके शिखर अलंकृत हैं, ऐसे उन चैत्यों से मानो सूर्य वहाँ आकर विश्रांत हुआ हो ऐसी शोभा को धारण करेगा। वहाँ प्रायः सर्व जन श्रावक होंगे, और वे अतिथिसंविभाग करके ही भोजन करेंगे। अन्यों की संपत्ति में ईर्ष्या रहित स्वसंपत्ति में संतुष्ट और सुपात्र में दान देने वाली ऐसी वहाँ की प्रजा होगी। अलकापुरी में यक्ष की भांति वहाँ अनेकों धनाढ्य श्रावक होंगे। वे अत्यंत आर्हत् बनकर सातक्षेत्रों में द्रव्य का उपयोग करेंगे। सुषमा काल के समान वहाँ के सर्व लोग परधन और परस्त्री से विमुख होंगे। हे अभयकुमार! मेरे निर्वाण के सोलह सौ गुनत्तर (१६६९) वर्ष के पश्चात् उस नगर में चौलुक्य कुल में चंद्रसमान, प्रचंड, पराक्रमी और अखंड शासनवाला कुमारपाल नामक धर्म वीर, दानवीर और युद्धवीर राजा होगा। वह महात्मा अपनी प्रजा का पिता के समान पालन करके विपुल समृद्धिवान् करेगा। सरल होने पर भी अति चतुर, शांत होने पर भी आज्ञा में इंद्र के समान और क्षमावान् होने पर भी अघष्य ऐसा वह चिरकाल तक पृथ्वी पर राज्य करेगा। उपाध्याय जैसे अपने शिष्यों को विद्यापूर्ण करते हैं, वैसे ही वह अपनी प्रजा को अपने समान ही धर्मनिष्ठ बनायेगा। शरणेच्छुकों को शरण देने योग्य और परनारी सहोदर वह राजा प्राण से और धन से भी धर्म को

बहुत मानेगा। पराक्रम, धर्म, दया, आज्ञा और अन्य पुरुषगुणों से वह अद्वितीय होगा। वह राजा उत्तर दिशा में तुरूष्क (तुर्क स्थान) पूर्व में गंगा नदी दक्षिण में विंध्यगिरि और पश्चिम में समुद्र तक पृथ्वी को साधेंगे। एक वक्त वज्र शाखा और चंद्रकुल में हुए आचार्य हेमचन्द्र उस राजा को दृष्टि गत होंगे। वह भद्रिक राजा मेघ के दर्शन से मयूर की भांति उन आचार्य के दर्शन से हर्षित होकर उनको त्वरित गति से आकर वंदन करेगा। सूरिजी जिनचैत्य में धर्म देशना दे रहे थे, उनको वंदन करने के लिए वह अपने श्रावक मंत्रियों को साथ वहाँ आएगा। वहाँ वह प्रथम देव को नमस्कार करके पश्चात् तत्त्व को न जानने पर भी वह राजा शुद्ध भाव से आचार्य को वंदन करेगा। उनके मुखारविंद से शुद्ध धर्म देशना प्रीतिपूर्वक सुनकर वह राजा समकितपूर्वक अणुव्रत (श्रावक के व्रत) स्वीकार करेगा। तब बोध को प्राप्त करके वह राजा श्रावकाचार में पारगामी होगा। राज्यसभा में बैठने पर भी वह धर्मगोष्ठी से अपनी आत्मा को अनुरंजित करेगा अर्थात् धर्म चर्चा करेगा। प्रायः निरंतर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला वह राजा अन्न शाक और फलादि संबंधी अनेक नियमों को विशेष प्रकार से ग्रहण करेगा। सद्बुद्धिशाली वह राजा अन्य साधारण स्त्रियों का तो त्याग करेगा ही परंतु अपनी धर्मपत्नियों को भी ब्रह्मचर्य पालन कर प्रतिबोध देगा। सूरिजी के उपदेश से जीव अजीव आदि तत्त्वों को ज्ञाता वह राजा आचार्य की तरह अन्यों को भी बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त कराएगा। अर्हत् धर्म के द्वेषी ऐसे पांडुरोगी ब्राह्मण भी उनकी आज्ञा के गर्भश्रावक (जन्मजात) तुल्य हो जावेगे। परम श्रावकत्व को प्राप्त करने वाले और धर्म के ज्ञाता वे राजा देवपूजा और गुरुवंदन किये बिना भोजन भी ग्रहण नहीं करेगा। वह राजा अपुत्र मृत्यु प्राप्त का भी धर्म ग्रहण नहीं करेगा। 'विवेक का फल यही है और विवेकी सदा तृप्त ही होते हैं। पांडु जैसे राजा भी जो मृगया (शिकार) छोड़ेगा नहीं उन राजाओं को वह छोड़ देगा और उसकी आज्ञा से अन्य सर्व भी छोड़ देंगे। हिंसा का निषेध करने वाला यह राजा राज्य करते हुए मृगया की बात तो दूर रही, परंतु खटमल या जूं जैसे क्षुद्र प्राणियों को अत्यज (शूद्र–चमार) आदि लोग भी मार नहीं सकेंगे। पापार्द्धि (मृगया) का निषेध करने वाले इन महान् राजा के राज्य में अरण्य में रही सर्वमृगजातियाँ गोष्ट की गायों के समान निर्विघ्न रूप से जुगाली करेंगे। शासन में पाकशासन (इंद्र) के तुल्य वह राजा सर्व जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणियों की रक्षा करने के लिए हमेशा के

लिए अमारिघोषणा करा देगे। जो जन्म से ही मांसाहारी थे, वे भी उसकी आज्ञा से दुःस्वप्न के समान मांस भक्षण की बात भी भूल जायेंगे। पूर्व में देश की रीति से श्रावकों को जिन्होंने पूर्णरीति से छोड़ा नहीं था, वैसे मद्य को यह निर्दोष राजा सर्वत्र छुड़ा देगा। वह राजा इस पृथ्वी पर मद्य को ऐसा रुंध देगा कि कुंभार भी मद्य के पात्र बनाना छोड़ देगा। मद्यपान के व्यसन से जिनकी संपत्ति क्षीण हो गई है, ऐसे पुरुष भी इन महाराजा की आज्ञा से मद्य को छोड़ देने से संपत्तिवान् होंगे। पूर्व प्राचीन समय में नल आदि राजाओं ने भी जो द्यूतक्रीड़ा को छोड़ा नहीं, वे द्यूत का नाम भी शत्रू के नाम के समान उन्मूलन कर देंगे। उसके उदयकालीन शासन चलते हुए इस पृथ्वी पर कबूतरों की पणक्रीड़ा (होड़ में परस्पर लड़ाने वाली) एवं मुर्गों के युद्ध भी नहीं होंगे। निःसीम वैभववाला वह राजा प्रायः प्रत्येक गाँव में जिनमंदिर बनवाकर संपूर्ण पृथ्वी को जिनमंदिरों से मंडित करेंगे एवं समुद पर्यन्त प्रत्येक मार्ग तथा प्रत्येक नगर में अर्हन्त प्रतिमा की रथयात्रा का महोत्सव करायेगा। द्रव्य के प्रचुर दान के द्वारा जगत् को ऋणमुक्त करके वह राजा इस पृथ्वी पर अपना संवत्सर चलाएगा।

(गा. 25 से 77)

ऐसा महान् प्रतापी कुमारपाल राजा एक बार कथा प्रसंग में गुरुमुख से कपिलमुनि द्वारा प्रतिष्ठित और राज में गुप्त हुई उस प्रतिमा ही बात का श्रवण करेंगे। तत्काल ही वे धूलि के स्थान को खुदवा कर विश्वपावनी प्रतिमा को बाहर निकलवा कर ले आने का मनोरथ करेगा। उस वक्त मन का उत्साह और अन्य शुभ निमित्तों के द्वारा वह राजा प्रतिमा को हस्तगत करने का संभव मानेगा। पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर योग्य पुरुषों की योजना करके वीतभय नगर के उस स्थल को खुदवाना प्रारंभ करेगा। उस समय परम आर्हत् जैसे उस राजा के सत्त्व से शासन देव वहाँ आकर सानिध्य करेंगे। कुमारपाल राजा के अतिपुण्य से खुदाई किये गए उस स्थल में ही तत्काल वह प्रगट को जाएगी। उसके साथ ही उस प्रतिमाजी की पूजा के लिए उदायन राजा द्वारा प्रदत्त गांवों का आज्ञा लेख भी प्रगट होगा। राजा के द्वारा नियुक्त पुरुष प्राप्त हुई उस प्रतिमा को नवीन हो वैसे यथाविधि पूजन करके रथ में पधरायेगे। मार्ग में उस प्रतिमा की अनेक प्रकार से पूजा होगी। उसके सम्मुख अहोरात्र संगीत होता रहेगा, उसके समीप गांवों की स्त्रियाँ ताली दे देकर रास करेंगी, पंचशब्द

वाजिंत्र हर्षपूर्वक बजेंगे। उसके दोनों ओर चामर बींजते रहेंगे। इस प्रकार खूब धामधूम से उस प्रतिमा को रक्षकजन पाटण की सीमा में लावेंगे। यह हकीकत श्रवण करके अतःपुर, परिवार के सहित चतुरंग सेना से परिवृत्त कुमारपाल राजा सर्व संघ के साथ उस प्रतिमा के सन्मुख जायेगे। वहाँ जाकर उस प्रतिमा को अपने हाथों से रथ में से उतारकर हाथी पर आसीन करके महामहोत्सव के साथ अपने नगर में प्रवेश करायेंगे। अपने राजभवन के समीपस्थ क्रीड़ाभवन में स्थापित करके उसकी विधिपूर्वक त्रिकाल पूजा करेगे। पश्चात् उस प्रतिमा के लिए उदायन राजा ने जो आज्ञा लेख लिखा था, उसका वांचन करके उसके प्रमाणानुसार सब कार्य करेंगे। निष्कपटी कुमारपाल राजा उस प्रतिमा की स्थापना करने के लिए एक स्फटिकमय प्रासाद बनायेंगे। मानो अष्टापद पर स्थित प्रसाद का युवराज हो वैसे, उस प्रासाद को देखने मात्र से जगत् को विस्मित करेगा। पश्चात् वह प्रासाद में उस प्रतिमा की स्थापना करेगा। इस प्रकार प्रतिष्ठापित उस प्रतिमा के प्रभाव से कुमारपाल राजा प्रतिदिन प्रताप संमृद्धि और आत्मकल्याण में वृद्धिंगत होता रहेगा। हे अभयकुमार! देव और गुरु की भक्ति द्वारा यह कुमारपाल राजा इस भारतवर्ष में तुम्हारे पिता को सदृश होगा।''

(गा. 78 से 96)

इस प्रकार श्री वीरप्रभु के श्रीमुख से श्रवण करके अभयकुमार प्रभु को नमन करके श्रेणिक राजा के समक्ष आकर कहने लगा कि– ''हे पिताश्री यदि मैं राजा बनूंगा तो फिर मुझ से मुनि जीवन नहीं ग्रहण नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि श्री वीर प्रभु ने उदायन राजा को अंतिम राजर्षि कहा है। श्री वीर परमात्मा सदृश स्वामी को पाकर और आपके पुत्रत्व को प्राप्त करके यदि मैं इस भवदुःख का छेद न करूं तो मुझ जैसा अन्य कौन पुरुष अधम कहा जाएगा? हे तात! मैं नाम से ही अभय हूँ, परंतु भव भय से सभय हूँ। इसलिए यदि आज्ञा दें तो मैं भी तीन भुवन को अभ्य देने वाले श्री वीरप्रभु का आश्रय करूँ। अभिमान रूपी सुख के हेतुभूत ऐसे राज्य से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। कारण कि महर्षियों ने संतोष को ही श्रेष्ठ सुख कहा है।'' इस प्रकार अभय कुमार के वचन सुनकर श्रेणिक ने राज्य लेने के लिए उसे आग्रह से कहा। तब भी जब उसने राज्यग्रहण नहीं किया, तब अंत में राजा ने हर्ष से अभयकुमार को

व्रत लेने की आज्ञा दी। पश्चात् संतोष सुख के शत्रु जैसे राज्य को तृण के समान छोड़कर अभयकुमार ने श्री वीर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। जब अभयकुमार ने व्रत ग्रहण किया, तब उसकी माता नंदा में भी श्रेणिक राजा की आज्ञा लेकर श्री वीर प्रभु के चरणों में आकर दीक्षा ली। अभय और नंदा ने दीक्षा लेते समय दिव्य दो कुंडल और दिव्य वस्त्रयुग्म जो पूर्व में श्रेणिक द्वारा प्रदत्त थे, वे हल्ल और विहल्ल को प्रदान कर दिये।

(गा. 97 से 105)

सुर असुरों से सेवित होने पर भी श्री वीर प्रभु ने भव्य जनों को प्रतिबोध करने के लिए वहाँ से अन्यत्र विहार किया। अभयकुमार विविध प्रकार के अभिग्रह पूर्वक चिरकाल तक चारित्र की परिपालना करते हुए मृत्यु के पश्चात् सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्तम देवरूप में उत्पन्न हुए।

(गा. 106 से 107)

जब अभयकुमार ने श्री वीरप्रभु के पास दीक्षा ली तब शुद्ध बुद्धि वाले मगधपति श्रेणिक राजा ने इस प्रकार चिंतन किया कि ''अभयकुमार मेरे सर्वकुमारों में गुणों में भूमि रूप था, उस सुकृति ने तो व्रत अंगीकार करके अपना स्वार्थ सिद्ध का लिया, तो अब पराक्रमी और आयुष्मान् किसी कुंवर पर इस राज्य का भार सौंपना चाहिये। क्योंकि 'नृपतियों का यह क्रम चला आ रहा है।' सुगुण हो या निर्गुण परंतु पुत्र ही पिता की संपत्ति का अधिकारी होता है। परंतु यदि पुत्र गुणवान हो तो पिता का पुण्य उज्ज्वल गिना जाता है। अभयकुमार के बिना अब मेरे विश्राम का धाम मात्र मेरा गुणी पुत्र कुणिक है। यही राज्य के योग्य है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी राज्य के योग्य नहीं है।'' ऐसा निश्चय करके कुणिक को राज्य देने का निर्धार करके श्रेणिक ने हल्ल–विहल्ल को अठ्ठारह चक्र का हार और सेचनक नामक हाथी दे दिया। यह देखकर कुणिक कुमार ने अपने काल आदि दस बंधुओं को एकत्रित करके कहा पिता जी वृद्ध हो गए अभी राज्य को तृप्ति नहीं हुई। पुत्र जब कवचधारी हो जाए तब राजागण व्रत ग्रहण कर लेते हैं। अपने ज्येष्ठ अभयकुमार बंधु को धन्य है जिन्होंने युवा होनेपर भी राज्यलक्ष्मी को के ठुकरा दी। परंतु अपने विषयांध पिता तो अद्यापि राज्य भोग करते हुए कुछ भी नहीं देख रहे हैं। अतः आज ही इस पिता को बंध करके अपन समय के योग्य राज्य ग्रहण

करें। इसमें अपने को कुछ भी अपवाद नहीं लगेगा। क्योंकि वे विवेक विकल हो गए हैं। पश्चात् अपन राज्य को ग्यारह भागों में बांट कर भोगेंगे। उसके पश्चात् अपना बंदीखाने में पड़ा पिता सैंकड़ों वर्षों तक भले क्यों न जीए?" ऐसा विचार करके उन्होंने अपने विश्वासी पिता को एक दम बांध लिया। दुष्ट पुत्र घर में उत्पन्न होने पर भी विषवृक्ष जैसा ही है।"

(गा. 108 से 119)

कुणिक ने श्रेणिक को शुकपक्षी भांति पिंजरे में डाल दिया। विशेष उसको खान–पान भी नहीं दिया। इतना ही नहीं वह पापी कुणिक पूर्वभव के वैर से प्रतिदिन प्रातः और सायं उनको सौ सौ चाबुक मारता था। दैव ने सिर पर डाली इस दुर्दशा को श्रेणिक भोग रहा था। क्योंकि "गजेन्द्र समर्थ हो तो भी बेड़ियों से बद्ध होने पर क्या कर सके?" कुणिक श्रेणिक के पास किसी को भी जाने नहीं देता मात्र मातृत्व के दाक्षिण्य से चेल्लणा को जाने से निवार नहीं सकता था। चेल्लणा प्रतिदिन सौ बार घोई सुरा से स्नान करके जाने की त्वरा से आर्द्र केशों से ही श्रेणिक के पास बारबार जाती थी एवं अपने केशपाश में पुष्पगच्छ के समान कुल्माष (उड़द) का एक पिंड गुप्त रीति से रखकर यह पतिभक्ता रमणी श्रेणिक को दे देती थी। दुःप्राप्य ऐसा उस कुलमाष का पिंड मिलने पर राजा उसे दिव्य भोजन समान मानता था एवं उस पिंड से अपनी प्राणयात्रा करता था। क्योंकि "क्षुधा नामक रोग अन्नरूप औषध बिना मृत्यु का वरण करता है।" पश्चात् चेल्लणा सौ बार धोई सुरा के बिंदु केशपाश में से नेत्र के अश्रुबिंदु के साथ झारती थी। तथा उस सुरा के बिंदुओं का मेघबिंदु का चातक पान करे वैसे श्रेणिक तृषित होकर पान करता था। इस बिंदुमात्र सुरा के पान करने से राजा चाबुक की मार को भी वेदता नहीं था, साथ ही तृषा से पीड़ित नहीं होता था।

(गा. 120 से 130)

इस प्रकार श्रेणिक राजा को बांधकर उग्ररूप से राज्य करते हुए कुणिक की पद्मावती नामकी रानी से एक पुत्र हुआ। उसकी बधाई लेकर आए दास–दासियों को कुणिक ने वस्त्राभरण से आच्छादित करके कल्पलता के समान कर दिया। तत्पश्चात् स्वयं ने अंतःपुर से जाकर पुत्र को हाथ में लिया। उसके कर कमलों में स्थित वह बालक हँस शावक के सदृश शोभने लगा। नयन रूप

कमल को सूर्य की भांति उस पुत्र को निहारते हुए कुणिक परम आनंद में निमग्न होकर एक श्लोक का उच्चारण करने लगा, जिसका भावार्थ ऐसा था कि– "हे वत्स! तू मेरा अंगजात है और मेरे हृदय से निर्मित है, अतः मेरी आत्मा के समान है, इसलिए तू शतजीवी हो" इस प्रकार बारम्बार यह श्लोक बोलने पर भी वह विश्रांत नहीं हुआ। अर्थात् उस श्लोक के मिष से हृदय में नहीं समाते हर्ष का वमन करने लगा। कुमार के रक्षण में चतुर वृद्ध स्त्रियाँ राजा के हाथ से सूतिका गृह की शय्या में ले गई। राजा ने पुत्र का जातकर्म महोत्सव किया एवं श्रावक जैसे ब्राह्मणों के यथारूचि दान दिया। शुभ दिन में कुणिक ने महामहोत्सव से उस पुत्र का "उदायी" नामकरण किया। सुवर्ण सम कांतिवाले वह कुमार दिनोंदिन रक्षकों से रक्षित होता हुआ उद्यान के वृक्षों के समान वृद्धि को संप्राप्त होने लगा। कुमार को कटिस्थल पर बिठाकर निरन्तर भ्रमण करता हुआ कुणिक पुतलीवाले स्तंभ की भांति लगता। हकालाबाला शब्दों से कुमार को बुलाता हुआ कुणिक बोलने में अज्ञान ऐसे शिशु की शोभा को धारण करता था। उठते, बैठते चलते सोते भोजन करते समय अंगुलियों में मुद्रिका के समान राजा उसे हाथों से छोड़ता ही नहीं था।

(गा. 131 से 143)

एक वक्त वह अपनी वामजंघा पर पुत्र को बिठाकर भोजन करने बैठा था, उसने आधा भोजन किया ही था कि इतने में उस शिशु के मूत्रोत्सर्ग किया। तब घी का धार के समान उसके मूत्र की धार भोजन पर गिरी। 'पुत्र के पेशाब के वेग का भंग न हो' ऐसा सोच कर कुणिक ने अपनी जंघा को किंचित्मात्र भी नहीं हिलायी।" पुत्र वात्सल्य ऐसा ही होता है।" परंतु मूत्र से आर्द्र हुआ अन्न अपने हाथ से दूर करके शेष बचा अन्न उसी थाली में वह खाने लगा। पुत्र के प्रेम से वह भोजन भी उसे सुखदायक लगा। इस समय उसकी माता चेल्लणा पास में ही बैठी थी। उसको कुणिक ने पूछा कि– "हे माता! किसी को अपना पुत्र ऐसा प्रिय था या अभी होगा?" चेल्लणा बोली "अरे पापी! अरे राजकुलाधम! तू तेरे पिता को इससे भी अधिक प्यारा था, क्या तू यह नहीं जानता? मुझे दुष्ट दोहद होकर तू जन्मा था। इसी से तू तेरे पिता का बैरी हुआ है। सगर्भा स्त्रियों को गर्भ का अनुसार ही दोहद होते हैं। गर्भस्थ ही तू तेरे पिता का वैरी है, ऐसा जानकर मैंने पति के कल्याण की

इच्छा से गर्भपात करने के अनेक प्रयत्न किये, तथापि तेरा उन औषधियों से नाश नहीं हुआ, बल्कि पुष्ट हो गया था। 'बलवान पुरुषों को सर्व वस्तु पथ्य हुई।' तेरे पिताने 'मैं पुत्र का मुख कब निहालू? ऐसी आशा से मेरे दुष्ट दोहले को भी पूर्ण किया था। पश्चात् जब तेरा जन्म हुआ तब तुझे पिता का बैरी समझकर मैंने तेरा त्याग कर दिया था। परंतु तेरे पिता अपना जीवितव्य की भांति तुझे वापिस ले आए थे। जब तेरा त्याग कर दिया तब उस समय मुर्गी के पंख से तेरी अंगुली बिंध गई थी। वह पक गई तब उसके अंदर जीव पड़ने से तुझे अत्यन्त पीड़ा होती थी। उस समय तेरी अंगुली को पिता मुख में रखते, उस समय तुझे उससे सुख होता था। अरे दुष्ट चारित्रवाले! इस भांति ही पिता ने तेरा महाकष्ट भोगकर भी लालन पालन किया था। उसके बदले में तूने अभी ऐसे उपकारी पिता को कारागृह में डाल दिया है।'' कुणिक बोला– ''माता! मेरे पिता ने मुझे गुड़ के मोदक भेजे थे और हल्ल विहल्ल को खांड के भेजे, उसका क्या कारण था? चिल्लणा बोली – ''हे मूढ! तू तेरे पिता का द्वेषी है, ऐसा जानकर मुझे अनिष्ट हो गया था, इसलिए गुड़ के मोदक तो मैंने भेजे थे'' इस प्रकार खुलासा होने पर कुणिक बोला कि – अविचारित कार्य करने वाले मुझे धिक्कार हो।'' परंतु अब मैं जैसे थापण रखी वस्तु वापिस लौटा देते हैं, वैसे ही मैं भी अपने पिता को राज्य पुनः लौटा दूंगा।'' ऐसा कहकर अर्द्ध भोजन किया हुआ उसी स्थिति में पूरा भोजन करने के लिए भी न रुककर आचमन लेकर धात्री को पुत्र सौंपकर पिता के पास जाने की उत्सुकता से उठ खड़ा हुआ एवं वहाँ जाकर 'मेरे हाथों से ही पिता श्री के चरण की बेड़ी तोड़ डालूं'' ऐसा विचार कर एक लोहदंड उठाकर वह श्रेणिक के पास जाने के लिए दौड़ा।

(गा. 144 से 162)

कुणिक ने श्रेणिक के पास रखे पहरेदार पूर्व के परिचय से कुणिक के पास आए थे, उस समय कुणिक को जल्दी जल्दी आता देखकर आकुल व्याकुल होकर इस प्रकार बोले– ''अरे राजेन्द्र! साक्षात् यमराज का लोहदंड धारण करके तुम्हारा पुत्र जल्दी–जल्दी इधर आ रहा है। वह न जाने क्या करेगा? यह हम तो कुछ नहीं जानते हैं? यह सुनकर श्रेणिक ने विचार किया कि ''आज तो अवश्य यह मेरे प्राण ही ले लेगा, क्योंकि आज तक तो वह हाथ में चाबुक लेकर आता था, और आज तो लोहदंड लेकर आ रहा है। और फिर मैं जान भी नहीं सकता कि वह मुझे कैसी कुत्सित मार से मार डालेगा! इसलिए वह आवे नहीं तब तक मुझे

मरण का शरण करना ही योग्य है।'' ऐसा विचार करके उसने तत्काल ही तालपुट विष जिह्वा के अग्रभाग पर रखी, जिससे मानो आगे ही प्रस्थान करना हो वैसे उनके प्राण शीघ्र ही निकल गये।

(गा. 163 से 167)

कुणिक समीप आया, वहाँ तो उसने पिता को मृत पाया। तब शीघ्र ही उसने छाती कूटकर पुकारते हुए विलाप करने लगा कि – ''हे पिता! मैं ऐसे ऐसे पापकर्म से इस पृथ्वी पर अद्वितीय पापी हुआ हूँ। जाकर मैं पिता को खमाऊँ' ऐसा मेरा मनोरथ भी अभी पूर्ण हुआ नहीं, अतः अभी तो मैं अति पापी हूँ। पिताजी! आपकी कृपा वचन तो दूर रहा, परंतु मैं तो आपके तिरस्कार भरे वचन भी नहीं सुन सका। बहुत बड़ा दुर्दैव मेरे बीच में आ पड़ा। अब भृगुपात, शस्त्र, अग्नि या जल में मरना ही मेरे लिए युक्त है।'' इस प्रकार अतिशोक में ग्रसित हुआ कूणिक मरने के लिए तैयार हुआ। परंतु ऐसा करने से मंत्रियों ने उसे रोका। तब उसने श्रेणिक के देह का अग्नि संस्कार किया।

(गा. 168 से 173)

राज्यक्षमा (क्षय) की व्याधि के समान दिनों दिन अत्यन्त शोक से राजा को देखकर मंत्रिगण चिंतन करने लगे कि– 'अवश्य ही अपने राजा ऐसे अत्यंत शोक से मृत्यु को प्राप्त हो जाऐगे एवं समग्र राज्य का विनाश हो जाएगा। इसलिए कुछ पितृभक्ति के मिष से उसका कुछ उपाय करना चाहिए ऐसा सोचकर उन्होंने किसी जीर्ण ताम्रपत्र में ऐसे अक्षर लिखें कि 'पुत्र प्रदत्त पिंडादिक मृत पिता भी प्राप्त कर सकता है।' तब वह ताम्रपत्र उन्होंने राजा को वांचन करके सुनाया, इससे ठगकर राजा ने पिता को पिंडादि दिए। तब से ही पिंडदान को प्रचार का प्रवर्तन हुआ।

(गा. 174 से 177)

'मेरे द्वारा प्रदत्त पिंडादिक को मेरे पिता भोग रहे है' ऐसी मूढ बुद्धि से रसविक्रिया को ज्वराक्रान्त के समान राजा ने शनैः शनैः शोक को छोड़ दिया, तो भी किसी किसी समय पिता की शय्या और आसन आदि दृष्टिगत होने पर सिंहावलोकन न्याय से पुनः उसके हृदय में शोक उत्पन्न हो जाता था। गलोसत्त्व के भोथा के सदृश बार बार शोकाक्रान्त होने पर वह राजगृह नगरी

में रहने में अशक्त हो गया। तब मैं यहाँ से अन्यत्र शहर बसाऊँ' ऐसा विचार करके उसने उत्तम भूमि शोध के लिए वास्तुविद्या में चतुर पुरुषों को आदेश दिया। उन उत्तमवास्तुवेत्ताओं ने भूमि शोध के लिए भ्रमण करते हुए एक स्थान पर विशाल चंपक का वृक्ष देखा। उसे देखकर वे विचार करने लगे कि " ऐसा वृक्ष किसी भी उद्यान में नहीं है, यहाँ कोई पानी की नीक भी नजर नहीं आ रही, साथ ही इसके नीचे क्यारी में जल भी नहीं है। इस उपरान्त भी यह ऐसा अद्भुत किस प्रकार हो गया होगा? अहो! उसकी शाखाए कितनी विशाल है? पत्रलता कैसी अद्भुत है। नव पल्लव कैसे खिल हैं? पुष्पों की सुगंध आ रही है? छत्र का भी पराभव करे ऐसी कैसी सरस शीतल छाया है? अहो! इसके नीचे विश्राम करने की भी कैसी योग्यता है? इसका सबकुछ कितना सुंदर है? शोभा के स्थान स्वरूप यह चंपकवृक्ष जितना स्वभाव से ही रमणीय है, वैसा यहाँ यदि नगर बसाया जाय तो वह भी रमणीय ही होगा। ऐसा विचार करके उन्होंने राजा के समक्ष आकर कहा कि "जैसा वह चंपक वृक्ष शोभा दे रहा है, वैसा ही वहाँ नगर भी शोभनीक होगा, ऐसा मानो कोल मिलने पर विश्वास आता है, इसलिए वह स्थान नगर बसाने के योग्य है। "पश्चात् राजा ने चंपकवृक्ष के नामानुसार चंपा नगरी वहाँ अत्यन्त वेग से बसाली।" राजाओ को वचन से कार्य सिद्धि हो जाती है।" तत्पश्चात् कुणिक अपने भ्राता गण के साथ चारों प्रकार का लश्कर बलवाहन आदि लेकर चंपापुरी में आकर पृथ्वी पर राज्य करने लगा।

(गा. 178 से 189)

एक वक्त हल्ल और विहल्ल नामके अपने दोनों देवरों को सचेनक हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य कुंडलों से मंडित तथा दिव्य हार और दिव्यवस्त्र धारण करके अद्भुत शोभा के द्वारा मानों पृथ्वी पर देव अवतरित हुए हो, ऐसे उनको देखकर कुणिक राजा की स्त्री पद्मावती स्त्रीत्व के योग्य विचार करने लगी कि, 'ऐसे दिव्य वस्त्र, हार, कुंडल और सेचनक हस्ति के बिना मेरे पति का राज्य नेत्र बिना का मुख सदृश है।" तब उसने हल्ल विहल्ल के पास से दिव्य हार आदि लेने का अपने पति से आग्रह किया। तब कुणिक ने उसे कहा कि "हल्ल विहल्ल को जो पिता ने दिया है, उसे लेना योग्य नहीं है। और फिर पिता के स्वर्गगमन के पश्चात् तो ये दोनों से मेरे द्वारा और अधिक प्रासाद के योग्य

है।'' तथापि रानी ने अत्यन्त आग्रह किया तब राजा ने हार मांगना कबूल किया। ''स्त्रियों का आग्रह मकोड़े की पकड़ से भी अधिक है।''

(गा. 190 से 195)

अन्यदा कुणिक ने हल्ल विहल्ल के पास से सौभ्रातृत्व छोड़कर उन हार आदि चार वस्तुओं की माँग की। तब 'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर वे दोनों अपने घर गए। पश्चात् वे दोनों बुद्धिजीवी भाई विचार करने लगे कि 'कुणिक का यह अभिप्राय अच्छा नहीं है, परन्तु इससे अपने को क्या प्रयोजन है। अपने को यहाँ से अन्यत्र चले जाना चाहिए। ''पराक्रमियों का सर्वत्र श्रेय होता है'' ऐसा निश्चय करके वे हल्ल विहल्ल अपना अंतःपुर और दिव्य हार आदि लेकर रात्रि में ही वहाँ से वैशाली की ओर प्रस्थान कर दिया। वैशाली में उनके मातामह (नाना) थे। वहाँ उन्होंने स्नेह से आलिंगन करके उनका सत्कार किया एवं युवराज के समान अपने पास में रखा।

(गा. 196 से 201)

प्रातः काल में कुणिक को जब विदित हुआ कि हल्ल विहल्ल तो धूर्त के समान उसे धोखा देकर वैशाली चले गए हैं। तब दाढी पर हाथ रखकर चिंतन करने लगा कि 'अहो! मेरे तो हस्ति आदि रत्न भी न रहे और दोनों भ्राता भी न रहे। स्त्री की प्रधानता से अर्थात् उसके कहे अनुसार वर्तन से तो मैं उभय भ्रष्ट हुआ। जो बना सो ठीक। परंतु अब ऐसा कष्ट प्राप्त होने पर भी यदि मैं उनको वापिस लौटा न लाऊँ, तो ऐसे पराभव को सहन करने वाले मुझ में और वणिक् में क्या फर्क रहा? ऐसा विचार करके किसी दूत को समझाकर वैशाली नगर में चेटक राजा के पास रत्न लेकर आए अपने भाईयों की माँग करने के लिए भेजा। वह दूत वैशाली नगर में पहुँच कर चेटक राजा की सभा में गया और चेटक राजा को प्रणाम करके आसन पर बैठकर सभ्यता पूर्वक बोला कि ''हे राजन्! यहाँ हल्ल विहल्ल कुमार गजादिक रत्न लेकर भाग आए है। उनको आप हमारे स्वामी कुणिक को सौंप दीजिए। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो आप राज्यभ्रष्ट हो जायेगे। एक कीलिका के लिए सम्पूर्ण देवालय तोड़ने जैसा करना आपको योग्य नहीं है।'' चेटकराजा बोले कि ''यदि अन्य कोई शरण में आया हो तो भी उसे तुझे सौंपता नहीं, और यह तो मेरा दोहित्र है, जो कि मुझ पर विश्वासु है और मुझे पुत्रवत प्रिय है, उसे मैं किस प्रकार सौंप सकता हूँ?'' दूत बोला कि–

''वे आपकी शरण में आए तो उनको न सौपों तो चले, परंतु उनके पास से रत्न लेकर मेरे स्वामी को अर्पित कर दो।' चेटकराज बोले कि, ''अरे दूत! राजा और रंक का ऐसा समान धर्म है कि दूसरे के वित्त को देने का अन्य मनुष्य कभी भी सत्ता रखता नहीं है। फिर बलात्कार या समझाकर भी मैं उनके पास से ले सकूँ वैसा भी नहीं है, क्योंकि कि वे मेरे धर्म पात्र दोहित्र होने से दान देने योग्य है।'' ऐसा उत्तर सुनकर दूत वहाँ से पुनः लौटकर चंपानगरी में आ गया और चेटकराजा कथित जवाब अपने स्वामी को कह सुनाया कि जो उनके क्रोध रूपी अग्नि में वायु के समान हो गया।

(गा. 202 से 212)

कुणिक ने तत्काल ही चेटकर राजा पर चढ़ाई करने के लिए जय भंभा बजा दी। ''महापराक्रमी वीर सिंह के समान अन्य के आक्षेप को सहन नहीं कर सकते।'' भंभानाद श्रवण करके असामान्य तेजवाले कुणिक राजा के सैनिक सर्व प्रकार से सज्ज हो गये। काल आदि दस बलशाली कुमार (कुणिक के भाई) सर्व रीति से सज्ज होकर सैन्य के आगे हो गए। उन प्रत्येक कुमार के साथ तीन तीन हजार हाथी, उतने ही अश्व, उतने ही रथ और तीन कोटि पायदल का सैन्य तैयार हो गया। यह कुणिक का प्रभुत्व था। ऐसे विशाल सैन्य के साथ चंपापति चेटक के सन्मुख आया। उसके सैन्य के प्रयाण से पृथ्वी और सूर्य दोनों ढंक गये। राजा चेटक ने अपरिमित सैन्य से कुणिक के सामने तैयारी की। अठारह मुकुटबद्ध राजा उसके चारों ओर घिर गये थे। इस प्रकार चेटक का सैन्य भी कुणिक के सैन्य के जितना ही था। चेटक राजा विशाला से चलकर अपने देश की सीमा पर आ डटा। सामने सैन्य आ मिलनें पर अपने सैन्य में दुर्भेद्य सागर व्यूह की रचना की। चंपापति कुणिक ने भी पूर्व के वचनानुसार अपने सैन्य द्वारा शत्रु सेना से अभेद्य गरुड़ व्यूह की रचना की। दोनों सेना की ध्वनि से आकाश और अंतरीक्ष को पूरित करते हजारों घोर सैन्य वाजिंत्र बजने लगे, एवं दोनों सेना में कीर्ति के स्तंभ के सदृश स्तब्ध करते और सेवकों द्वारा प्रचलित करे खर द्वारा शंखवादक धूमने लगे।

(गा. 213 से 225)

प्रथम कुणिक के सैन्य नायक कालकुमार ने चेटकराजा की सेना के साथ में युद्ध करने की शुरूआत की। तब गजारुढ–गजारुढ़ से सवार सवार से

रथी से रथी और पत्ति से पत्ति युद्ध करने लगे। भालाओं के घात से गिरते हाथियों और घोडे द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी, पर्वत और शिलाएँ वाली हो, ऐसी दृष्टिगत होने लगी। भग्न रथ और हनन किये हुए वीरों द्वारा रुधिर की नदियाँ जलमानुष और बेटोवाली हो, वैसी दिखने लगी। उस समय रणागंण में वीरकंजुरों के स्फुरायमान हुए खड्गों से मानो असिपत्र का वन प्रकट हुआ दिखाई देने लगा। खड्गों से कटकर उछलते शूरवीरों के कर कमल लेकर मांसभक्षी राक्षस कर्ण के आभूषण का कौतुक पूर्ण करते थे एवं सुभटों के मस्तक खड्ग धारा से अलग करते हुंकार करके मानो अपने धड़ से लड़ने की आज्ञा करते हों, ऐसा ज्ञात होता था। इस प्रकार समुद्र का जहाज द्वारा अवगाहन करते हों, वैसे कालकुमार सागरव्यूह का अवगाहन करके उसका पार पाया हो वैसे चेटक राजा के पास आया। जब काल जैसा कालकुमार अकाल में अपने पास में आया तब चेटकराजा ने विचार किया कि, वज्र के समान इस कुमार को कोई भी स्खलित कर सका नहीं, इसलिए यह सन्मुख आते हुए काल कुमार कि जो रणमय सागर में मंदरगिरि जैसा है, उसका मैं इस दिव्य बाण से क्षण में निग्रह करूं, ऐसा विचार करके प्राणरूप धन को चोरने वाला एक बाण छोड़कर चेटक ने काल कुमार को तत्काल ही पंचत्व में पहुँचा दिया। उस समय कालकुमार की भांति सूर्य भी अस्त हो गया और चंपापति का सैन्य जैसे शोकग्रस्त हुआ वैसे सम्पूर्ण जगत् भी अंधकार से ग्रस्त हो गया। उस रात्रि में चंपापति का सैन्य युद्ध छोड़ देने पर भी जागृत ही रहा। क्योंकि अभक्त स्त्रीवाले पुरुष के समान सिर पर वैर वाले पुरुष को निद्रा कहाँ से आवे ? चेटकराजा के सैन्य में उसके सुभटों ने वीरजयंती करके वाजिंत्रों के नाद द्वारा आनंद में निशा निर्गमन की।

(गा. 226 से 239)

दूसरे दिन चंपापति कुणिक के सेनापति के पद पर काल के लघु भ्राता महाकाल का अभिषेक किया। उसे भी चेटक राजा ने काल के सदृश ही मार डाला। इस प्रकार सेनापति के पद पर आए श्रेणिक राजा के अन्य आठ कुमारों को भी चेटक राजा के एक एक दिन में ही मार डाला। इसी भांति जब अपने समान काल आदि दस कुमारों को मरण देखकर कुणिक ने विचार किया कि 'देवता के प्रासाद से एक बाण के द्वारा ही चेटक राजा सर्व को जीत लेता है, तो उसे कोटि मनुष्यों से भी जीतना शक्य नहीं है। मुझे धिक्कार है कि, चेटक

राजा का ऐसा प्रभाव जाने बिना ही देव तुल्य मेरे दश भाईयों को मैंने मरवा डाला। अब यदि युद्ध किया तो जो गति उनकी हुई, वैसी ही मेरी भी होगी। इसलिए युद्ध करना अब योग्य नहीं है। इसी प्रकार अब भ्रातृवध देखकर मेरा पीछे हठ करना भी उपयुक्त नहीं है। अतः अब मैं भी देवता की आराधना करके उसके प्रभाव से शत्रु को जीत लूँ।'' दिव्य प्रभाव, दिव्य प्रभाव द्वारा ही बाधित होता है। ''ऐसे उपाय का चिंतन करके हृदय में किसी देव का ध्यान करके श्रेणिक कुमार कुणिक अट्ठम भक्त में स्थित हुआ। पूर्व जन्म के तप से एवं इस जन्म का तप सम्मिलित होकर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र उसके प्रभाव से तत्काल ही वहाँ आए। उन्होंने कुणिक से कहा कि, हे भद्र! क्या इच्छा है? वह बोला– 'यदि आप प्रसन्न हुए हो तो चेटक राजा का हनन कर डालो।' शक्रेन्द्र ने उसे पुनः पुनः कहा कि– इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मांग लो। यद्यपि चेटकराजा श्रावक होने से मेरे साधर्मिक हैं। इसलिए उसका हनन मैं कदापि नहीं करूंगा। तथापि मैं तेरे देह की रक्षा करूँगा कि जिससे उससे तू जितेगा नहीं। कुणिक ने एवमस्तु कहकर उस बात को स्वीकार किया। पश्चात् चमरेन्द्र ने महाशिला कंटक एवं रथमूसल नामक दो विजयदायक संग्राम करने को कहा। पहले महाशिलाकंटक नामक संग्राम में दुश्मन की ओर से महाशिला आवे तो वह विशाल शस्त्र से भी अधिक हो जाती है और दूसरे रथमूसल संग्राम में चारों ओर धूमने जैसा होता है, जिसमें चारों तरफ सर्वत्र संग्राम करने उठा हुआ शत्रुओं का सैन्य दृष्टिगत हो जाता है। पश्चात् सुरेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र (कुणिक) ने मिलकर चेटक राजा के सैन्य के सैन्य के साथ युद्ध प्रारंभ किया। उस समय नागरथी का पौत्र वरूण, जो कि श्रावक के द्वादश व्रत का पालक, सम्यग्दृष्टि और छठ छठ से भोजन करने वाला, संसार से विरक्त और राजाभियोगी छट्ठ के अंत में भी अट्ठम कर्ता था। उसकी चेटक राजा ने अत्यन्त प्रार्थना करके अर्थात् उसे रथमूसल नामक दुःसह संग्राम में सत्य प्रतिज्ञा लेकर सेनापति होकर युद्ध करने प्रवृत्त हुआ। वह युद्ध करने के लिए आक्षेप करता हुआ असह्य वेगवाले रथ द्वारा कुणिक के सेनापति के ऊपर चढ़ आया। रथ को आमने सामने करके वे दोनों युद्ध की इच्छा से मानो पृथ्वी पर सूर्य और चंद्र आए हों, वैसे एक दूसरे के समीप आ गए। कुणिक का सेनापति युद्ध का मांग करता हो वैसे वरूण के सामने स्थित होकर उसे वार कर वार कर ऐसा कहने लगा। उसके जवाब में वरुण बोला कि–

हे महाभुज! मैं श्रावक हूँ इसलिए मैंने व्रत लिया है कि किसी पर भी प्रथम प्रहार नहीं करना। यह सुनकर 'हो महासत्त्व! धन्यवाद है ऐसा कहकर कुणिक के सेनापति ने उस पर बाण छोड़ा कि जिससे वरुण का मर्मस्थान बिंध गया। तब वरूण ने लाल नेत्र करके एक ही प्रहार से कूणिक के सेनापति को यमद्वार में पहुँचा दिया। और वह तत्काल गाढ़ प्रहार से विकल होकर रणभूमि में से बाहर निकल गया। बाहर निकल कर एक स्थान पर तृण का संथारा कर के उस पर आसीन होकर चिंतन करने लगा कि– 'इस शरीर के द्वारा सर्व प्रकार से मैंने स्वामी का कार्य किया है, अब अंतकाल आया होने से साधने का अवसर है, इसलिए अब महापूज्य ऐसे अरिहंत सर्व सिद्ध साधुगण और केवली प्ररूपित धर्म का मुझे शरण हो, मैं सर्व जीवों को खमाता हूँ, वे सब मेरे अपराधों की क्षमा करें। अब सर्व जीवों से मेरी मैत्री है, मेरे किसी के साथ वैर भाव नहीं है। तीन जगत में मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ। जगत् के जितने भी पदार्थों पर ममत्व था, उन सबको मैं छोड़ देता हूँ। मैंने मूढ़ता वश किस किन पापों का सेवन नहीं किया? अब इस समय निरोगी हुए मेरे सर्व दुष्कृत मिथ्या हो। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी पने में मैंने जो जो दुष्कृत्य किया हो, उन सबकी मैं निंदा करता हूँ। श्री वीर प्रभु एक ही मेरी गति हो।'' इस प्रकार आराधना करके उसने चतुर्विध आहार का पच्चक्खाण किया और उसके पश्चात् समाहित मन से नवकार मंत्र का ध्यान करने लगा।

(गा. 240 से 272)

इसी समय वरुण का एक मित्र जो कि मिथ्यात्वी था, वह रण में से यकायक बाहर निकल कर वरुण के पास आया और इस प्रकार बोला कि – ''हे मित्र! मैं तुम्हारे स्नेह से क्रीत हुआ हूँ। इससे अज्ञ होने पर भी तुम्हारे अंगीकृत मार्ग को स्वीकार करता हूँ। ऐसा कहकर वह भी उसके समान ध्यान परायण हो गया। वरूण नवकार मंत्र का जाप करता हुआ धर्मध्यान में परायण होकर समधिमरण से सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ अरूणाभ नामक विमान में चार पल्योपम का आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि पद को प्राप्त करेगा। उसका मिथ्यात्व मित्र भी वरुण के मार्ग का अनुसरण करके मृत्यु के पश्चात् उसका ही मित्र देवता होकर उत्तम कुल में मनुष्य होकर मुक्ति मार्ग की आराधना करके मोक्षपद को प्राप्त करेगा।

(गा. 273 से 278)

वरुण के मरण के समाचार मिलने से चेटक राजा के सुभटों को लकड़ी का स्पर्श होने से वराह की भांति युद्ध करने में दुगुना उत्साह पैदा हो गया। साथ ही गणराजा द्वारा सनाथ हुए चेटक की सेना के सुभट क्रोध द्वारा होठों को दबाते हुए कुणिक की सेना को अत्यन्त कूटने लगे। इस प्रकार अपनी सेना को कूटते हुए देखकर कुणिक राजा पत्थर मारे हुए सिंह के समान क्रोधोद्धत होकर स्वयं ही दौड़ता हुआ वहाँ आ गया। वीरकुंजर कुणिक ने सरोवर को सदृश रणभूमि में क्रीड़ा करके शत्रु के सैन्य को कमल खड के सदृश दिशाओं में बिखेर दिया। कुणिक को दुर्जय जानकर अतिक्रुद्धित चेटक ने जो कि शौर्य रूप धनिक था, उसने धनुष के ऊपर वह दिव्य बाण चढ़ाया। उस समय शक्रेन्द्र ने कुणिक के आगे वज्रकवच कर दिया। पश्चात् पुनः वैशाली नागरी के अधिपति चेटक ने कान तक खींचकर दिव्य बाण छोड़ा, परंतु वह भी वज्र कवच से स्खलित हो गया। उस अमोघबाण को निष्फल हुआ देखकर चेटक राजा के सुभट उनके पुण्य का क्षय मानने लगे। सत्यप्रतिज्ञ ने पुनः दूसरा बाण छोड़ा और उसे भी निष्फल हुआ देखकर वे लौट आए। दूसरे दिन भी उसी भाँति युद्ध हुआ एवं चेटक ने उसी प्रकार बाण छोडे, परंतु वे सफल नहीं हो सके। इस प्रकार दिनोंदिन घोरातिघोर युद्ध हुआ। दोनों ही पक्ष के मिलकर एक करोड़ अस्सी लाख सुभट मृत्यु को प्राप्त हुए। वे तिर्यंच और नरक में उत्पन्न हुए। पश्चात् गणराजा पलायन करके अपने अपने नगर में चले गये। तब चेटक राजा भी पलायन करके अपनी नगरी में घुस गए। तब कुणिक ने आकर विशाला नगरी को घेर लिया।

(गा. 279 से 289)

इधर प्रतिदिन रात्रि में सेचनक हाथी पर चढ़कर हल्लविहल्ल कुणिक के सैन्य में आने लगे और विपुल सैन्य का विनाश करने लगे। क्योंकि यह सेचनक हाथी स्वप्न हाथी के समान किसी के द्वारा पकड़ा या मारा नहीं जा सकता था। इसलिए जब रात्रि में सब सो जाते तब वे हल्ल विहल्ल बहुत से सैन्य का विनाश करके कुशल क्षेम वापिस चले जाते। एक दिन अपने मंत्रियों से कुणिक ने कहा कि इन हल्ल विहल्ल ने तो प्रायः आपके सर्व सैन्य को विलुप्त कर डाला है, इस जीतने का कोई उपाय है?' मंत्री बोले कि– 'जब तक ये नरहस्ती हल्ल विहल्ल सेचनक हाथी पर बैठकर आते हैं, तब तक उनको किसी भी प्रकार से जीता नहीं जा सकता? इसलिए उस हाथी का ही वध करना आवश्यक

है। इसलिए जिस मार्ग से वह आता है उस मार्ग में खाई खोदकर उसमें खेर के अंगारे संपूर्णतया भर दो और उसको ऊपर से पूर्णतया आच्छादन कर दो और उसे पुल की तरह मालूम न पड़े, वैसा कर दो। जब सेचनक हाथी वेग से दौड़ता हुआ इधर आएगा, तब उसमें गिरकर मर जाएगा। कुणिक ने शीघ्र ही खेर के अंगारे से परिपूर्ण एक खाई उसके आने के मार्ग पर खुदवाई और उसे ऊपर से आच्छादित कर दी। इधर हल्ल विहल्ल अपने विजय से गर्वित होकर सेचनक हाथी पर बैठकर उस रात्रि में भी कुणिक के सैन्य पर आक्रमण करने के निए विशाला में से निकले। मार्ग में वह अंगारे वाली खाई आई। तब शीघ्र ही सेचनक ने उसकी रचना को विभंगज्ञान के बल से जान लिया, तो वह उसके तीर (किनारे) पर ही खड़ा रहा। उसे चलाने का अथक प्रयास करने पर भी वह टस से मस नहीं हुआ। तब हल्ल विहल्ल ने उस हाथी का तिरस्कार करते हुए कहा, कि, 'अरे सेचनक तू तो आज वास्तव में पशु हो गया है, इसीलिए इस समय रण में जाने के लिए कायर होकर खड़ा रह गया है। तेरे लिए ही तो हमने विदेशगमन किया और बंधु का त्याग किया। इसी प्रकार तेरे ही लिए हमने आर्य चेटक को ऐसे दुर्व्यसन में डाल दिया। जो अपने स्वामी पर सदा भक्त रहता है, ऐसे प्राणी का पोषण करना ही श्रेष्ठ है। परंतु तुझ जैसे का पोषण करना भी योग्य नहीं है कि जो अपने प्राण का रक्षण करके स्वामी के कार्य की उपेक्षा करते है।'' ऐसे तिरस्कृत वचनों को सुनकर अपनी आत्मा को भ्रष्ट मानते हुए सेचनक हाथी ने बलात्कार ही हल्ल विहल्ल को अपनी पीठ पर से नीचे गिरा दिया। और स्वयं ने उस अंगारेवाली खाई में झंपापात कर दिया। तत्काल ही मृत्यूपरान्त वह गजेन्द्र पहली नारकी में उत्पन्न हो गया।

(गा. 290 से 300)

यह देखकर दोनों कुमारों ने चिंतन किया, 'अपने को धिक्कार है! अपन ने यह क्या किया? इसमें तो वास्तव में अपन ही पशु तुल्य है। कारण कि पूज्य मातामह चेटक को इस प्रकार के संकट में डालकर महान विनाश का सर्जन करके भी अपन दुष्ट बुद्धि वाले अभी भी जीवित हैं? साथ ही अपने आर्य बंधु के विपुल सैन्य का विनाश करने में जमानतदार के रूप में रहे हैं। और उनका वृथा ही विनाश में कारण बने। और फिर बंधु को अबंधुरूप में

ले आए। इसलिए अब अपना जीना उपयुक्त नहीं है। इस पर भी यदि जीना ही हो तो अभी से श्री वीरप्रभु के शिष्य बनकर जीना, अन्यथा नहीं।''

(गा. 301 से 309)

इसी समय शासन देवी ने उनको दोनों भावयति ज्ञात होने पर वीर प्रभु की शरण में ले गई। शीघ्र ही उन्होंने वीरप्रभु की शरण स्वीकार करके दीक्षा अंगीकार कर ली। हल्ल विहल्ल ने इस प्रकार दीक्षा ले ली, तो भी कुणिक विशाला नगरी ले सका नहीं। इसलिए उस चंपापति प्रतिज्ञा की। ''पराक्रमी पुरषों को प्रतिज्ञा पुरुषार्थ में वृद्धि कराती है।'' उसने प्रतिज्ञा ली कि ''यदि मैं इस नगरी को गधे जुते हल से नहीं खोदूं तो मुझे भृगुपात या अग्निप्रवेश करके प्राणत्यण कर देना।'' ऐसी प्रतिज्ञा करने पर भी वह विशाला को अधिकृत नहीं कर सका। इससे वह अत्यन्त खेदित हुआ।

(गा. 310 से 313)

इतने में क्रमयोग से कुलवालुक मुनि पर रुष्टमान हुई देवी ने आकाश में स्थित होकर कहा कि, ''हे कुणिक! यदि मागधिका वेश्या कुलबाकुल मुनि को मोहित करके वश में करे तो ही तू विशाला नगरी को ग्रहण कर सकेगा।'' ऐसी आकाशवाणी श्रवण करके उसे जय की प्रत्याशा उत्पन्न हुई, शीघ्र ही सज्ज होकर बोला– ''बालकों की भाषा, स्त्रियों की भाषा और उत्पातिकी भाषा प्रायः अन्यथा नहीं होती। ये कुलवालुक मुनि कहाँ है ? ये किस प्रकार मिलेगे ? और मागधिका वेश्या भी कहाँ होगी ?'' यह सुनकर मंत्री बोले कि, ''हे राजन्! मागधिका वेश्या तो आपकी ही नगरी में हैं। परंतु कुलवालुक मुनि तो हम नहीं जानते।'' तब कुणिक ने विशाला के निरोध के लिए अर्धसैन्य वहाँ छोड़कर शेष अर्ध सैन्य लेकर स्वयं चंपानगरी में आया। और शीघ्र ही चरमंत्री के समान उसने मागधिका वेश्या को बुलाया। वह भी तुरन्त हाजिर हुई। तब कुणिक ने उसे कहा कि ''हे भद्रे! तू बुद्धिमती और कलावती है, तू जन्म से लेकर अनेक पुरुषों को वश करके उपजीवित हुई हैं। तो अब अभी ही मेरा एक कार्य सफल कर। अर्थात् तेरी सर्व कला का प्रदर्शन करके कुलबालुक नाम के मुनि को तेरे परिरूप में बनाकर ला।' उस मनस्वी वेश्या ने 'मैं' वह कार्य करूँगी' ऐसा स्वीकार किया। तब चंपापति ने वस्त्रालंकारादि द्वारा उसका सत्कार किया और उसे विदा किया। पश्चात् वह धीमती रमणी घर पहुँच कर विचार करके

मुनि को ठगने के लिए मूर्तिमती माया हो, ऐसी कपट श्राविका बन गई। तब मानो गर्भश्राविका हो वैसे वह द्वादश प्रकार के गृहीधर्म का लोगों में यथार्थ और सत्य रीति से बताने लगी। उस पर से उस युवति को सरल आशयवाले आचार्य चैत्यपूजा में एवं धर्मश्रवण में तत्पर ऐसी यथार्थ श्राविका मानने लगे। (गा. 314 से 328)

एक बार अवसर देखकर उस कपट श्राविका ने आकर आचार्य भगवन्त से पूछा कि, गुरुवर्य! कुलबालुक साधु कहाँ है? कपट श्राविका के हृदय से अज्ञात आचार्य श्री ने उसे कहा कि, "धर्मज्ञ और पंचविध आचार में तत्पर एक उत्तम मुनि थे। कपि के जैसा चपल एक क्षुल्लक शिष्य था।' वह समाचारी से भ्रष्ट हुआ, तब भी वारणा तथा स्मरणादि द्वारा गुरु ने बहुत प्रेरणा दी, तो भी वह अति दुर्विनीत क्षुल्लक किंचितमात्र ही सुधरा नहीं। गुरु महाराज दुःख में सुनी जाय वैसी और शास्त्र में कथित आचार शिक्षा उसे आदर से देते थे। आगम में कहा है कि 'अन्य को रोष तुल्य लगे, उसे विष जैसी लगे परंतु जो बात उसे गुणकारी हो, वह कह सुनाई।" परंतु वह क्षुल्लक गुरु की कठोर या मधुर किसी भी प्रकार की शिक्षा मानता ही नहीं था, क्योंकि गुरु की गिरा भी लघुकर्मी शिष्य पर की असर करती है। एक बार आचार्य जी विहार करते हुए गिरिनगर में आए। और उस क्षुल्लक शिष्य को साथ लेकर उज्जंतगिरि पर चढ़े। वहाँ दर्शनादि करके गुरु महाराज नीचे उतर रहे थे उस समय उस अधम शिष्य ने गुरु को पीस डालने के लिए उपर से एक बड़ा पाषाण लुड़काया। उसका खडखडाट शब्द सुनकर गुरु ने नेत्र संकुचित करके देखा, तो वज्रनाल गोले के तरह उस पाषाण को गिरता हुआ देखा, तब शीघ्र ही गुरु ने अपनी जंघा का विस्तार कर दिया तब वह पाषाण उसके मध्य में से निकल गया। "बुद्धिमान के ऊपर प्रायः आपत्ति दुःख देने में समर्थ नहीं होती।" उसके ऐसे कर्म से गुरु ने क्रोधित होकर उसे शाप दिया कि 'हे पापी! जा तू किसी स्त्री के संयोग से व्रतों को भंग करेगा। क्षुल्लक बोला " हे गुरु! आपके शाप को मैं वृथा कर दूंगा इसलिए कोई स्त्री दिखाई ही न दे ऐसे अरण्य में जाकर रहूँगा।" ऐसा कहकर वह दुर्गति जैसे लज्जा का त्याग करते हैं, वैसे गुरु का त्याग करके सिंह के समान निर्जन अरण्य में चला गया। वहाँ किसी पर्वत में से निकलती नदी के मूल के पास कायोत्सर्ग में रहा। वह महिने या अर्ध महिने में कोई पथिक आता तब कार्योत्सर्ग पालता और पारणा करता था। इस प्रकार

नदी के मूल के पास में रहकर वह मुनि तप करता है। इतने में आकाश पर बादल रूप चंदरवा बांधती हुई वर्षाऋतु आई। उसमें अधिक जल आने से रसोद्रे अर्थात् विषयरस की वृद्धि द्वारा कुलटा स्त्रियों की तरह नदियों के दोनों (तट) कूल (किनारों) लुप्त होने लगे। और उन्मार्गगामी होने लगी। जिस नदी के तट पर वे मुनि रहे हुए हैं, वहाँ जल का पूर आ जाने से श्री अर्हंत के शासन की भक्त किसी देवी ने सोचा कि, 'यदि मैं इस समय उपेक्षा करूँगी तो यह जल का प्रवाह तट पर रहे मुनि को तट वृक्ष की तरह घसीट कर ले जाएगा।' इस प्रकार सोच कर उस देवी ने उस गिरि नदी के प्रवाह का अन्य दिशा में प्रवर्तन कर दिया। ''तपस्वियों को सर्वत्र कुशलता ही होती है।'' तब से ही उस मुनि का नाम 'कुलवालुक' ऐसा नाम पड़ गया। अभी हाल में वे महातपस्वी मुनि यहाँ नजदीक के प्रदेश में ही रहे हुए हैं।''

(गा. 329 से 348)

इस प्रकार कुलवालुक मुनि संबंधित समाचार मिलने पर उसका कपटरूपी वृक्ष सफल हुआ। वह वेश्या सद्य कतार्थ हुई हो वैसे नेत्र विकसित करके आचार्य श्री के पास से उठी, एवं वहाँ से प्रयाण करके तीर्थयात्रा के मिष से मार्ग में चैत्यवंदना करती हुई जिस प्रदेश में वे कुलवालुक मुनि थे, वहाँ पहुँची। उनको वंदना करके वह मायावी श्राविका बोली– हे मुनिश्री! यदि आप मेरे साथ पधारें तो मैं उज्ञयन्तादि तीर्थों की वंदना करूँ।' मुनि ने कार्योत्सर्ग छोड़कर धर्मलाभ आशीष दी एवं पूछा कि 'भद्रे! तीर्थवंदना करती हुई तुम कहाँ से आ रही हो?' वह बोली ''महर्षि! मैंने चंपानगरी से तीर्थ वंदना के लिए प्रस्थान किया है। एवं मैंने सर्व तीर्थों से उत्कृष्ट तीर्थरूप तुमको मैंने वंदना की है। अब भिक्षादोष से रहित ऐसा मेरा पाथेय ग्रहण करके पारणा करके मुझ पर अनुग्रह करो।'' उसकी भक्ति भावना देखकर उन मुनि का हृदय आर्द्र हो गया। इसलिए शीघ्र ही उसके साथ भिक्षा लेने के लिए गये। हर्षित होती हुई उस मायावी रमणी ने पूर्वयोजित मोदक उन मुनि को बहराये। उन मोदकों का प्राशन करते ही मुनि को अतिसार (दस्त) हो गया। ''द्रव्य का रसवीर्य विपाक कभी भी अन्यथा होता नहीं है।'' उस अतिसार विपाक कभी भी अन्यथा होता नहीं है।'' उस अतिसार से मुनि ऐसे ग्लान हो गए कि 'जिसके कारण बल क्षीण हो जाने से वे अपने अंगों को भी ठीक से ढंक नहीं सकते थे। उस समय वह कपट मागधिका योग्य समय को जानकर बोली कि, महाराज! मुझ पर अनुग्रह करके आपने

पारणा किया, उसमें भी मेरे पाथेय का भोजन करते ही आप इस दुर्दशा को प्राप्त हो गए। मुझ पापसरिता को धिक्कार हो। आपको इस दशा में छोड़कर मेरे चरण बंधन हो गए हों ऐसे आगे बढ़ने में जरा भी उत्साहित नहीं हो रहे। ऐसा कहकर वह युवति वहाँ रहकर क्षण प्रति क्षण उन मुनि की सेवा करने लगी। साथ ही उनके अंगों को दबाने तेल लगाने व औषधादि देने लगी। वह मगाधिका उन मुनि के अंगों का इस प्रकार मर्दन करती कि जिससे उन मुनि को उसके सर्व अंगों का स्पर्श हो जाता। इस प्रकार सेवा कर कर के उसने उन मुनि को धीरे धीरे स्वस्थ किया। तब चंपक की सुगंध से वस्त्र की भांति उसकी भक्ति से उन मुनि का हृदय भी वासित हो गया। उसके साथ उसके कटाक्ष बाणों से, अंगो के स्पर्श से, तथा मृदु उक्तियों से उनका चित्त चलायमान हो गया। ''स्त्री के अंग में तप कितना टिक सके?''

(गा. 349 से 365)

दिन पर दिन परस्पर एक शय्या पर एवं आसन का प्रसंग होने पर कुलबालुक मुनि और मागधिका वेश्या का स्पष्ट रीति से दाम्पत्य व्यवहार होने लगा। मागधिका कुलवालुक मुनि को लेकर चंपानगरी में आई। ''कामांध पुरुष नारी का किंकर होकर क्या क्या नहीं कर बैठता?'' तब उस वेश्या ने चंपापति के पास जाकर कहा कि, 'देव! ये कुलवालुक मुनि हैं और इनको मैंने पति रूप में अंगीकार किया है। अब क्या करना है, उसकी आज्ञा फरमावें।' राजा ने आदरपूर्वक उन मुनि को कहा कि 'जिस प्रकार भी वैशाली नगरी का भंग हो जाय, वैसा ही करो।' राजा की आज्ञा को स्वीकार करके बुद्धि के निधान कुलवालुक मुनि साधु को वेश में ही स्खलित रूप से वैशाली नगरी में गए। उस समय चंपापति ने पहले से ही जय की प्रत्याशा से उत्सुक होकर अपने सर्व सैन्य के साथ वैशाली नगरी को रुंध दी थी। मागधिकापति कुलवालुक मुनि नगरी में सर्व द्रव्यों को देखने लगे कि 'क्या कारण है कि यह नगरी ली नहीं जा रही? घूमते घूमते उनको एक वहाँ मुनिसुव्रत स्वामी का स्तूप दिखाई दिया। उसको देखकर उसकी प्रतिष्ठा के लग्न के विषय में चिंतन करते हुए उसमें उत्तमोत्तम योग पड़े होने से प्रबलरूप से वैशाली के रक्षण का कारण उसे समझ में आ गया। इसलिए किसी भी प्रकार से उसे ध्वस्त करना। ऐसी धारणा करके वह वैशाली नगर में भ्रमण करने लगा। नगरी की रुद्धता से कदर्थित हुए लोग उनको पूछते कि, हे भदंत! हम शत्रुओं द्वारा किये इस नगरी

के रुद्धता से बहुत ही दुःखी हो गये हैं। तो अब इससे हमारा छुटकारा कब होगा? यदि आप जानते हो तो बताएँ।' मुनि ने कहा कि, ''हे लोगों! मैं यह तो अच्छी तरह से जानता हूँ। सुनो! जब तक इस नगरी में वह स्तूप है, तब तक इस नगरी की रुद्धता मिटेगी नहीं। और जब यह स्तूप ध्वंस हो जाएगा तब समुद्र की बेला के तुल्य शत्रु का सैन्य अकस्मात् ही पीछे हटने लग जाएगा। मैं सोचता हूँ कि इस स्तूप के उखेड़ने से आप सबकी कुशलता हो जाए। क्योंकि इस स्तूप की प्रतिष्ठा अत्यन्त अशुभ योग में हुई है। यही तुम सबको मुसीबत में डाल रही है। इस प्रकार उस धूर्त मुनि की बुद्धि से छले हुए लोग उस स्तूप को ध्वस्त करने लगे। ''सर्व जन दुःख से पीड़ित होने पर प्रायः अकृत्य हो तो करते रहते हैं। जब लोगों ने स्तूप को तोड़ना चालू किया, तब मागधाधिपति मुनि ने कोणिक के पास जाकर उस सेना को दो कोश पीछे हठवा दी। इससे लोगों में कुलवालुक की कही बात पर विश्वास हो जाने पर कोपायमान हुए लोग कठोरता से उस स्तूप को कूर्म शिला तक का उन्मूलन कर बैठे। पश्चात् कुणिक ने बारह वर्ष के अंत में वैशालीपुरी को भग्न कर डाला। क्योंकि उस स्तूप के प्रभाव से ही उस नगरी को भग्न कोई कर नहीं सकता था। वैशाली का भंग होने से चंपा और वैशाली के अधिपति बीच हुए युद्ध का भी विराम हुआ। इस अवसर्पिणी में ऐसा महायुद्ध कभी भी हुआ नहीं।

(गा. 366 से 384)

इसके पश्चात् चंपापति ने वैशालीपति को संदेश भेजा कि– आर्य चेटक! आप पूज्य हैं, इसलिए कहिए कि मैं अपका क्या प्रिय करूँ? चेटक ने खेद करते हुए उसके उत्तर में कहलाया कि– हे राजन्! तू विजय के उत्सव के लिए उत्सुक है, तथापि कुछ विलम्ब से नगरी में प्रवेश करना। दूत ने आकर चेटक का वचन कह दिया। तब 'बुद्धि क्षीण हुए इस चेटक राजा ने यह क्या मांगा? यह कहकर कुणिक ने उस वचन को स्वीकार किया।

(गा. 385 से 387)

'सत्यकि' नामक एक खेचर जो कि सुज्येष्ठा का पुत्र और चेटक राजा का भागिनेय (भाणजा) था। वह उस समय वहाँ आया। उसने मन में सोचा कि 'मेरे मातामह की पूजा को शत्रुगण लूंट रहे हैं, यह मुझ से कैसे देखा जाय? इसलिए मैं इनको अन्यत्र ले जाऊं।' ऐसा विचार करके उसने सम्पूर्ण नगरी के लोगों को

विद्या के प्रभाव से उठाकर पुष्पमाला की भांति संभालता हुआ नीलवान पर्वत पर ले गया। पश्चात् चेटक राजा मृत्यु की लक्ष्मी हो वैसी लोहे की पुतली को गले में बांधकर अनशन करके ऊंडे जल में गिर पड़े। उनको डूबते हुए देखकर धरणेन्द्र ने उनको साधर्मी जानकर अपने भुवन में ले गया। "आयुष्य पूर्ण हुए बिना मृत्यु नहीं होती।" धरणेन्द्र द्वारा प्रशंसित एवं धर्मध्यान में तत्पर ऐसे महा मनस्वी चेटकराजा पूर्व रण स्थित थे, वैसे मृत्यु से निर्भय होकर वहाँ रहे। उन चतुर ने अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म कि जो चारों मंगलरूप और लोक में उत्तम हैं, उनका स्मरण किया। वह इस प्रकार कि–" जीव, अजीव, आदि तत्त्वों के उपदेशक, परमेश्वर, बोधिदायक एवं स्वयंसंबुद्ध ऐसे अर्हन्त परमात्मा का मुझे शरण हो, ध्यान रूप अग्नि से कर्मों को दग्ध करने वाले, तेजरूप अनश्वर और अनंत केवल ज्ञान वाले सिद्ध भगवन्त को मेरा शरण हो। निरीह, निरहंकार, निर्मम, समान चित्त वाले, महाव्रतों के धारक एवं धीर साधुओं का मुझे शरण हो। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह इन पाँच यमवाले केवली प्ररूपित धर्म का यदि मन वचन काया से अपराध किया हो तो उनकी मैं मन वचन काया से निंदा करता हूँ। द्वादश प्रकार के यती धर्म का पालन करते मुझे जो कोई अतिचार लगा हो उन सबको मैं वोसिराता हूँ।

(गा. 388 से 400)

क्रोध, मान, माया और लोभ से पराभूत होकर मैंने जो कोई अहिंसादि पापकर्म किया हो, उसे धिक्कार हो, अर्थात् उसे मैं मिच्छामि दुक्कड़म् देता हूँ।" इस प्रकार आरधना करके नमस्कार मंत्र के स्मरण में पारायण चेटकराजा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग सुख का भाजन हुआ। इधर अशोकचंद्र (कुणिक) ने गधे के साथ हल जुताकर क्षेत्र (खेत) की तरह उसन नगरी को जोतकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने लगा। इस प्रकार दुस्तर नदी जैसी उस प्रतिज्ञा को तैर करके चंपापति बड़े उत्सव के साथ नगरी में आया।

(गा. 401 से 404)

अन्यदा विहार से पृथ्वी को पवित्र करते हुए जगद्गुरु श्री वीरप्रभु चंपानगरी में आकर समवसरे। उस समय कितनीक श्रेणिक राजा की स्त्रियों ने कि अपने पुत्रों के मरण आदि कारणों से विरक्त होकर दीक्षा अंगीकार कर ली। तीन लोक के संशय को छोदने वाले श्री वीरप्रभु को वंदन करने के

लिए कुणिक भी समवसरण में आया। प्रभु को नमन करके योग्य स्थान में बैठने के मश्चात् अवसर को देखकर मस्तक परा अंजली जोड़कर उसने प्रभु जी से पूछा कि जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त भोगो को छोड़ते नहीं है, ऐसे चक्रवर्ती अंत में किस गति में जाते हैं? प्रभु ने फरमाया वे सातवी नरक में जाते हैं।' कूणिक ने पुनः पूछा हे प्रभु! मेरी क्या गति होगी? प्रभु ने कहा– 'तू मरकर छठी नरक में जाएगा। तब कुणिक बोला मैं सातवीं नरक में क्यों नहीं जाऊंगा? तब प्रभु ने कहा तू चक्रवर्ती नहीं है।'' स्वयं धर्म के योग्य एवं उपदेशक रूप में प्रभु महावीर होने पर भी कुणिक ने पूछा, 'भगवन् मैं चक्रवर्ती कैसे नहीं हूँ? मेरे भी चक्रवर्ती के समान चतुरंग सेना है। प्रभु ने कहा तेरे पास चक्रादि रत्न नहीं है। एक भी रत्न कम हो, तब तक चक्रवर्ती नाम होना भी दुर्घट है।

(गा. 405 से 414)

प्रभु के पास ऐसा श्रवण करके अहंकार के पर्वत पर चंपापति वहाँ से खड़ा हुआ और अपनी नगरी में आकर शीघ्र ही लोहे के एकेन्द्रिय आदि सात महारत्न कराये। साथ ही व्यर्थ मनोरथों कदर्थित हुए उसने पद्मावती को स्त्रीरत्न मानकर हस्ती आदि अन्य पाँच इन्द्रिय वाले छः रत्न भी बनवा लिये। फिर सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को साधने के लिए महापराक्रमवाले कुणिक अनेक देशों को साधता साधता वैताढ्य गिरि की तमिस्रा गुफा के पास सैन्य सहित आया। दुर्दैव से दूषित हुआ और अपनी आत्मा अनजान होते हुए गुहाद्वार के कपाट पर दंड द्वारा तीन बार ताड़न किया। इसलिए वह गुहाद्वार का रक्षक कृतमाल देव बोला कि–यह मरने को कौन तैयार हुआ है? कुणिक बोला 'अरे! मैं विजय की इच्छा से आया हूँ, क्या तू मुझे नहीं पहचानता? मैं अशोकचंद्र नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ हूँ। कृतमाल देव बोला – 'चक्रवर्ती तो बारह हो चुके हैं, तो अब अप्रार्थित (मृत्यु) की प्रार्थना करने वाला तू कौन है? तेरी बुद्धि की स्वस्ति हो। कुणिक बोला 'अतिपुण्यबल से मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ हूँ। पुण्य से क्या दुर्लभ है? अरे कृतमालदेव! तू मेरा पराक्रम जानता नहीं है, नहीं तो इस गुहा का द्वार उघाड़े बिना नहीं रहे। इस प्रकार देवदोष से ग्रहण किये जैसे असंबद्ध भाषण करने वाले उस कुणिक को कृतमाल देव ने रोष से तत्काल जलाकर भस्म कर डाला। इसी प्रकार अशोकचंद्र (कुणिक) राजा मृत्यु के पश्चात् छठी नरक में गया। '' अरिहंतो के वचन कभी भी अन्यथा नहीं होते।''

(गा. 415 से 425)

कुणिक राजा की मृत्यु हुई। उसके प्रधान पुरुषों ने उसके पुत्र उदायी को राज्य सिंहासन पर आसीन किया। उदायी राजा ने प्रजा का न्यायमार्ग से प्रतिपालन किया एवं पृथ्वी पर अखंडरूप से जैन शासन का प्रर्वत्तन किया। अपने स्थान पर ही रहे हुए ऐसे उस प्रतापी राजा के प्रताप रूप सूर्य को सहन नहीं करने वाले शत्रुगण उलूक पक्षी की तरह गिरिगुहा में घुस गए। उनको स्वचक्र और परचक्र का भय कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ। परंतु वह हमेशा श्रावकव्रत के खंडन से भयभीत होता रहा। चार पर्वणि (अष्टमी चौदस पूनम अमावस्य) में चतुर्थादि (उपवासादि) तप द्वारा शुद्धि को वहन करके वह पौषधगृह में सामायिक लेकर स्वस्थ रूप से रहता था। अरिहंत देव और साधु गुरु इतने शब्दों का ध्यान मंत्राक्षर के समान रात्रि दिवस उसके हृदय में से कभी भी हटते नहीं थे। वह उदायन–उदायी राजा दयालु होने पर भी अखंडित आज्ञा से सर्वदा त्रिखंड पृथ्वी पर राज्य करता था। वह सद्बुद्धि वीर श्री वीर प्रभु की अमृत तुल्य धर्म देशना का बारम्बार आचमन करके अपनी आत्मा को पवित्र करता था।

(गा. 426 से 434)

केवलज्ञान की उत्पत्ति से लेकर विहार करते हुए चरम तीर्थंकर श्री वीरप्रभु के चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार शांत हृदय वाली साध्वियाँ, तीन सौ चौदहपूर्वधारी श्रमण, तेरहसौ अवधिज्ञानी, सात सौ वैक्रिय लब्धिधारी, उतने ही केवली और उतने ही अनुत्तर विमान में जाने वाले, पांचसौ मनःपर्यवज्ञानी, चौदह सौ वादी, एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाओं का परिवार था।

(गा. 435 से 439)

गौतम और सुधर्मा गणधर के अतिरिक्त अन्य नौ गणधर के मोक्ष सिधा जाने के पश्चात् सुर असुर और नरेश्वरों से जिनके चरण कमल सेवित हैं, ऐसे श्री वीर भगवंत प्रांते अपापापुरी में पधारें।

(गा. 440)

दशम पर्व का बारवाँ सर्ग समाप्त

त्रयोदश सर्ग

भगवंत की अंतिम देशना पांचवे छट्ठे आरे के भाव, उत्सर्पिणी की स्थिति, भगवंत का निर्वाण आदि

अपापानगरी में देवताओं ने तीन वप्रों से विभूषित रमणिक समवसरण प्रभु की देशना के लिए रचा। सुर असुरों से सेवित प्रभु अपनी आयुष्य का अंत जानकर उसमें अंतिम देशना देने के लिए विराजमान हुए। प्रभु को समवसृत ज्ञात होने पर अपापापुरी का राजा हस्तिपाल वहाँ आया और प्रभु को नमन करके देशना श्रवण करने बैठा। देवगण भी श्रवण के इच्छुक होकर वहाँ आए। उस समय इंद्र ने आकर नमस्कार करके इस प्रकार स्तुति की–

(गा. 1 से 4)

''हे प्रभु! धर्माधर्म अर्थात् पुण्य–पाप बिना शरीर की प्राप्ति होती नहीं है। शरीर के बिना मुख नहीं होता, मुख के बिना वाचकत्व नहीं होता, इससे अन्य ईश्वरादि देव अन्य को शिक्षा देने वाले कैसे हो सकेगे? फिर देह बिना के ईश्वर की इस जगत् की रचना में प्रकृति ही घटित नहीं होती। इस प्रकार स्वतंत्ररूप से या अन्य की आज्ञा से उनको जगत् का सर्जन करने की प्रवृत्ति करे तो वह बालक के समान रागी कहलाये। और यदि कृपा द्वारा सर्जन करे तो सभी को सुखी ही सर्जन करना चाहिए। हे नाथ! दुःख, दरिद्रता, और दुष्ट योनि में जन्म इत्यादि क्लेश करके व्याकुल लोगों का सर्जन करने से तो उस कृपालु ईश्वर की कृपालुता कैसे हुई? अर्थात् न हुई। अब यदि वह ईश्वर कर्म की अपेक्षा से प्राणियों को सुखी या दुःखी करता है, ऐसा हो तो? तो वह भी हमारे सदृश स्वतन्त्र नहीं है ऐसा सिद्ध होगा। और यदि इस जगत् में कर्म से हुई विचित्रता है, तो फिर ऐसे विश्वकर्त्ता नाम धराने वाले नपुंसक ईश्वर का क्या कर्त्तव्य है? अथवा महेश्वर की इस जगत्–रचना में स्वभाविक ही प्रवृत्ति होती है, इससे उसका विचार ही जगत् को नहीं करना, ऐसा कहेगा तो वह परीक्षकों परीक्षा

के आक्षेप के लिए डंका समझना अर्थात् इस बाबत में किसी की परीक्षा ही न करना, ऐसा कथन सिद्ध होगा। अब यदि सर्व भाव के विषय में ज्ञातृत्व रूप कर्त्तव्य कहते हो तो वह हमकों भी मान्य है, क्योंकि सर्वज्ञ दो प्रकर के होते हैं। एक मुक्त और दुसरे देहधारी। हे नाथ! आप जिन पर प्रसन्न होते हैं, वे ऊपर बताए अनुसार अप्रमाणिक ऐसे सृष्टि के कर्त्तृत्व वाद को त्याग करके अपके शासन में रमण करते हैं।''

(गा. 5 से 12)

इस प्रकार स्तुति करके इंद्र ने विराम लिया, तब अपापापुरी के नरेश हस्तिपाल ने निम्न प्रकार से स्तुति की–

(गा. 13)

हे स्वामिन्! विशेषज्ञ ऐसे आपकी कोमल विज्ञापना ही करनी, इसमें कुछ नहीं है। इसलिए अंतः करण की विशुद्धि के लिए कुछ कठोर विज्ञापना करता हूँ। हे नाथ! आप पक्षी, पशु या सिंहादि वाहन पर जिसका देह स्थित हैं, वैसे नहीं है। इसी प्रकार आपके नेत्र मुख और गात्र के विकार द्वारा विकृत आकृति भी नहीं है। और फिर आप त्रिशूल, धनुष और चक्रादि शस्त्रों से युक्त करपल्लव वाले भी नहीं है। इसी के साथ स्त्री के मनोहर अंगों का आलिंगन देने में तत्पर हों, ऐसे भी नहीं हैं। फिर निंदनीय आचरणों द्वारा शिष्ट जनों को जिन्होंने कंपायमान कर दिया है, ऐसे भी नहीं है। साथ ही कोप एवं प्रासाद द्वारा जिन्होंने नर अमरों को विडंबित किया हो, ऐसे भी नहीं है'। फिर इस जगत् की उत्पत्ति, पालन और नाश करने में आदर वाले भी नहीं हैं। एवं नृत्य, हास्य और गायनादि उपद्रवों से उपद्रवित आपकी स्थिति भी नहीं हैं। तथा प्रकार की स्थिति होने से परीक्षकों को आपकी देवरूप में प्रतिष्ठा किस प्रकार से करनी? क्योंकि आप तो सर्व देवों की अपेक्षा से सर्वथा विलक्षण हो। हे नाथ! जल के प्रवाह के साथ पत्ते, तृण और काष्टादि भी बह जाते हैं, तो वह युक्तियुक्त ही है। परंतु बाढ़ में कोई बह कर आया यह कहना किस युक्ति से संगत माना जा सके? परंतु हे स्वामिन्! ऐसे मंदबुद्धि वालों के परीक्षण से क्या काम? और मेरे भी उस प्रयास से क्या? क्योंकि सर्व संसारी जीवों के रूप से विलक्षण ऐसे ही आपके लक्षण हैं, उसकी बुद्धिमान् प्राणी परीक्षा करें। यह सारा जगत् क्रोध, लोभ और भय से आक्रांत है, अतएव आप विलक्षण हैं। परंतु हे प्रभो! आप

वीतराग हैं, कोमल बुद्धिवालों को अग्राह्य हो अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिवाले ही आपके देवत्व को पहचान सकते हैं।

(गा. 14 से 24)

इस प्रकार स्तुति करके हस्तिपाल राजा के विराम लेने पर चरम तीर्थंकर प्रभु ने चरम देशना दी–

''इस जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इसमें काम और अर्थ तो प्राणियों को नाम से ही अर्थ रूप है, परमार्थ से ये अनर्थ रूप हैं। चार पुरुषार्थ में वास्तविक रीति से तो अर्थरूप मोक्ष ही है एवं उसका कारण धर्म है। वह धर्म संयम आदि दस प्रकार का है और संसार सागर से तारणहार है। अनंत दुःख रूप संसार है और अनंत सुख रूप मोक्ष है। इसलिए संसार से त्याग का और मोक्ष प्राप्ति का हेतु धर्म के बिना अन्य कोई नहीं है। लंगड़ा मनुष्य भी वाहन के आश्रय से दूर तक जा सकता है, वैसे ही धनकर्मी होने पर भी धर्म का आश्रय करने से वह मोक्ष में जाता है।''

(गा. 25 से 28)

इस प्रकार देशना देकर प्रभु ने विराम लिया। तब हस्तिपाल राजा ने प्रभु को नमन करके कहा – 'हे स्वामिन्! मैंने आज स्वप्न में अनुक्रम से हाथी, कपि, क्षीरवालावृक्ष, काक पक्षी, सिंह, कमल, बीज और कुंभ से आठ वस्तु देखी हैं, तो उनका क्या फल होगा? भगवान्! ऐसा स्वप्न देखने से मुझे भय लग रहा है। उसका फल फरमावें।

(गा. 29 से 31)

तब प्रभु ने फरमाया, ''हे राजन्! सुनो–

१. अब से क्षणिक समृद्धि के सुख में लुब्ध हुए श्रावक विवेक रहित जड़ता से हाथी जैसे होने पर घर में ही पड़े रहेंगे। महा दुःखी स्थिति अथवा परचक्र का भय उत्पन्न होगा। तो भी वे दीक्षा नहीं लेगे। यदि दीक्षा ग्रहण भी कर लेंगे तो उनको भी कुसंग होने से छोड़ देंगे। कुसंग होने पर भी व्रत का पालन करने वाले विरले होंगे। इस प्रकार पहले हाथी के स्वप्न का फल है।

(गा. 32 से 34)

२. दूसरे कपि के स्वप्न का फल ऐसा है कि अधिकांश गच्छ के स्वामीभूत आचार्य कपि के समान चपल परिणामी, अल्प सत्त्ववाले और व्रत में प्रमादी

होंगे। इतना ही नहीं परंतु धर्म में स्थित अन्यों को भी विपर्यास भाव करायेंगे। धर्म के उद्योग में तत्पर तो कोई विरले ही होंगे। जो स्वयं प्रमादी होने पर भी धर्म में शिथिल है वे, अन्यों को भी शिक्षा देंगे। वे गांव में रहे हुए शहरियों के समान ग्राम्य जन हंसी करे वैसे अन्य हंसी करेंगे। हे राजन्! इस प्रकार आगामी काल में प्रवचन के अज्ञात पुरुष होंगे। यह कपि के स्वप्न का फल जानना।

(गा. 35 से 38)

३. जो क्षीरवृक्ष का स्वप्न देखा, इससे सातों क्षेत्र में द्रव्य का उपयोग करने वाले दातार और शासन–पूजक क्षीरवृक्ष तुल्य श्रावक होंगे, उनको ठग ऐसे लिंगधारी रुंध डालेगे। ऐसे पार्श्वस्थ की संगत से सिंह जैसे सत्त्ववाले महर्षिगण भी उनको श्वान के जैसे सार रहित लगेंगे। सुविहित मुनियों की विहारभूमि में ऐसे लिंगधारी शूली जैसे होकर उपद्रव करेंगे। क्षीर वृक्ष जैसे श्रावकों को ऐसे मुनियों की संगत करने देंगे नहीं। इस प्रकार क्षीर वृक्ष के स्वप्न का फल है।

(गा. 39 से 41)

४. अब चौथे स्वप्न का फल इस प्रकार है– धृष्ट स्वभावी मुनि धर्मार्थी होने पर भी काकपक्षी के जैसे विहारवापिका में रमण नहीं करते, वैसे प्रायः अपने गच्छ में रहेंगे नहीं। इससे दूसरे गच्छ के सूरिगण कि जो वंचना करने में तत्पर और मृगतृष्णिका जैसे मिथ्याभाव दिखानेवाले होंगे, उनके साथ में जड़ाशय से चलेंगे। 'इनके साथ गमन करना युक्त नहीं है।' इसके उपदेशक उनके सामने होकर विपरीत बाधा करेंगे। इस प्रकार काकपक्षी के स्वप्न का फल है।

५. श्री जिनमत कि जो सिंह जैसा है, वो जातिस्मरण एवं धर्मज्ञ से रहित है, जो कि भरतक्षेत्र रूपी वन में दिखाई देगा। उसका परतीर्थरूपी तिर्यंच तो पराभव कर नहीं सकता। परंतु सिंह के कलेवर में जैसे कीड़े पड़े और वह उपद्रव करते हैं, वैसे ही लिंगधारी कि जो कृमि की भांति अपने में से ही उत्पन्न होते हैं, वे उपद्रव करेंगे और शासन की हीलना करायेंगे। कितनेक लिंगधारी तो जैन शासन के पूर्व प्रभाव के कारण श्वापदों के जैसे अन्य दार्शनिकों से कभी भी पराभव को प्राप्त नहीं होंगे। इस प्रकार सिंह के स्वप्न का फल है।

(गा. 42 से 46)

६. कमलाकर में जैसे कमल सुगन्धित होते हैं, वैसे ही उत्तमकुल में उत्पन्न सर्व प्राणियों को धार्मिक होना चाहिए, परंतु अब ऐसा नहीं होगा। धर्म परायण

होने पर भी वे कुसंग से भ्रष्ट होंगे एवं कचरे में कमल खिलने के जैसे कुदेश में, कुकुल में जन्में कोई कोई प्राणी ही धार्मिक होगा। तथापि वे हीन जाति के होने से अनुपादेय होंगे। इस प्रकार कमल के स्वप्न का फल है।

(गा. 47 से 50)

७. जैसे फल की प्राप्ति के लिए बीज यदि उषर भूमि में बोए, वैसे ही कुपात्र में सुपात्र बुद्धि से अकल्प्य वस्तुएँ बोयेंगे। अथवा जैसे कोई निराशय किसान घुणाक्षर न्याय से उत्तम क्षेत्र में अबीज के अन्तर्गत कल्प्य रूप पात्रदान करेंगे। यह बीज के स्वप्न का फल है।

(गा. 51 से 52)

८. क्षमादि गुणरूप कमलों से अंकित एवं सुचारित्र रूप जल से परिपूर्ण ऐसे एकान्त में रखे कुंभ के जैसे महर्षि किसी भी स्थान पर और वह भी बहुत ही अल्प दृष्टिगोचर होंगे। एवं मलिन कलश के सामान शिथिल आचार और चारित्र वाले लिंगधारी जहाँ तहाँ बहुलता से दिखाई देंगे। वे मत्सरभाव से महर्षियों के साथ कलह करेंगे और वे दोनों लोगों में समान गिने जायेगे। गीतार्थ और लिंगधारी नगरलोग पागल हो जाने से जैसे राजा भी पागल हुआ था वैसे व्यवहार में गीतार्थ भी लिंगियों के साथ में रहेंगे।

(गा. 53 से 57)

पृथ्वीपुर में पूर्ण नामक राजा था, उनके सुबुद्धि नामका बुद्धिसंपत्तिवान् मंत्री था। सुख पूर्वक काल निर्गमन करता हुआ एक बार सुबुद्धि मंत्री ने देवलोक नामक नैमित्तिक के भविष्य के विषय में पूछा। तब वह निमित्तक बोला कि– एक महिने के पश्चात् मेघवृष्टि होगी। उसके जल का जो भी पान करेगा वो सब ग्रथिल (पागल) हो जायेगे। उसके बाद पुनः कितनेक समय के बाद दूसरी बार मेघवृष्टि होगी। उसके जल का पान करने से लोग ठीक हो जायेगे।' मंत्री ने यह वृत्तांत राजा से कहा। तब राजा ने पटह बजाकर लोगों को जल संग्रह करने की आज्ञा दी। सर्व लोगों ने वैसा ही किया। पश्चात् नैमित्तिक के कथनानुसार कथित दिन को मेघ वृष्टि हुई। लोगों ने उस समय तो वह पानी पिया नहीं। परंतु कितनाक समय व्यतीत होने पर संग्रहित जल समाप्त हो गया। मात्र राजा और मंत्री के यहाँ जल बचा रहा, तब उनके अतिरिक्त अन्य सामंत आदि लोगों ने उस नए बरसे पानी का पान किया। उसका पान करते ही वे सर्वजन पागल

होकर नाचने लगे, हँसने लगे और जैसे तैसे बोलने लगे। मात्र राजा और मंत्री ये दो ही अच्छे रहे।

(गा. 58 से 65)

पश्चात् अन्य सामंतादि ने राजा और मंत्री को अपने से विपरीत प्रवृति वाले देखकर निश्चय किया कि 'अवश्य ही राजा और मंत्री दोनों पागल हो गए लगते हैं। क्योंकि वे अपने से विलक्षण आचार वाले हैं। इसलिए उनको उनके स्थान से हटाकर दूसरे राजा और मंत्री को अपन स्थापित करें। उनका यह विचार मंत्री को ज्ञात हुआ। उसने इसे राजा को ज्ञापित किया। तब राजा ने मंत्री से पूछा अपने को अब क्या करना चाहिए। इन लोगों से अपनी आत्मरक्षा कैसे करनी? क्योंकि जनवृंद राजा के समान है।'' तब मंत्री ने कहा– हे देव! अपने को भी उनके साथ पागल के समान वर्तन करना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है तब राजा व मंत्री कृत्रिम पागल बनकर उन सबके मध्य रहने लगे एवं अपनी संपत्ति का भोग करने लगे। जब पुनः शुभ समय पर शुभ वृष्टि हुई, तब उस नवीन वृष्टि के जल का पान करके सभी मूल प्रकृतिवाले पूर्ववत् स्वस्थ हो गये। इस प्रकार दुःषमा काल में गीतार्थ मुनि भी वेशधारियों के साथ उनके जैसे होकर रहेंगे। परंतु भविष्य में अपने समय की इच्छा रखा करेंगे। इस प्रकार अपने स्वप्नों के फल सुनकर महाशय हस्तिपाल राजा ने प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा अंगीकार की। वे अनुक्रम से मोक्ष पधारे।

(गा. 66 से 73)

इसी समय गणधर गौतम ने भगवंत को प्रणाम करके कहा कि ''हे स्वामिन्! तीसरे आरे के अंत में भगवान् वृषभस्वामी हुए एवं चौथे आरे में श्री अजितनाथ आदि तेवीस परमात्मा हुए। जिनमें प्रभु आप अंतिम तीर्थपति हुए। इस प्रकार इस अवसर्पिणी में जो बना वह सब जाना देखा। अब दुःषमा नामक पंचम आरे में जो कुछ होने वाला है, वह सब प्रसन्न होकर प्रभु फरमावें।'' वीर प्रभु ने फरमाया, ''हे गौतम! मेरे निर्वाण के तीन वर्ष और सार्द्ध आठ महिनों के पश्चात् पंचमआरा प्रवेश करेगा। मेरे निर्वाण के उन्नीस सौ चोदह वर्ष के पश्चात् पाटलीपुत्र नगर के म्लेच्छ कुल में चैत्र मास की अष्टमी के दिन विष्टि में कल्की, रुद्र और चतुर्मुख ऐसे तीनों नामों से विख्यात राजा होगा। उस समय ही मथुरापुरी में पवन से जीर्ण वृक्ष के समान रामकृष्ण का मंदिर अकस्मात् ही

गिर पड़ेगा। अतिक्रूर आशयवाले कल्की में क्रोध, मान, माया और लोभ, काष्ट में घुण जाति के कीड़े स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होंगे। उस काल में चोर लोकों का एवं राजा के विरोध का भय बना रहेगा। इसी प्रकार उत्तम गंध – रस क्षय, दुर्भिक्ष और अतिवृष्टि होती रहेगी। वह कल्की जब अट्ठारह वर्ष का होगा तब तक महामारी होती रहेगी। वह प्रचंडात्मा कल्की राजा होगा। एक वक्त कल्की राजा नगर में भ्रमण करने निकलते समय मार्ग में पाँच स्तूपों को देखकर पार्श्वस्थ जनों को पूछेगा कि 'ये स्तूप किसने कराये है? तब वे उसे ज्ञात करायेगे कि, 'पूर्व में धन में कुबेर भंडारी जैसा नंद नामका विश्वविख्यात राजा हो गया है, उसने इन स्तूपों के नीचे प्रचुर सुवर्ण डाला है, परंतु उसे लेने में अद्यापि कोई भी राजा समर्थ नहीं हुआ है।' यह सुनकर जो स्वभाव से ही अत्यन्त लुब्ध था, ऐसा वह कल्की राजा उस स्तूप को खुदवाकर उसके नीचे से सर्व सुवर्ण को ले लेगा। तत्पश्चात् वह द्रव्य का अर्थी – (लालची) होकर सम्पूर्ण शहर को खुदवा डालेगा एवं अन्य सर्व राजाओं को तृण के तुल्य गिनेगा। कल्की के द्वारा खुदाई हुई उस नगरी की भूमि में से लवण देवी नामकी एक शिलामयी गाय निकलेगी। उसे चौराहे में खड़ा रखा जाएगा। वह अपना प्रभाव दर्शाने के लिए भिक्षा टन करते मुनियों को अपने शृंग के अग्रभाग से संघट्ट करेगी। इस पर से वे स्थविर कहेंगे कि, 'ये भविष्य में जल का महान् उपद्रव होने का सूचित कर रही है इसलिए इस नगरी को छोड़कर चले जाना योग्य है।' यह सुनकर कितनेक महर्षिगण तो भोजन वस्त्र आदि के लोलुपी वहाँ ही रहेंगे और कहेंगे कि 'कर्म के वश ऐसे कालयोग में जो कुछ शुभ और अशुभ होने वाला है, उसको रोकने में जिनेश्वर भी समर्थ नहीं है।''

(गा. 74 से 93)

तत्पश्चात् वह दुष्ट कल्की सर्व पाखंडियों के पास से कर लेगा। वे उसे देंगे। क्योंकि वे तो सारंभी परिग्रही होते हैं। उसके बाद वह लुब्ध कल्की 'अन्य पाखंडी कर देते हैं, तो तुम क्यों नहीं देते?' ऐसा कहकर साधुओं को भी कर देने को कहेगा। साधुगण उसे कहेंगे कि ''राजन् हम तो निष्कंचन हैं और भिक्षा जीवी हैं, तो हम धर्मलाभ के अतिरिक्त तुमको क्या दें? पुराणों में कहा है कि ''ब्रह्मनिष्ठ तपस्वियों का रक्षण करने वाले राजा को उनके पुण्य का छट्ठा भाग मिलता है, इसलिए हे राजन्! इस दुष्कृत्य से विराम लो। तुम्हारा यह व्यवसाय

शहर और देश के लिए अशुभ का द्योतक है।'' इस प्रकार मुनियों के वचन सुनकर कल्की उसी क्षण कुपित होगा और भृकुटी चढ़ाकर, विकराल मुख करके यमराज जैसा भयंकर दिखाई देगा। उस समय नगरदेवता उसे कहेंगे कि 'अरे कल्की! क्या तेरी मरणेच्छा है कि जिससे तू इन मुनियों से द्रव्य की याचना कर रहा है? देवता के इन वचनों से सिंह नाद से हस्ती के समान भयभीत हुआ कल्की नमस्कार पूर्वक उन मुनियों से क्षमायाचना करेगा। उसके पश्चात् कल्की राजा के नगर में भय सूचित करने वाले भयंकर उत्पात प्रतिदिन होने लगेगा। सत्तरह दिन तक लगातार मेघवृष्टि होगी। फलस्वरूप गंगा का प्रवाह विस्तृत होकर कल्की के नगर को डुबा देगा। उस समय मात्र प्रातिपद नामक आचार्य, कितनेक संघ के लोग, कुछ नगर जन और कल्की राजा उच्च स्थल पर चढ़ जाने से बच जायेंगे। शेष गंगा जल के प्रसारित प्रवाह में अनेक नगरवासी डूब कर मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। जब जल का उपद्रव शांत हो जाएगा, तब वह कल्की नंद के द्रव्य से पुनः नया नगर बसायेगा। उसमें अच्छे अच्छे मकान बंधायेगा। साधुगण विहार करेंगे। समयानुसार धान्य की उत्पत्ति के कारणभूत मेघ बरसेगी। एक दमडे में कुंभ भरकर धान्य देगे, तो भी लोग धान्य खरीदेगे नहीं। इस प्रकार कल्की के राज्य में पचास वर्ष तक सुभिक्ष रहेगा। ऐस करते करते जब कल्की की मृत्यु का समय नजदीक आएगा, तब वह पुनः पाखंडियों को वेश छुड़ा देगा एवं बहुत उपद्रव करेगा। संघ के सहित प्रातिपद आचार्य को गाय के वाड़े में भरकर उनके पास यह दुराशय भिक्षा का छट्ठा भाग मांगेगा। तब संघ शक्रेन्द्र की आराधना करने के लिए कायोत्सर्ग करेंगे। उस समय शासनदेवी प्रकट होकर कहेगी कि, हे कल्की! यह तेरा कार्य तेरी कुशलता के लिए नहीं है।' संघ के द्वारा किये कायोत्सर्ग के प्रभाव से इंद्र का आसन चलित होने पर वे वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके वहाँ आयेंगे। तब सभा के मध्य विशाल सिंहासन पर बैठे कल्की को शक्रेन्द्र कहेंगे कि, ''हे राजन्! तुमने इन साधुओं को बाड़े में क्यों भरा हैं? कल्की कहेगा कि, ''हे वृद्ध! ये सब मेरे नगर में रहने पर भी मुझे भिक्षा में से छट्ठा भाग भी कर रूप से नहीं देते। अन्य सर्व पाखंडी भी मुझे कर देते हैं और ये साधु देते नहीं हैं। इसलिए मैंने इनको किल्ले की तरह गायों के वाडों में भर दिया है। तब शक्रेन्द्र कहेगा कि ''इसके पास तो कुछ भी नहीं है, और ये एक अंश भी अपनी भिक्षा में से कभी भी किसी को नहीं देते। इन भिक्षुकों के पास से भिक्षा का अंश मांगते

तुझे शर्म क्यों नहीं आती ? इन सबको तू छोड़ दे अन्यथा तू बड़े अनर्थ को प्राप्त होगा। इंद्र के ऐसे वचन से कल्की कोपायमान होकर कहेगा कि, 'अरे सुभटों! इस ब्राह्मण को गले से पकड़ कर निकाल दो।' ऐसा उसके बोलते ही इंद्र पाप के पर्वत स्वरूप उस कल्की को चांटा मारकर भस्म कर देगा। तब छिंयासी वर्ष की आयुष्य पूर्ण करके कल्की दुरंत ऐसी नारकभूमि में नारकी रूप में उत्पन्न होगा। तब शक्रेन्द्र कल्की के दत्त नाम के कुमार को जैन धर्म की शिक्षा देकर राज्य सिंहासन पर बैठाकर, संघ को नमन करके अपने स्थान पर चला जाएगा। दत्त राजा पिता को प्राप्त पाप का घोर फल और इंद्र प्रदत्त शिक्षा का बारम्बार स्मरण करके पृथ्वी को अरिहंत प्रभु के चैत्यों से विभूषित कर देगा। पश्चात् पांचवे आरे के अंत तक जैन धर्म की प्रवृत्ति निरंतर रहेगी।

(गा. 94 से 122)

तीर्थंकर के समय में यहाँ भरत क्षेत्र में ग्राम, खान और नगरों से आकुल और धन धान्य आदि समृद्धि से भरपूर स्वर्गपुरी जैसे, कुटुम्बीजन राजा तुल्य राजा कुबेर भंडारी समान, आचार्य चंद्र समान, पिता देव तुल्य सास माता समान एवं श्वसुर पिता जैसे होते हैं। लोग सत्य तथा शौच में तत्पर, धर्माधर्म के ज्ञाता, विनीत, गुरुदेव के पूजक और अपनी स्त्री में संतुष्ट होते हैं। फिर लोग विज्ञान, विद्या और कुलवान् होते है। परचक्र, इति और चोर लोगोंका भय नहीं होता। साथ ही नया कोई कर लगता नहीं। ऐसे समय में भी अर्हन्त की भक्ति के ज्ञाता न होने से साथ ही विपरीत वृत्तिवाले कुतीर्थियों से मुनि आदिक को उपसर्ग आदि होते हैं और दस आश्चर्य भी हुए हैं।

(गा. 123 से 129)

उसके पश्चात् दुःषमा काल में अर्थात् पंचम आरे में सर्व जन कषायों से लुप्त हुई धर्मबुद्धिवाले और बाड़ बिना का खेत की भूमि जैसे मर्यादा रहित होंगे। जैसे जैसे आगे काल व्यतीत होगा वैसे वैसे लोग कुतीर्थियों द्वारा मोहित बुद्धिवाले एवं अहिंसादिक से वर्जित होंगे। वैसे ही गांव श्मशान तुल्य, शहर प्रेतलोक समान, कुटुम्बी दास जैसे एवं राजा यमदंड सदृश होंगे। राजागण लुब्ध होकर अपने सेवकों का निग्रह करेंगे। सेवकगण अपने स्वजनों को लूटेंगे। इस प्रकार मत्स्य न्याय (जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खाय वैसे) प्रवर्तेगा। जो अन्त्य होगा वह मध्य में आ जायेगे। श्वेत चिह्न वाले वाहनों से सर्व देश

चलायमान हो जायेगे, चोर चोरी से, राजा कर से, और भूत भरे हों वैसे अधिकारी गण रिश्वत लेकर सर्व प्रजा को पीड़ित करेंगे। लोग स्वार्थ में तत्पर, पदार्थ से विमुख एवं सत्य, लज्जा तथा दाक्षिण्यता से रहित, साथ ही स्वजनों के विरोधी होंगे। शिष्य गुरु की आराधना नहीं करेगे। गुरुजन भी शिष्यभाव नहीं रखेंगे एवं उनको उपदेश द्वारा श्रुत ज्ञान नहीं देंगे। अनुक्रम से गुरुकुल में वास करना बंद करना पड़ेगा। देवगण प्रत्यक्ष नहीं होंगे। पुत्र पिता की अवज्ञा करेंगे, बहुएँ सर्पिणी जैसी होगी एवं सासुएं काल रात्रि जैसी होंगी।

(गा. 130 से 139)

कुलीन स्त्रियाँ भी लज्जा छोड़कर दृष्टि के विकार से, हास्य से, आलाप अथवा अन्य प्रकार के विलासों से वेश्या का अनुसरण करेगी। श्रावक और श्राविकापने में हानि होगी। चतुर्विध धर्म का क्षय होगा। साधु साध्वी को पर्व दिन में या स्वप्न में भी निमन्त्रण नहीं होगा। खोटे तोले–माप चलेंगे। धर्म में भी शठता होगी एवं सत्पुरुष दुःखी एवं दुर्जन सुखी रहेंगे। मंत्र, मणि, औषधि, तंत्र, विज्ञान, धन, आयुष्य, फल, पुष्प, रस, रूप, शरीर की ऊँचाई, धर्म एवं अन्य शुभ भावों की पाँचवें आरे में प्रतिदिन हानि होगी। इसके पश्चात् छठे आरे में तो अत्यधिक हानि होगी। इस प्रकार पुण्य के क्षय वाला काल प्रसारित होने पर जिसकी बुद्धि धर्ममय रहेगी, उसका जीवन सफल होगा। इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल में अंतिम दुःप्रसह नामक आचार्य, फल्गु श्री साध्वी, नागिल नाम का श्रावक एवं सत्यश्री नामकी श्राविका, विमलवाहन नामक राजा एवं सम्मुख नामक मंत्री होगा। दो हाथ प्रमाण शरीर होगा। बीस वर्ष का उत्कृष्ट आयुष्य होगा। दुःप्रसहादि चारों से उत्कृष्ट छठ का तप कर सकेंगे। दशवैकालिक के वेत्ता, वे चौदह पूर्वधर की सम गणना होगी। ऐसे मुनि दुःप्रसहसूरि पर्यन्त संघरूप तीर्थ को प्रतिबोध करेंगे। इस कारण जो कोम धर्म नहीं करती उसे संघ से बाहर कर देना। दुःप्रसहाचार्य बारह वर्ष गृहवास में एवं आठ वर्ष दीक्षा में निर्गमन करके अंत में अट्ठम तप करके मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प में जायेंगे। उस दिन पूर्वाह्न में चारित्र का, मध्याह्न में राजधर्म का तथा अपराह्न में अग्नि का उच्छेद हो जायेगा।

इस प्रकार इक्कीस हजार वर्ष का प्राणवाला दुषमकाल व्यतीत होने के पश्चात् उतने ही प्रमाणवाला एकान्त दुःषम दुःषम काल प्रवर्तेगा। उस समय

धर्मतत्त्व नष्ट हो जाने पर हाहाकार हो जाएगा। पशु की भांति माता पुत्र की व्यवस्था। मनुष्यों में भी रहेगी नहीं। रात्रि–दिवस कठोर एवं अत्यन्त रजवाला अनिष्ट पवन चलता रहेगा। इसी प्रकार दिशाएँ धूम्रवर्णी होने से भयंकर लगेगी। चंद्र से अत्यन्त शीतलता प्रसरेगी एवं सूर्य अति उष्णता से तपेगा। अति शीत और अति उष्णता से पराभव प्राप्त मनुष्य अत्यन्त क्लेश को प्राप्त होंगे। उस समय विरस हुए मेघ क्षार, आम्ल, विष, अग्नि और वज्रमय होकर उस उस रूप से वृष्टि करेंगे। फलस्वरूप लोगों में कास, श्वास, शूल, कष्ट, कूष्ट, जलोदर, ज्वर शिरोव्यथा एवं दूसरे भी कितनेक रोग उत्पन्न होंगे। जलचर, खेचर, स्थलचर तिर्यंच महादुःख से रहेंगे। क्षेत्र, वन, आराम, लता, वृक्ष और घास का क्षय हो जाएगा। वैताढ्यगिरि, ऋषभकूट, एवं गांगा तथा सिंधु नदी के अतिरिक्त दूसरे सर्व पर्वत खड्डे एवं नदियाँ सपाट हो जाएगी। भूमि अंगारे के भाठे जैसी भस्मरूप होगी। साथ ही किसी स्थान पर अतिधूल वाली और किसी स्थान पर अत्यन्त कीचड़ वाली होगी। मनुष्यों का शरीर एक हाथ के प्रमाणवाले और अशुभवर्ण वाले होंगे। रोगार्त्त, क्रोधी, लम्बी दिखने वाली चपटी नासिका वाली, निर्लज्ज और वस्त्र रहित होगी। पुरुषों का आयुष्य उत्कृष्ट बीस वर्ष का और स्त्रियों का सोलह वर्ष का होगा। उस समय स्त्री छः वर्ष की वय में गर्भ धारण करके दुःखपूर्वक प्रसव करेगी। सोलह वर्ष में तो बहुत पुत्र, पौत्रवाली हो जाएगी और वृद्धा हो जाएगी। वैताढ्यगिरि के दोनों ओर नव नव बिल होंगे, कुल बहत्तर बिल हैं, उनमें वे रहेंगे। तिर्यञ्च जाति मात्र बीज रूप में ही रहेगी। उस विषमकाल में सर्व मनुष्य और पशु मांसाहारी, क्रूर और निर्दयी निर्विवेकी होंगे। गंगा और सिंधु का प्रवाह बहुत से मत्स्य वाला और मात्र रथ के पहिये जितने होंगे। उसमें से लोग रात्रि में मछली निकाल कर स्थल पर रख देंगे, जो कि दिन में सूर्य के ताप से पक जाएंगे। वे रात्रि में उसका भक्षण करेंगे। इस प्रकार उनका निर्वाह चलेगा। क्योंकि उस समय दूध, दहीं आदि रसवाले पदार्थ, पुष्प, फल या आम्र आदि कुछ भी उपलब्ध नहीं होंगे। साथ ही शय्या आसनादि भी रहेगे नहीं। भरत, ऐरावत नाम के दसों ही क्षेत्र में इसी प्रकार पहला दुषम दुःषमा काल में और बाद में दूसरा दुःषम काल में दोनों इक्कीस हजार तक रहेंगी। अवसर्पिणी में जैसे अन्त्य (छट्ठा) और उपांत्य (पांचवाँ) ये दो आरे होते हैं, वैसे ही उत्सर्पिणी में दुःषमा दुःषमा काल (अवसर्पिणी में छठे जैसा पहला आरा) के अंत समय में भिन्न भिन्न पांच जाति के मेघ सात सात

दिन तक बरसेंगे। उसमें पहला पुष्कर नामका मेघ बरस कर पृथ्वी को तृप्त कर देगा। दूसरा क्षीर मेघ धान्य उत्पन्न करेगा, तीसरा धृत मेघ स्नेह (चिकनाहट) रस मय पैदा करेंगे। चौथा अमृतमेघ औषधियों को उत्पन्न करेगा। पाँचवाँ रस मेघ पृथ्वी को रस मय बना देगे। इस प्रकार पैंतीस दिन तक शांतरूपी दुर्दिन वृष्टि होगी। फिर वृक्ष, औषधी, लता, वल्ली आदि हरी वनस्पतियाँ देखकर बिल में रहने वाले मनुष्य हर्षित होकर बाहर निकलेंगे। तब से यह भारतभूमि पुष्प फलवती होगी। पश्चात् मनुष्य मांस भक्षण नहीं करेंगे। मांस खाना छोड़ देंगे। फिर जैसे जैसे काल में वृद्धि होगी वैसे वैसे मनुष्यों के रूप में, शरीर के जोड़ो में, आयुष्य में, धान्य आदि में भी वृद्धि होती चली जाएगी। अनुक्रम से सुखकारी पवन चलेगी, ऋतुएँ अनुकूल होंगी, नदियों में जल की वृद्धि होगी, तिर्यञ्च और मनुष्य निरोगी होने लगेंगे। दुषमा काल को (उत्सर्विणी के दूसरे आरे में) अंत में इस भरतवर्ष की भूमि पर सात कुलकर होंगे। पहला विमलवाहन, दूसरा सुदाम, तीसरा संगम, चोथा सुपार्श्व, पाँचवाँ दत्त, छट्ठा सुमुख और सातवाँ संमुचि। उसमें से पहले विमलवाहन जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अपने राज्य में बड़े बड़े गाँव और शहर बसायेंगे गाय, हाथी और अश्वों का संग्रह करेंगे। साथ ही शिल्प, व्यापार, लिपि, और गणितादि का व्यवहार लोगों में चलाएंगे। उसके पश्चात् जब दूध, दहीं, धान्य और अग्नि उत्पन्न होगी तब वह प्रजा हितेच्छु राजा लोगों को अन्न पका कर खाने का उपदेश देगा।

(गा. 140 से 185)

इस प्रकार जब दुःषमकाल व्यतीत होगा, तब शतद्वार नामक नगर में संमुचि नामक सातवें कुलवान की भार्या भद्रा देवी की कुक्षि में श्रेणिक का जीव पुत्ररूप से उत्पन्न होगा। आयुष्य और शरीर आदि में मेरे ही समान पद्मनाभ नाम के पहले तीर्थंकर होंगे। सुपार्श्व का जीव शूरदेव नाम के दूसरे तीर्थंकर होंगे। पोट्टिल का जीव सुपार्श्व नाम के तीसरे, द्रढ़ायु का जीव स्वयंप्रभ नामके चौथे, कार्तिक शेठ का जीव सर्वानुभूति नाम के पांचवे, शंख श्रावक का जीव देवश्रुत नाम के छठे, नंद का जीव उदय नाम के सातवें, सुनंद का जीव पेढाल नाम के आठवें, कैकसी का जीव पौट्टिल नामके नवें, रेवती का जीव शतकीर्ति नामके दसवें, सत्यकि का जीव सुव्रत नामके ग्यारहवें, कृष्ण वासुदेव का जीव अमम नामके बारहवें, बलदेव का जीव अकषाय नामके तेरहवें, रोहिणी का जीव निष्पुलाक नामके चौदहवें, सुलसा का जीवनिर्मम नामके पंद्रहवें, रेवती

का जीव चित्रगुप्त नामके सोलहवें, गवालि का जीव समाधि नाम के सत्तरहवें, गार्गलु का जीव संवर नाम के अठारहवें, द्वीपायन का जीव यशोधर नाम के उन्नीसवें, कर्ण का जीव विजय नामके बीसवें, नारद का जीव मल्ल नाम के इक्कीसवें, अंबड का जीव देव नाम के बाइसवें बारहवां चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जीव अनंतवीर्य नाम के तेवीसवें और स्वाति का जीव भद्रकृत नाम के चौवीसवें तीर्थंकर होंगे।

(गा. 186 से 200)

इसी समय में दीर्घदंत, गूढदंत, शुद्धदंत, श्रीचंद्र, श्रीभूति, श्रीसोम, पद्म, महापद्म, दशम, विमल, विमलवाहन और अरिष्ट ये बारह चक्रवर्ती होंगे। नंदी, नंदिमित्र, सुंदरबाहु, महाबाहु, अतिबल, महाबल, बल, द्विपृष्ट और त्रिपुष्ट ये नौ अर्धचक्री (वासुदेव) होंगे। जयंत, अजित धर्म सुप्रभ, सदर्शन, आनंद, नंदन, पद्म और संकर्षण ये नौ बलराम होंगे और तिलक, लोहजंघ, वज्रजंघ, केशरी, बलि, प्रहल्हाद, अपराजित, भीम और सुग्रीव ये नौ प्रतिवासुदेव होंगे। इस प्रकार उत्सर्पिणी काल में त्रिषष्टि शलाका पुरुष होंगे।''

(गा. 201 से 207)

प्रभु के इस प्रकार कहने के पश्चात् श्री वीर प्रभु को सुधर्म गणधर ने पूछा कि 'हे स्वामिन् केवल ज्ञान रूपी सूर्य कब और किसके पश्चात् अस्त होगा? प्रभु ने फरमाया– 'मेरे मोक्षगमन के पश्चात् कितनेक काल में जंबू नामक तुम्हारे शिष्य अंतिम केवली होंगे। उसके पश्चात् केवल ज्ञान का उच्छेद हो जाएगा। केवलज्ञान के उच्छेद हो जाने पर मनः पर्यवज्ञान भी नहीं होगा। पुलाकलब्धि, या परमावधि ज्ञान भी नहीं होगा। श्रेणी और उपशम श्रेणी का भी विनाश हो जाएगा। साथ ही आहारक शरीर, जिनकल्प और त्रिविध संयम (परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र) भी नहीं रहेंगे। उनके शिष्य प्रभव चौदह पूर्वधर होंगे और उनके शिष्य शय्यंभव भी द्वादशांगी के पारगामी होगे। वे पूर्व में से उद्धार करके दशवैकालिक सूत्र की रचना करेंगे। उनके शिष्य यशोभद्र सर्वपूर्वधारी होंगे एवं उनके शिष्य संभूति विजय के शिष्य भद्रबाहू भी चौदहपूर्वी होंगे। संभूतिविजय के शिष्य स्थूलभद्र चौदहपूर्वी होंगे। उसके पश्चात् अंतिम चार पूर्व का उच्छेद हो जाएगा। उसके पश्चात् महागिरि और सुहस्ति से वज्रस्वामी तक इस तीर्थ प्रवर्त्तक दस पूर्वधर होंगे।'' इस प्रकार

भविष्य की हकीकत कथन करके श्री वीरप्रभु समवसरण में से बाहर निकले और हस्तिपाल राजा की शुल्क शाला में पधारे।

(गा. 208 से 217)

उस दिन की रात्रि में ही अपना मोक्ष जानकर प्रभु ने विचार किया कि, 'अहो! गौतम का स्नेह मुझ पर अत्याधिक है और वही उसके केवलज्ञान की उत्पत्ति में अंतराय करता है, इसलिए उस स्नेह का ही छेद कर देना चाहिये। ऐसा विचार करके उन्होंने गौतम से कहा गौतम यहाँ से नजदीक के दूसरे गाँव में देवशर्मा नाम का ब्राह्मण है, वह तुमसे प्रतिबुद्ध होगा, अतः तुम वहाँ जाओं।' यह सुनकर 'जैसी आपकी आज्ञा' ऐसा कहकर गौतम वीरप्रभु को नमन करके शीघ्र ही वहाँ गए और प्रभु के वचन को सत्य किया अर्थात् उसे प्रतिबोध दिया।

(गा. 218 से 221)

इधर कार्तिक मास की अमावस को पिछली रात्रि में चंद्र के स्वाति नक्षत्र में आने पर छठ तप के धारी वीरप्रभु ने पचपन अध्ययन पुण्य फल विपाक संबंधी और पचपन अध्ययन पाप फल विपाक संबंधी कथन किया। पश्चात् छत्तीस अध्ययन अप्रश्नव्याकरण और किसी के पूछे बिना कहकर, अंतिम प्रधान नाम का अध्ययन फरमाने लगे। उस समय आसन कंपन से प्रभु का मोक्ष समय ज्ञात होने पर सर्व सुर और असुर के इंद्र परिवार सहित वहाँ आए। पश्चात् अश्रुपूरित नेत्रों से शक्रेन्द्र ने प्रभु को नमन करके अंजलीबद्ध होकर संभ्रमित होकर कहा – "नाथ! आपके गर्भ, जन्म दीक्षा और केवलज्ञान के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र था, इस समय उसमें भस्मकग्रह भी संक्रात होने वाला है। आपके जन्म नक्षत्र में संक्रमित वह ग्रह दो हजार वर्ष तक आपकी संतान (साधु साध्वी) को बाधा उत्पन्न करेगा। वह भस्मकग्रह आपके जन्मनक्षत्र में संक्रमें तब तक आप राह देखे क्योंकि यदि दृष्टि पचमें संक्रमित होने पर आपके प्रभाव से निष्फल हो जाएगा। यदि अन्य भी आपको हृदय में धारण करते हैं तो उनके कुस्वप्न, अपशकुन, एवं कुग्रह भी श्रेष्ठरूप हो जाते हैं। अतः हे स्वामिन्! जहाँ आप साक्षात् ही रहे हों, वहाँ तो बात ही क्या करनी? अतः प्रभु आप प्रसन्न होकर ठहरें तो उस उपग्रह का उपशम हो जाय।" प्रभु ने कहा– "हे शक्रेन्द्र! आयुष्य बढ़ाने में कोई भी समर्थ नहीं है। वह तुम भी जानते हो, फिर भी तीर्थ

प्रेम से मोहित होकर ऐसा कैसे कह रहे हो? आगामी दुःषमकाल की प्रवृत्ति से ही तीर्थ को बाधा होने ही वाली है। उसमें भवितव्यता का अनुसरण करके इस भस्मक ग्रह का उदय हुआ है।'' इस प्रकार इंद्र को समझाकर साढ़े छः महिने कम तीस वर्ष पर्यन्त केवलपर्याय पालकर पर्यंकासन में बैठकर प्रभु ने बादरकाय में रहकर बादर मनयोग और बादर काययोग का निरोध किया। पश्चात् सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर योग विचक्षण प्रभु ने बादर काययोग का भी निरोध कर दिया। पश्चात् वाणी और मन के सूक्ष्मयोग भी रोका। इस प्रकार सूक्ष्म क्रिया वाला तीसरा शुक्लध्यान प्राप्त किया। फिर सूक्ष्म तनुयोग का भी रोध करके जिसमें सर्व क्रिया का अच्छेद होता है वैसे समुच्छिन्न नामक चौथे शुक्लध्यान को धारण किया। पश्चात् पांच ह्रस्वाक्षर का उच्चार करके उतने कालमान वाले अव्यभिचारी शुक्लध्यान के चौथे पाये द्वारा एरंड के बीज के समान कर्मबंध रहित हुए प्रभु ने यथास्वभाव ऋतुगति द्वारा उर्ध्वगमन करके मोक्ष को प्राप्त किया। उस समय जिनको कभी एक लवमात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता, ऐसे नारकियों को भी क्षणमात्र सुख हुआ। उस समय चंद्र नामका संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नामक मास नंदिवर्धन नामका पक्ष एवं अग्निवेश नामका दिवस था। जिसका दूसरा नाम उपशम था। उस रात्रि का नाम था देवानंदा। उसका दूसरा नाम निरति भी था। उस समय अर्च नामका लव, शुंद्र नामका प्राण, सिद्ध नाम का स्तोक और सर्वार्थ सिद्ध नाम का मुहूर्त और साथ नाग नामक करण था। उस समय उद्धरी न सके ऐसे अतिसूक्ष्म कुंथुए उत्पन्न हो गए। वे स्थिर हों तब भी दृष्टिग्राह्य होते नहीं थे। जब हिलते चलते थे, तब ही दृष्टिगत होते थे। यह देखकर 'अब संयम पालन अति कठिन है' ऐसा विचार करके अनेक साधुओं एवं साध्वियों ने अनशन कर लिया, प्रभु के निर्वाण का समय जानकर उस समय भाव दीपक का उच्छेद होने से सर्व राजाओं ने द्रव्य दीपक किये। तब से ही लोक में दीपोत्सवी पर्व का प्रवर्तन हुआ। अद्यापि उस रात्रि में लोग दीपक करते हैं।

(गा. 222 से 248)

उस समय जगद्गुरु के शरीर को देवताओं ने अश्रूपूरित नेत्रों प्रणाम किया और स्वयं अनाथ हो गये, उसका शोक होने पर भी खड़े रहे गये। शक्रेन्द्र ने धैर्य धारण करके नंदनवन आदि स्थानाकों से देवताओं से गौशीर्ष चंदन के काष्ट मंगवाये और उनसे एक चिता रची। क्षीरसागर के जल से प्रभु के शरीर को स्नान कराया और इंद्र ने स्वयं के हाथों से दिव्य अंगराग द्वारा

विलेपन (किया। पश्चात् दिव्य वस्त्र ओढ़ाकर मानो नयनाश्रु से पुनः स्नान करा रहे हों वैसे अश्रुपूरित नेत्रों से शक्रेन्द्र ने प्रभु के शरीर को उठाया और सुरासुरों ने साश्रुनयनों से देखते हुए उसे एक श्रेष्ठ विमान जैसी शिबिका में पधराया। महाप्रयास से शोक को अवरुद्ध करके प्रभु के शासन को धारण करे वैसे बंदीजनों के समान जय जय ध्वनि करते हुए उसके ऊपर दिव्य पुष्पों की वृष्टि करने लगे। साथ ही अपने नेत्रकमल के जल के समान सुगंधित जल की वृष्टि से चारों ओर भूमितल पर सिंचन करने लगे। गंधर्व देव प्रभु के गुणों को बारम्बार स्मरण करके गंधर्वों की भांति तारस्वर से गाने लगे। सैंकड़ों देवता मृदंग और पणव आदि वाद्यों को शोक से अपने उरस्थल के समान ताड़न करने लगे। प्रभु की शिबिका के आगे शोक से स्खलित होती हुई देवांगनाएँ अभिनव नर्तकियों के जैसे नृत्य करती हुई चलने लगी। चतुर्विध देवता दिव्य रेशमी वस्त्रों से, हारादि आभूषणों से एवं पुष्प मालाओं से प्रभु की शिबिका का पूजन करने लगे एवं श्रावक तथा श्राविकाएं के हृदय में शोक से आकुल व्याकुल होकर रासड़ा के गीत और रुदन करने लगी। उस समय साधु और साध्वियों के हृदय में शोक ने बड़ा स्थान ले लिया। ''सूर्यास्त होने पर गाढ़ निद्रा प्राप्त ही होती है।'' तत्पश्चात् शोकरूपी शंकु से विदार्ण हृदय वाले इंद्र ने प्रभु के शरीर को चिता पर रखा। अग्निकुमार देवों ने उसमें अग्नि प्रज्वलित की एवं उसमें ज्योति प्रदीप्त करने के लिए वायुकुमारों ने वायु की विकुर्वणा की। अन्य देवताओं ने सुगन्धित *पदार्थ एवं धृत तथा मधु के सैंकड़ों घड़े अग्नि में प्रक्षिप्त किया। जब प्रभु के* शरीर में से मांसादिक दग्ध हो गए तब मेघकुमार देवों ने क्षीर सागर के जल द्वारा चिता को ठंडी कर दी। तब शक्र और ईशान इंद्र ने प्रभु के ऊपर की दक्षिण और वाम दाढ़ों को लिया और चमरेन्द्र ने तथा बलिन्द्र ने नीचे की दो दाढ़ें ग्रहण की। अन्य इंद्रों एवं देवों ने अन्य दांत और अस्थि ग्रहण की। उसके पश्चात् देवों ने चिता के स्थान पर कल्याण और संपत्ति के स्थानरूप एक रत्नमय स्तूप रचा।

(गा. 249 से 269)

इस प्रकार श्री वीरप्रभु की निर्वाण की महिमा करके सर्व इन्द्र तथा देवगण नंदीश्वर द्वीप गये वहाँ शाश्वत प्रतिमाओं का अष्टान्हिक महोत्सव किया।

फिर अपने अपने स्थान पर जाकर अपने अपने विमान में मणिमय (माणवक) स्तंभ के ऊपर स्थित वज्रमय गोल डिब्बे में प्रभु दाढ़ों एवं अस्थि की स्थापना की।

(गा. 270 से 272)

गृहस्थपने में तीस वर्ष और व्रत में बियालीस वर्ष इस प्रकार बहत्तर वर्ष की आयु श्री वीरप्रभु ने पूर्ण की। श्री पार्श्वप्रभु के निर्वाण के पश्चात् ढाई सौ वर्ष व्यतीत होने पर श्री वीरप्रभु का निर्वाण हुआ।

(गा. 273)

इधर श्री गौतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध करके वापिस लौटने लगे, तब मार्ग में देवताओं के वार्तालाप से प्रभु के निर्वाण के विषय में सुना। इस पर वे चित्त में चिंतन करने लगे कि ''एक दिन में ही निर्वाण होने पर भी प्रभो! मुझे किस लिए दूर भेजा? अरे जगत्पति! मैंने इतने समय तक आपकी सेवा की। परंतु अंतसमय में मुझे आपके दर्शन हुए नहीं, अतः मैं अधन्य हूँ। जो उस समय आपकी सेवा में हाजिर थे, वे धन्य हैं। अरे गौतम! तू वास्तव में वज्रमय है, या वज्र से भी अधिक कठिन है कि जिससे प्रभु का निर्वाण सुनकर भी तेरे हृदय के सैंकड़ों टुकडे नहीं हो जाते। अथवा हे प्रभो! मैं अभी से भ्रांत हो गया हूँ कि जिससे इन निरागी और निर्मम ऐसे प्रभु में मैंने राग और ममता रखी। यह राग और द्वेष आदि संसार के हेतु हैं। इसका त्याग कराने के लिए ही इन परमेष्ठी ने मेरा त्याग किया होगा। इसलिए ऐसे ममत्व रहित प्रभु में ममता रखने से क्या मतलब? क्योंकि मुनियों को तो ममतालु पर भी ममता रखना युक्त नहीं है। इस प्रकार शुभ ध्यान परायण होने पर गौतम मुनि क्षपक श्रेणी पर आरुढ हुए। तब शीघ्र ही घातिकर्मों का क्षय होने पर उनको केवलज्ञान केवल दर्शन हो गया। पश्चात् बारह वर्ष तब पृथ्वी पर विहार किया और भव्यप्रणियों को प्रतिबोध देकर केवलज्ञानरूप अचल समृद्धि से प्रभु के तुल्य देवताओं से पूजित गौतम मुनि प्रांते राजगृही नगरी में पधारे। वहाँ एक मास का अनशन करके भवोपग्रही कर्मों को खपाकर, अक्षय सुख वाले मोक्षपद को प्राप्त किया। गौतम स्वामी के मोक्ष में जाने के पश्चात् पांचवे गणधर सुधर्मास्वामी ने पंचमज्ञान उपार्जन करके बहुत काल पर्यन्त पृथ्वी पर विचरण करके धर्म देशना दी। अंत में वे राजगृही नगरी में पधारे एवं अपने निर्दोष संघ को

जंबूस्वामी के स्वाधीन कर दिया। तत्पश्चात् सुधर्मा गणधर भी उस ही नगर में अशेष (अष्ट) कर्म को खपाकर चौथा ध्यान ध्याते हुए अद्वैत सुखवाले स्थान को प्राप्त किया। उसके बाद चरम केवली श्री जंबूस्वामी ने भी वीर भगवंत के शासन में अग्रणी होकर अनेक वर्षों तक भव्य जनों को धर्मोपदेश देकर अंत में मोक्ष पधारे।

(गा. 274 से 284)

ग्रथंकार का कथन है कि ''त्रैलोक्य में भी सात्विक पुरुषों में परम श्रेष्ठ ऐसे और जिन्होंने सर्व पापों का नाश किया है ऐसे श्री महावीर जिनेश्वर का पूर्वजन्म से लेकर मोक्षप्राप्ति पर्यन्त समस्त चरित्र कहने में कौन समर्थ हो सकता है ? तथापि प्रवचनरूप समुद्र में से लव मात्र ग्रहण करके मैंने स्वपर उपकार की इच्छा से यहाँ किंचित् कीर्त्तना की है।''

(गा. 285)

इति. श्री हे. विरचित त्रि. महा. दशम पर्व में महावीर निर्वाण गौतम सुधर्मा जंबू मोक्ष गमन वर्णन नामक त्रयो दशसर्गः

ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति

महामुनि जंबूस्वामी के प्रभव नाम के शिष्य हुए, उनके शिष्य यशोभद्र हुए, उनके संभूति एवं भद्रबाहू दो उत्तम शिष्य हुए। उनमें जो संभूति मुनि थे, उनके चरणकमल में भ्रम रूप श्री स्थूलभद्र नाम के शिष्य हुए। वंश परंपरा से आए चौदह पूर्व रूपी रत्न भंडार जैसे उन स्थूल भद्र मुनि के महर्षि महागिरि नामके सर्व से बड़े शिष्य हुए जो कि स्थिरता में मेरु समान एवं विशिष्ट लब्धियों से युक्त थे। दूसरे शिष्य दश पूर्वधर, मुनियों में श्रेष्ठ सुहस्ती नाम के हुए। जिनके चरणकमल की सेवा से प्रबुद्ध रूपी विपुल समृद्धि प्राप्त करके संप्रति नाम के राजा ने इस भरतार्द्ध में प्रत्येक गांव में, प्रत्येक आकर में चारों तरफ इस प्रकार समग्र पृथ्वी मंडल को जिनचैत्यों से मंडित कर दिया। उस आर्य सुहस्ती महामुनि के सुस्थित सप्रतिबुद्ध नाम के शिष्य हुए जो कि समतारूपी धनवाले, दश पूर्वधर और संसार रूप महावृक्ष को भंग करने में हस्ती के समान महर्षियों ने जिनके चरणों की सेवा की है ऐसे उस मुनि से कोटिक नामक एक महान गण लवण समुद्र तक प्रसरित हुआ। उस कोटिक गण में कितनेक उत्तम साधु हुए। अंतिम दशपूर्वधर लब्धि ऋद्धि से संपन्न तुंबवनपत्तन में जन्में वज्र समान वज्रसूरि हुए। उनके समय में जब प्रलय काल के जैसा भयंकर अकाल (१२ वर्ष) का पड़ा, तब निःसीम तलवाले निधि रूप उन वज्रसूरि ने चारों तरफ से भयभीत संघ को विद्या से अभिमंत्रित वस्त्र पर बिठाकर अपने कर कमल से उठाकर आकाशमार्ग में सुभिक्ष के धामरूप महापुरी में ले गये थे। उन वज्रसूरि से कोटिक गण रूप वृक्ष के अंदर से उच्च नागरिका प्रमुख तीन शाखा वज्री नामक चौथी शाखा निकली। उस वज्रशाखा में से मुनि रूप भ्रमर जिसमें लीन हुए हैं, ऐसी चंद्र नामका पुष्प के गुच्छ जैसा गच्छ प्रवर्तमान हुआ। उस गच्छ में

धर्मध्यान रूप आकाश में चंद्र के समान, निर्मल गंथार्थ के रत्नाकर भव्य प्राणी रूप कमल में सूर्य समान, कामदेव रूप हस्ती को मथन करने में केशरीसिंह रूप, संयमरूप धनवाले और करुणा के राशिरूप श्री यशोधर नामके सूरिवर हुए कि जिन्होंने अपने उज्ज्वल यश से इस जगत को परिपूर्ण कर दिया। उन सूरीश्वर ने श्री नेमिप्रभु जी ने जिसका शिखर पवित्र किसा ऐसे रैवतगिरि पर संलेखना करके अनशन ग्रहण किया। उसमें उन्होंने शुभध्यान पूर्वक तेरह दिन तक शांत मन में स्थिर रहकर सर्व को आश्चर्य उत्पन्न करके पूर्व महर्षियों की संयम कथाओं को सत्य करके बता दिया।

(गा. 1 से 11)

उनके शिष्य प्रद्युम्नसूरि हुए। अनेक जीवों को प्रतिबोध करने वालें और सर्व विश्व में अपने गुणगण को प्रख्यात करनेवाले उन सूरीश्वर ने श्रमण विषय में अमृत तुल्य ऐसा बीस स्थानक तप करके, प्रवचन रूप समुद्र में से निकले अर्थ रूप नीर द्वारा वर्षाकाल के मेघ के समान समग्र पृथ्वी को प्रसन्न करी थी। उन प्रद्युम्नसूरि के शिष्य गुणसेन सूरि हुए। वे सर्व ग्रंथ के रहस्य में रत्नमय दर्पण रूप, कल्याण रूप वल्ली के वृक्ष समान, करुणामृत के सागर प्रवचन रूप आकाश में सूर्य समान, चारित्रादि रत्नों के रोहणगिरि, पृथ्वी को पवित्र करने वाले और धर्म राजा के सेनापति थे। उन गुणसेनसूरि के शिष्य श्री देवचंद्र सूरि हुए जो कि इस पृथ्वी को पवित्र करने वाले जंगम तीर्थ रूप थे और स्याद्वाद वाणी रूप गंगानदी के लिए हिमालय रूप थे। बहुत तप की प्रभावना स्थान रूप और विश्व को प्रबोध करने में सूर्य रूप वे सूरि श्री शांतिचरित्र और ठाणा प्रकरण की वृत्ति करके परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। उन देवचंद्र सूरि के चरणकमल में भ्रमररूप हेमचंद्र नामके आचार्य हुए कि जिन्होंने उन गुरु के प्रासाद से ज्ञान संपत्ति का महोदय प्राप्त किया।

(गा. 12 से 15)

चेदी, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, कुरु, सिंधु एवं अन्य दुर्गम देशों को अपने भुजवीर्य की शक्ति से हरि के तुल्य जीतनेवाले, परम आर्हत, विनयवान् एवं चौलुक्यकुल के श्री मूलराजा के वंश में हुए श्री कुमार पाल राजा ने एक बार उन श्री हेमचंद्रसूरि को नमन करके इस प्रकार कहा कि ''हे स्वामी! निष्कारण उपकारक बुद्धि वाले यदि आप उनकी आज्ञा को प्राप्त करके नर्कगति

संबंधी आयुष्य के निमित्त रूप मृगया, द्यूत, एवं मदिरा आदि दुर्गुणों को मेरी पृथ्वी में से मैंने निषिद्ध किये हैं, तथा पुत्र रहित मृत्यु प्राप्त का धन भी लेना मैंने छोड़ दिया है और समग्र पृथ्वी अरिहंत प्रभु के चैत्य द्वारा सुशोभित कर दी है, तो अब में सांप्रतकाल में संप्रतिराजा तुल्य हुआ हूँ। पूर्व में मेरे पूर्वज सिद्धराज की भक्तियुक्त याचना से आपने वृत्ति (विवरण) से युक्त सांगव्याकरण (सिद्ध हेमचंद्र) की रचना की है। साथ ही मेरे लिए निर्मल योग शास्त्र रचा है ओर लोगों के लिए द्वाश्रयकाव्य छंदानुशासन, काव्यानुशासन एवं नाम संग्रह (अभिधान चिंतामणि आदि कोष) प्रमुख अन्य स्वयमेव लोगों पर उपकार करने के लिए सज्ञ हुए हैं, तथापि मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्यों को प्रतिबोध करने के लिए आप त्रिपष्टि शलाका पुरुषों के चरित्र के प्रकाशित करो।'' इस प्रकार श्री कुमारपाल राजा के आग्रह से श्री हेमाचार्य ने धर्मोपदेश जिसका प्रधान फल है, ऐसा त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र वाणी के विस्तार में स्थापित किया अर्थात् रचना की।

(गा. 16 से 20)

जब तक सुवर्णगिरि (मेरु) इस जंबूद्वीपरूप कमल में कर्णिका का रूप धारण करे, जब तक समुद्र पृथ्वी के चारों ओर फिरता हुआ रहे और जब तक सर्य चंद्र आकाश मार्ग में जहाँ पथिक होकर भ्रमण करता रहे तब तक यह त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य जैन शासन रूप पृथ्वी पर जयवंत रहे।

(गा. 21)

इति प्रशस्ति समाप्त

श्री त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र समाप्त

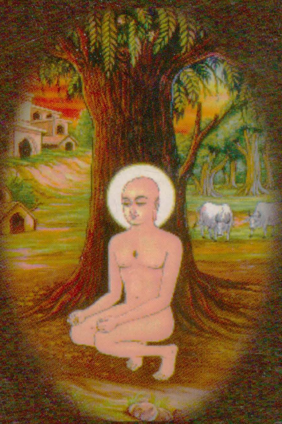

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर

फोन : 0141-2524827, 2520230

E-mail : prabharati@gmail.com

Web-Site : prakritbharati.net

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,

मेवानगर-344025, स्टेशन - बालोतरा

जिला - बाड़मेर (राजस्थान)

E-mail : nakodatirth@yahoo.com

ISBN 978-93-81571-47-7

₹ 250.00